॥ पंचम पुरुषार्थ ॥

पंचम पुरुषार्थ

पंचम पुरुषार्थ

[गुरुहरि प.पू. काकाजी महाराज के
आशीर्दान का संकलन]

अर्पण

श्री अक्षरपुरुषोत्तम की युगल उपासना के प्रवर्तक
ब्रह्मस्वरूप शास्त्रीजी महाराज - ब्रह्मस्वरूप योगीजी महाराज
व
गुणातीत समाज के आद्य सर्जक
ब्रह्मस्वरूप काकाजी महाराज – ब्रह्मस्वरूप पप्पाजी महाराज
एवं
प्रगट ब्रह्मस्वरूप प.पू. हरिप्रसादस्वामिजी
के
परम पुनीत चरणारविंद में...

‘बंधुजोड़ी शताब्दी शिविर’ प्रकाशन

पंचम पुरुषार्थ

© प्रकाशक :

श्री अक्षरपुरुषोत्तम स्वामिनारायण मंदिर, दिल्ली

प्रथम आवृत्ति :

बंधुजोड़ी शताब्दी शिविर, 23 दिसंबर 2017

प्रति : **1000**

मूल्य : **151/-**

प्राप्ति स्थान :

- **श्री अक्षरपुरुषोत्तम स्वामिनारायण मंदिर**
  'ताड़देव', काकाजी लेन, स्वामिनारायण मार्ग, अशोक विहार-III,
  दिल्ली-110 052 (भारत) दूरभाष : 011-4709 1281

- **अक्षरज्योति महिला केन्द्र**
  'अक्षरज्योति', काकाजी लेन, स्वामिनारायण मार्ग, अशोक विहार-III,
  दिल्ली-110 052 (भारत) दूरभाष : 011-2730 5199

- **योगी डिवाईन सोसाईटी**
  'अक्षरधाम' MTNL के पीछे, हीरानंदानी गार्डन्स, पवई, मुंबई-400 076 (भारत)
  दूरभाष : 2578 2151

- **Yogi Divine Society USA**
  2437 N, Yeoman St. Waukegan, IL 60087
  Tel. 847-336-6451

टाईप सेटिंग :

अक्षर प्रिंटर्स

39C, अशोक विहार, फेस-3, दिल्ली-110 052 (भारत)

मुद्रक :

इमेज प्रिंटवेज

249-B, मुनिरका, नई दिल्ली-110 067 (भारत)

सूची

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ सं.
*	उपक्रम	1
*	आभार	5
*	आशीर्दान	
	* प्रगट ब्रह्मस्वरूप प.पू. हरिप्रसादस्वामिजी	9
	* भगवत्स्वरूप प.पू. अक्षरविहारीस्वामिजी	10
	* संत भगवंत प.पू. साहेबजी	11
	* भगवत्स्वरूप प.पू. दिनकरभाई	13
1.	पहचान-अफसोस-आश्वासन	15
2.	सम्यक् स्वरूपदर्शन	19
3.	गुरुहरि साक्षात् मूल अक्षरब्रह्म पू. योगीजी महाराज की पवित्र सेवा में	24
4.	दृष्टिभेद	28
5.	अक्षरधाम की चाबी और सम्पूर्ण सफलता	31
6.	सर्वोत्कृष्ट स्थान और साक्षात्कार की स्थिति	34
7.	तत्त्वनिष्ठा और स्वरूपनिष्ठा	38
8.	आत्मा, अक्षर और पुरुषोत्तम का सुख	40
9.	कृपा और दृष्टि	43
10.	साकाररूप की अनुभूति	46
11.	सर्वोपरि ज्ञानप्रलय–तूर्या और साम्यावस्थारूप माया–	49
12.	सीमा	52
13.	जीवन, यात्रा या संग्राम? –लौकिक और अलौकिक दृष्टि से–	55
14.	एकांतिक का गणित	59
15.	Life and Teachings of Lord Swāminārāyan	63
16.	मुक्त की माया	68
17.	'अनाहत चक्र' की धड़कनें	71
18.	आज्ञा का फ़र्क़ एवं रहस्य	73
19.	वासनारहित होने के उपाय–भक्ति और मुक्ति	77

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ सं.
20.	सत्संग का बॅरोमिटर	80
21.	अंतर का कुरुक्षेत्र एवं सुलगते घर	84
22.	ध्यान की समझ	86
23.	दैवीय और आसुरी बुद्धि	91
24.	साधु का ज्ञान	94
25.	आवरण एवं विक्षेप	96
26.	श्रुति व स्मृति	99
27.	स्वधर्म और सर्वोपरिता	101
28.	स्वधर्म और स्वभाव	104
29.	सिद्धदशा के प्रकार	106
30.	जीव के रोग	108
31.	वृत्तियों का गठन	113
32.	कर्मयोगी के लिए माया	115
33.	ब्रह्मस्वरूप भगतजी महाराज एवं असंख्य मुमुक्षुओं के लिए कल्याण रीति	117
34.	संपत्ति-विपत्ति	123
35.	चमत्कार और दिव्य चेतना का अनुभव	127
36.	समता और सुहृद्भाव	131
37.	वृत्तियों का निरोध एवं संयम	133
38.	सत्संगी का पुरुषार्थ एवं जल में लकीरें	135
39.	क्षेत्र संन्यास	137
40.	आध्यात्मिक जड़ता	139
41.	तत्त्वज्ञान, कल्याण के साधन और सत्पुरुष	142
42.	पुराने-नए, नए-पुराने और बड़े-छोटे, छोटे-बड़े	144
43.	श्रीजी महाराज द्वारा परमहंसों से की गई अति रहस्य की बात	147
44.	सचमुच बुद्धिशाली	150
45.	मन का अमन व संकल्प के स्वरूप	152
46.	प्रगटपन का भाव और बुद्धि की जड़ता	155
47.	अति बड़े पुरुष का अभिप्राय जानने की शर्तें	157

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ सं.
48.	कर्मयोग और स्वरूपज्ञान युक्त कर्मयोग	161
49.	मन-मनुहार और आत्मवंचना	164
50.	ज्ञानगोष्ठी का निष्कर्ष	167
51.	अभिनिवेश (यानि–भ्रमित दृढ़ कॉन्सियसनेस)	169
52.	वचन की कसनी	171
53.	अफ्रीका से मुक्तराज श्री दादुभाई का पत्र	173
54.	विकास बहुत हुआ	175
55.	अनमोल मौका चला जाए, उससे पहले	178
56.	पहचाना हो जिसने स्वामिजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) को!	181
57.	विपरीत माहौल और प्रारब्ध	184
58.	वृत्तियों के वेग और गढपुर का उत्सव	189
59.	कसनी सहना–देना	191
60.	डाह (असूया)	193
61.	युगधर्म, स्वधर्म और ब्राह्मणत्व	196
62.	अर्जुन और सुधन्वा	200
63.	ज्ञान और व्यवहार	203
64.	श्री दादुभाई पटेल ने प्रवचन करते हुए कहा–	205
65.	सद्‌गुरु सत्संगी	206
66.	अमृत सरीखे सत्संग समुंदर में ज्वार-भाटा	209
67.	दिव्यता का स्वानुभव एवं अक्षरमत की सर्वोपरिता	213
68.	दिव्यता का अनुभव एवं अक्षरमत (1)	215
69.	दिव्यता का अनुभव एवं अक्षरमत (2)	217
70.	बड़े पुरुष का अभिप्राय	220
71.	निर्मानीभाव का मान	223
72.	ब्रह्मविद्या का अधिकार	226
73.	मनमानी क्रिया	229
74.	अवगुण लेने का अधिकार	231
75.	प्र.ब्र.स्व. पू. योगीजी महाराज की ज्ञानवार्ता	235

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ सं.
76.	ब्रह्मचारीराज की अपूर्णताएँ एवं संत समागम	240
77.	प्रगट स्वरूप की साधन प्रणाली का रहस्य	245
78.	भगवदी और एकांतिक के लक्षण	247
79.	गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज एवं उपासना की श्रेष्ठता	250
80.	'शक्तिपात'	251
81.	व्यवहार के, मंदिर के या सत्संग के 'क्रियायोगों का आरंभ' स्वभाव प्रेरित या सत्य (स्वरूप) प्रेरित?	255
82.	अनुग्रह-1	259
83.	अनुग्रह-2	260
84.	अनुग्रह-3	263
85.	अनुग्रह-4	264
86.	अनुग्रह-5	265
87.	अनुग्रह-6	266
88.	अनुग्रह-7	268
89.	अनुग्रह-8	269
90.	अनुग्रह-9	271
91.	अनुग्रह-10	272
92.	अनुग्रह-11	273
93.	अनुग्रह-12	274
94.	अनुग्रह-13	276
95.	अनुग्रह-14	277
96.	अनुग्रह-15	278
97.	अनुग्रह-16	279
98.	अनुग्रह-17	280
99.	अनुग्रह-18	281
100.	अनुग्रह-19	283
*	अनुक्रम–वर्णमालानुसार	287

उपक्रम

दिव्य बंधुजोड़ी शताब्दी के महामंगलकारी अवसर पर गुरुहरि काकाश्री के कई पुराने लेखों का संकलन प्रस्तुत करते हैं, तब इस पुस्तक के नाम 'पंचम पुरुषार्थ' का मर्म प्रकट करने से पूर्व मेरे मन में एक ही प्रश्न उठता रहा है–

'मैंने ऐसा कौन-सा पुण्य अर्जित किया होगा? भगवान स्वामिनारायण और उनकी गुणातीत परंपरा की दिव्य 'विभूतियों' के साथ मेरा ऐसा क्या संबंध होगा कि उनकी द्विशताब्दी-शताब्दी-अमृतपर्व में शामिल होने का सौभाग्य, मुझे मेरे इस जीवनकाल दौरान मिलता रहा है।'

कोटि-कोटि वंदन है प.पू. योगीबापा, प.पू. काकाश्री, प.पू. पप्पाजी और प.पू. स्वामिजी जैसी दिव्य विभूतियों को जिन्होंने मुझे-हम सबको अपने वात्सल्य से सत्संग की परिभाषा में 'आत्मबुद्धि और प्रीति' से जगत के-संसार के बंधनों से मुक्त रख कर, दिव्यजीवन के मार्ग पर ले जाकर-संभाल कर एक अनोखे जगत के साथ जोड़ दिया, जहाँ प्रवेश करते ही ऐसा लगे कि ***'यह कोई अलग ही दुनिया है...'***

मैं 1953 में गुरुहरि काकाश्री के जोग में आया... उनका व्यक्तित्व, उनकी खूबसूरती, उनका रस्म-रिवाज, सत्संगियों के प्रति उनका अपनापन, उनकी बातें, मुझे खूब भाती और उस आकर्षण से मंत्रमुग्ध होकर मैं उनकी ओर खींचा चला गया और जुड़ गया।

सुबह पौने छः-छः बजे हाथ में शॅविंग का रेज़र लिया नहीं कि दाढ़ी करते-करते उनकी कथावार्ता शुरू हो जाती और रात को ग्यारह बजे सोने जाने तक चलती! हाँ, दोपहर को दो से साढ़े तीन-चार बजे तक जब वे विश्राम में जाते, उतनी देर बंद रहती। नवीन लगती उनकी बातों में शास्त्रों के रूढ़िग्रस्त ज्ञान का कोई स्थान नहीं था। हालाँकि तब यह समझ नहीं थी कि शास्त्रों से परे की उनकी ये बातें 'गुणातीतज्ञान की ही बातें' हैं। एक ब्रह्मसूत्र है–'आनंदोब्रह्म', अर्थात् 'ब्रह्म' आनंद का स्वरूप है। सो, साक्षात् 'प्रगट ब्रह्म' के संदर्भ से ही होती उनकी बातें सुनना सभी को खूब जँचता–उसमें खूब आनंद आता।

समय गुज़रते कई मुक्त उनकी बातों को अपनी डायरी-नोट बुक में लिखते। तदोपरांत प.पू. काकाश्री कई रात-रातभर जाग कर, डिक्टेट करके सेवकों को लिखवाते। स्वयं भी लिखते और प्रकाशनों व हमारे केन्द्रों में भी भेजते। वह ज्ञान इतना गहन था कि **संतभगवंत प.पू. साहेबजी** तब बोले थे – *फिलहाल इन लेखों को फाइल करके रख रखो, बीस साल के बाद पढ़ेंगे तब समझ में आएंगे।*

सच, आज ख्याल पड़ता है कि जिनकी निश्रा में मैं पला-बढ़ा, जिनके साथ रहा और पढ़ा-सीखा, उन सभी भगवत्स्वरूप विभूतियों, संतों, भगवदियों, मुक्तों की प्रेरणामूर्ति तो प.पू. काकाश्री ही थे।

आज वो पुराने सभी लेख तो प्राप्त नहीं हैं, फिर भी जो सँभले हैं, उनमें से कइयों का संकलन यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। इन लेखों में मुख्यतः दो मुद्दे सतत आए हैं।

गुणातीत विभूति द्वारा मानवस्वरूप में प्रभु का पृथ्वी पर अखंड प्रकटीकरण

और

सद्. निष्कुलानंदस्वामिजी के भजन की पंक्ति के मुताबिक़ – *'जब प्रभु को पाएं, तो सभी साधनों की पूर्णाहुति है'* – इसके बाद प्रगट प्रभु को भजने की करामत।

सभी जानते हैं कि मानव जीवन के चार पुरुषार्थ हैं –

1. **धर्म** – शास्त्रोक्त विधिनिषेध से सन्मार्ग का आचार
2. **अर्थ** – सांसारिक-भौतिक संपत्ति का अर्जन
3. **काम** – कामना या महत्त्वाकांक्षा को पूर्ण करने का यत्न
4. **मोक्ष** – मुक्ति के लिए तप, व्रत, योग, यज्ञ, दान, ध्यानादि द्वारा की गई साधना!

प्रकृतिपुरुष तक के सभी मनुष्य सामान्य समझ से इन हेतु उद्यम करते रहते हैं।

परंतु, प्रकृतिपुरुष से परे के भगवत्स्वरूप समर्थ संत मिलने से 'मोक्ष' या 'कल्याण' तो सहज ही – बिना किसी साधन के ही हो गया है। तो फिर, किसलिए कोई साधन करें?

मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामिजी ने कहा – *मोहा मोह मिले निज प्रीतम, कौन पतियार (विश्वास) करे पतियां का (काग़ज़)।* अर्थात् – विधाता मिल गए हैं, तो फिर विधात्री का क्या काम?

गुरुवर्य योगीबापा भी कहते – *इस ब्रह्मांड में अपनी तुलना में अन्य को भाग्यशाली मानना ही भूल है...*

गुरुहरि काकाश्री के मुख से भी पुराने जोगियों ने सुना होगा– *गुणातीतज्ञान के दाता यहाँ सोफे पर विराजमान हैं।*

सो, जब हमें प्रगट संत मिले हैं– प्रगट मूर्ति मिल गई है, फिर अब क्या करना शेष रहा ? इस संदर्भ में–

गुरुहरि काकाश्री ने **26 जनवरी 1986** को 'गुणातीत समाज' को दिए अपने अंतिम संदेश में, प्रवाही मार्ग के उपरोक्त रुढ़िगत चार पुरुषार्थों के उपरांत एक नए ही पुरुषार्थ का ज़िकर किया था और वह था–**'प्रत्यक्ष की पराभक्ति का पंचम पुरुषार्थ!'**

सार है कि भगवान स्वामिनारायण के भगवत्स्वरूप संत मिलने के बाद उनके कहे अनुसार यत्न करना सेवक के लिए प्रगट प्रभु की आंतरिक प्रसन्नता प्राप्त करने का पुरुषार्थ है-साधना है। गुरुहरि काकाजी ने वचनामृत और स्वामी की बातों के आधार पर समय-समय पर निम्न स्पष्टीकरण भी किया है –

जगत के जीव काल, कर्म और माया के अधीन हैं। **काल** आएगा, तो उसे खा ही जाएगा, किए **कर्म** उसे भुगतने ही पड़ेंगे और **माया** से खेलेगा, तो फंसेगा ही ! इसमें प्रभु हस्तक्षेप नहीं करते। जबकि, भगवान स्वामिनारायण के सभी **'आश्रितों'** पर काल, कर्म और माया का क़ायज़ा नहीं चलता। इन सबसे प्रभु रक्षा करते हैं। प्रभु की इच्छा ही उसका प्रारब्ध बनता है। यह है आश्रितों पर उनकी **'दया'** !

और... वचनामृत गढडा प्रथम 27 के अनुसार, प्रगट का ऐसा **'निष्ठावान'** भक्त प्रत्यक्षभाव से उनके साथ **अनन्य संबंध** दृढ़ करके ऐसे सच्चे संत की आज्ञा-रुचि-मरज़ी या अनुवृत्ति के मुताबिक़ वर्त कर, उन्हें राज़ी कर ले, तो 'प्रत्यक्ष की पराभक्ति के पंचम पुरुषार्थ' के फलस्वरूप संत **'कृपा'** करके उसे प्रकृति-पुरुष से परे करके, अपने जैसा ही प्रभुधारक संत बना देते हैं।

यदि कोई सेवक यह अभीप्सा रखता भी हो, पर संत की रुचि अनुसार **वर्त पाने में असमर्थ हो,** तो संत **'अनुग्रह'** करके उसे बल देकर आगे ले जाते हैं और अपने कल्याणकारी गुण उसे 'बख़्शिश' में देते हैं।

इससे भी अधिक, आख़िर-आख़िर में गुरुहरि काकाश्री कहते –

संत का कोई पसंदीदा पात्र हो, पर अर्जुन की भाँति वर्तने में वो दिलचस्पी न रखता हो, तो 'स्वामी की बातें' प्रकरण-2 की 121 के मुताबिक़, संत स्वयं उसका प्रायश्चित्

करके, उस पर अकारण फिदा होकर 'विशिष्ट अनुग्रह' कर देते हैं। फलस्वरूप सेवक में यकायक ***'गुणातीत अस्मिता'*** *का प्रकटीकरण हुआ हरेक को महसूस होता है।*

इसे वे ***'लीलो अनुग्रह'*** यानि – **'हरा अनुग्रह'** कहते थे!

और... अपनी घड़ी हाथ में लेकर, सभी को दिखाते हुए कहते भी–

यह घड़ी मेरी है, मैं किसी को भी दे दूँ, तो मुझसे कोई पूछ पाएगा क्या ? इस प्रकार तुम सब पर मुझे अब अकारण ***'हरा अनुग्रह'*** *करना है।*

यूँ, कैसा भी सेवक **'पंचम पुरुषार्थ'** के ऐसे सरल मार्ग से अवगत होकर प्रगट की उपासना और समर्थ संत के साथ के अनन्य संबंध से कल्याणकारी गुण प्राप्त कर सके, इस हेतु से गुरुहरि काकाश्री जो लेख, सद्विचार व पत्र लिखते-लिखवाते, जो तब समझे भी नहीं जाते थे, उनका संकलन इस पुस्तक में किया है।

हमारा अधिकांश समाज अब इतना माहात्म्य युक्त तो हो गया है कि इन बातों को समझ सकेगा। तो, गुरुहरि काकाजी द्वारा सुझाए मार्ग पर, उनके ही 'प्रगट विभूति स्वरूपों' की निश्रा में अब अग्रसर रह कर, हम सभी उनके बल से उनको अंतर से राज़ी करके जीवन को धन्य करें।

यही इस बंधुजोड़ी शताब्दी पर
भगवान और प्रगट गुणातीत स्वरूप के श्रीचरणों में
सभी की ओर से प्रार्थनापूर्वक –
आपके ही **गुरुजी** (साधु मुकुंदजीवनदास) के जय स्वामिनारायण!

आभार

❊ सर्वप्रथम तो **गुरुहरि काकाश्री - पप्पाजी** को अनंत वंदन कि उन्होंने एक नूतन 'गुणातीत समाज' का सर्जन करके हमें उसमें शामिल किया... हमारा जीवन 'प्रगट प्रभु' के संबंध से किस प्रकार सदैव सुखी रहे, इस हेतु उन्होंने अपने दर्शन, स्पर्श, सेवा और समागम के प्रवाह में हमें ऐसा सराबोर कर दिया। आज महसूस होता है कि यदि इन दो विभूतियों और उनके इस दिव्य समाज ने हमारा हाथ न थामा होता, तो जगत की भेड़चाल अनुसार हम भी **'प्राकृत जीवन'** जी रहे होते। इस पुस्तक में निहित गुरुहरि काकाजी के लेख व सद्विचार हमें भगवान, संत और सत्संगी के संग **'दिव्य जीवन'** जीने की-स्पीडी प्रगति करने की सही कला सिखाते हैं। उनकी इस अनहद् कृपा के लिए अंतर से धन्यवाद !

❊ दूसरी बात–इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद करने के लिए, गुजराती एवं हिन्दी भाषा के लेखों के शब्दों एवं व्याकरण को सही रूप देने के लिए, **80 वर्षीय** स्वयं **प.पू. गुरुजी** ने पिछले वर्ष से दिन-रात प्रूफ रीडिंग व बदलाव करके, सेवकों में जो जोश भरा, उसकी कोई सीमा ही नहीं है।

बस गद्गद् कंठ से पुकार उठती है–'आवा ने आवा रे, रहेजो मारी आंखलडीए रे...'
'गुरुजी तुमको लग जाए, हम सबकी उम्मरिया...'

❊ प.पू. गुरुजी के देर रात्रि तक जगने पर, हमारे पुराने जोगी **पू. जनार्दनभाई, पू. प्रकाशचंदजी** व **पू. वच्छराजजी** जैसों ने उनके साथ जग कर भक्ति अदा की। करीब पैंतीस वर्ष से **प.पू. आनंदी दीदी** गुणातीत समाज के लिए, गुजराती से हिन्दी अनुवाद करने की जो अद्भुत सेवा कर रही हैं, उसके लिए तो कोई शब्द ही नहीं हैं। उनके मार्गदर्शन में **पू. राकेशभाई शाह, पू. लक्ष्मी शुक्लाजी, पू. सरस्वती आंटी** (प.पू. गुरुजी के शब्दों में – टीचर आंटी), **पू. बंसरी दीदी** ने गुरुहरि काकाजी के लेखों का हिन्दी अनुवाद एवं टाईप सॅटिंग की। **पू. कौशिकभाई जानी**

एवं **पू. शोभना भाभी** ने गुजराती एवं हिन्दी लेखों की फाईनल प्रूफ रीडिंग करके प.पू. गुरुजी को निश्चिंतता प्रदान की।

❊ **पू. अमृतभाई पटेल साहेब** की निगरानी में **पू. आशिष शाह** ने मुखपृष्ठ डिज़ाईन करके प.पू. गुरुजी की रुचि को रूप दिया।

इस सेवा के लिए इन सभी का खूब-खूब धन्यवाद !

अंत में, गुरुहरि काकाजी-पप्पाजी बंधुजोड़ी शताब्दी निमित्त हमें भक्ति अदा करने का जो अनुपम मौका मिला, सेवा में भागीदार बने – वह हमारा परम सौभाग्य है।

गुरुहरि काकाजी-पप्पाजी बंधुजोड़ी शताब्दी समिति का

हार्दिक जय स्वामिनारायण !

।। जय स्वामिनारायण ।।

ब्रह्मस्वरूप शास्त्रीजी महाराज
ब्रह्मस्वरूप योगीजी महाराज

भगवान श्री स्वामिनारायण
मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामिजी

ब्रह्मस्वरूप काकाजी महाराज
ब्रह्मस्वरूप पप्पाजी महाराज

भगवत्स्वरूप अक्षरविहारीस्वामिजी

भगवत्स्वरूप दिनकरभाई

प्रगट ब्रह्मस्वरूप प.पू. हरिप्रसादस्वामिजी

संतभगवंत प.पू. साहेबजी

श्री अक्षरपुरुषोत्तम स्वामिनारायण मंदिर, दिल्ली

अनादि महामुक्त जागास्वामी

अनादि महामुक्त भगतजी महाराज

अनादि महामुक्त अदाश्री

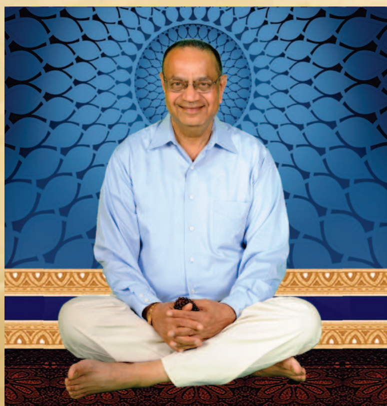

प.पू. महेन्द्र बापु

प.पू. भरतभाई

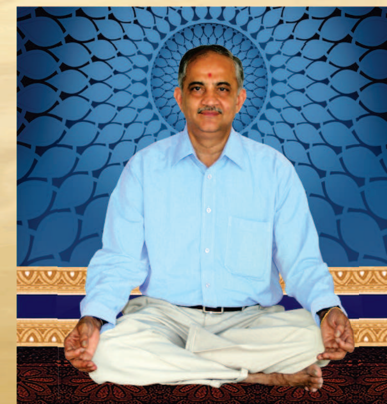

प.पू. वशीभाई

आशीर्दान

दि. 16.12.2017

हरिधाम

हे गुरुजी !

पंचम पुरुषार्थ पुस्तक द्वारा

आपसे संतों-हरिभक्तों की अद्‌भुत सेवा होगी।

पढ़ने वाले सभी अंतर से राज़ी हो जाएँगे ही।

हज़ारों हरिभक्तों के हृदय में

सच्ची महिमा स्थिर हो जाएगी।

प्रभुस्वरूप संत को किस प्रकार राज़ी करना,

वह स्पष्ट ख्याल आ जाएगा ही...

सभी हरिभक्तों के हृदय पुलकित हो जाएँगे...

सच्ची गुरुभक्ति अदा करने हेतु

सच्ची समझ प्राप्त हो जाएगी ही।

गुरुहरि योगीजी महाराज अंतर से राज़ी-राज़ी हो जाएँगे ही।

यही, सेवक साधु हरिप्रसाद के

जयश्री स्वामिनारायण!

आशीर्वाद

8.12.2017

सांकरदा

स्वामिश्रीजी

मुक्ताक्षर पुरुषोत्तम की जय

गुणातीत समाज की जय जय जय

बंधुजोड़ी शताब्दी उत्सव की जय जय जय

प.पू. काकाजी स्वरूप हम सभी के लाड़ले दिव्य प.पू. गुरुजी के 80वाँ जन्मदिन मनाने निमित्त, 'पंचम पुरुषार्थ' के रूप में परावाणी का ग्रंथ प्रकाशित करना श्रेष्ठ अर्घ्य अर्पण कहा जाए। सो, खूब आनंद हुआ।

विशेष तो 'पंचम पुरुषार्थ' ग्रंथ अद्‌भुत एवं कल्याणकारी है। इसका प्रति दिन पठन करने से मुमुक्षु और साधक वर्ग को खूब ही प्रेरणा व आध्यात्मिक सूझ, समझ व मार्गदर्शन मिल जाएगा।

आरंभ में ही प.पू. दिव्य काकाजी ने 'पहचान-अफसोस-आश्वासन' लेख द्वारा अंतर्दृष्टि करवा कर सूझ दे दी है कि प.पू. योगीजी महाराज ने जो प्राप्ति करवाने के लिए हमें ग्रहण किया है, उनके उस संकल्प एवं पू. काकाजी के परिश्रम को गफ़लत में रह कर अब हम व्यर्थ न जाने दें। अतः, सभी इस ग्रंथ का पारायण करके निर्दोषबुद्धि दृढ़ करके, संप, सुहृद्‌भाव तथा एकता से जीवन जीकर 'बंधुजोड़ी महोत्सव' को शाश्वत् बनाएँ–यही साक्षात् स्वरूपों को अंतर से प्रार्थना सह जय स्वामिनारायण!

लि. सदा सेवक साधु अक्षरविहारी के खूब ही

हेतपूर्वक जय स्वामिनारायण!

आशीर्दान

13.12.2017

ब्रह्मज्योति, मोगरी

स्वामिश्रीजी

प्रकाशन समिति के सभी प्यारे अक्षरमुक्त...
श्री योगी डिवाईन सोसाईटी–दिल्ली
जय श्री स्वामिनारायण!

3 फरवरी–1952 को गुरुदेव श्री योगीजी महाराज ने प.पू. दादुकाका को अक्षरमंदिर, गोंडल में समाधि द्वारा अक्षरधाम का दर्शन करवाया... तत्पश्चात् उस अनुभूति की बातें प.पू. दादुकाका अपने अस्खलित वाणीप्रवाह में निरंतर करते ही रहते... उसमें मुख्य मुद्दआ यही बताते कि ये भले-भोले दिखते साधु हमारी बातें सुनते हैं... हमारी सेवा करते हैं... हमें मान देकर बुलाते हैं... भोजन कराते हैं... हमें पूछते हैं... हमें प्रेम करते हैं... इसलिए वे हमें जँचते हैं, लेकिन भले-भोले दिखाई देते ये योगीबापा तो स्वयं अक्षरपुरुषोत्तम का साकार प्रगट स्वरूप हैं, ऐसा मान कर, हमें उनकी महिमा समझ कर सेवा-भक्ति करनी है... उनके प्रति सम्यक् निर्दोषभाव रख कर, उनके संबंध वालों को भी ऐसा मान कर, दासत्वभाव से सभी की सेवा करने का 'पंचम पुरुषार्थ' हमें करना है... और तभी स्वामिनारायण भगवान के अंतर की प्रसन्नता प्राप्त करके, कल्याण के साथ जीतेजी धाम का सुख, शांति, आनंद प्राप्त कर सकेंगे... धन्य हो जाएंगे।

श्रीजी महाराज, श्री गुणातीतानंदस्वामिजी! श्री भगतजी महाराज, श्री जागास्वामी, श्री कृष्णजी अदाश्री, श्री शास्त्रीजी महाराज, श्री योगीजी महाराज की शुद्ध उपासना के रहस्य की ये बातें प.पू. दादुकाका १९५२ से सतत करते रहे हैं और अपने लेखों, पत्रों द्वारा हमारे सत्संग समाज को परोसते रहे हैं। तब तो ये बातें उनके प्रति लगाव के कारण सुननी-पढ़नी अच्छी लगती, लेकिन समझ नहीं आती थीं। हम आभार मानें इन प्रगट दिव्य स्वरूपों का कि उन्होंने हमसे लगाव करके ये बातें समझाईं और उसके अनुसार महिमा

से सेवा करवा कर, हमारे गुणातीत समाज के मुक्तों को ऐसा तैयार किया कि अब ये बातें हमारी समझ में आने लगी हैं। अब वो अमल में भी आएंगी, यह विश्वास है। सच कहें तो बिलकुल उपयुक्त समय पर यह ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है। इसलिए प्रकाशन विभाग के आप सभी मुक्तों को अभिनंदन! वंदन! के साथ खूब ही आभार।

और... प.पू. गुरुजी का आभार तो हम किस प्रकार व्यक्त करें, क्योंकि उनकी हम सब पर करूणा-कृपा हैं कि प.पू. दादुकाका द्वारा 1951 से 1966 तक लिखे, प्रकाशित हुए लेखों, पत्रों में से मुख्य लेखों-पत्रों का यह ग्रंथ, जिसका नाम भी उन्होंने 'पंचम पुरुषार्थ' दिया है, उस ग्रंथ को प.पू. हरिप्रसादस्वामिजी के आशीर्वाद के साथ प्रकाशित करने की प्रेरणा दी है। आप सब भी प.पू. दादुकाका, प.पू. पप्पाजी बंधुजोड़ी शताब्दी पर्व के दौरान मनाए जा रहे, प.पू. गुरुजी के 80वें प्रागट्य के मंगल अवसर पर इसे प्रकाशित करके गुरुभक्ति अदा कर रहे हो, इसलिए आप सभी को खूब खूब ही धन्यवाद!

बस, अब तो हम सभी इस ग्रंथ लेकर पढ़ें और उसके अनुसार प्रभु के बल से जीवन जीने 'पंचम पुरुषार्थ' करके प्रभु और प्रभु के प्रगट दिव्य स्वरूपों के अंतर की प्रसन्नता के पात्र बन कर जीवन की धन्यता का सच्चा आनंद प्राप्त करें–ऐसा जीवन जीते हो जाएं, ऐसी इस प्रसंग पर प्रभुचरणों में-गुरुचरणों में हम सभी की प्रार्थना है।

पुनः आभार के साथ
गुणातीत समाज के सभी मुक्तों की ओर से
आपके ही अश्विनभाई, शांतिभाई के साथ जशभाई के भाव से जय श्री स्वामिनारायण!

आशीर्दान

दिसंबर 9, 2017
वॉकीगन, शीकागो

स्वामिश्रीजी

प्रगट ब्रह्मस्वरूप काकाजी महाराज एवं प्रगट ब्रह्मस्वरूप पप्पाजी महाराज की शताब्दी मनाने के प्रसंग पर, 'पंचम पुरुषार्थ' ग्रंथ में इन गुणातीत स्वरूपों ने हमें जो आध्यात्मिक आहार परोसा है, उसकी महिमा का वर्णन करना असंभव है। प्रगट ब्रह्मस्वरूप शास्त्रीजी महाराज तथा प्रगट ब्रह्मस्वरूप योगीजी महाराज में ही महाराज (स्वामिनारायण भगवान) व स्वामी अखंड विचर रहे हैं, ऐसी समझ दृढ़ हो गई थी और वर्तमान समय में भी ऐसे ही गुणातीत स्वरूपों की हमें पहचान हो गई है।

प्रगट ब्रह्मस्वरूप काकाजी महाराज द्वारा बरसाई अमृतवाणी को, प्रगट ब्रह्मस्वरूप मुकुंदजीवनस्वामिजी (गुरुजी) और उनके भक्तगण ने खूब ही परिश्रम करके, इस ग्रंथ में सुंदर तरीके से प्रस्तुत करके, हम सभी को सदैव के लिए सुखी कर दिया है।

इस ग्रंथ में तकरीबन 100 लेख हैं। प्रत्येक लेख अति उत्तम है। रोज़ इसकी पारायण करें तो गुणातीत स्वरूपों का संबंध अखंड रहे। जुलाई 1963 में लिखित 'मनमानी क्रिया' लेख का तो प्रतिदिन पाठ करना चाहिए, ताकि गुरुमुखी हो जाएं।

प्रगट ब्रह्मस्वरूप गुरुजी ने प्रगट ब्रह्मस्वरूप काकाजी का बहुत अच्छी तरह सेवन किया है और आज उनके 80वें प्रागट्य पर्व पर हम प्रार्थना करते हैं कि वे हमारे साथ सदैव रहकर, हम सबको इस ग्रंथ और अपने प्रसंगों का लाभ देते ही रहें...

इस पवित्र ग्रंथ को हम अपने घर में बसाए और अपने साथीदारों व हितेच्छुओं को भी भेंट रूप देकर, हमारी भक्ति अदा करें ऐसी अंतर से प्रार्थना...

भरतभाई, वशीभाई, महेन्द्रबापु, रमेशभाई, राजुभाई भट्ट, राजुभाई ठक्कर, हरखचंदभाई, अश्विनभाई, अरूणभाई, विराटभाई (पिन्टुभाई), विजयभाई, किशोरभाई, भाविकभाई एवं सभी साधक भाइयों, पू. कुसुम बहन, अरूणा बहन, एन्जी बहन, किरण बहन, योगिनी बहन, माधुरी बहन, कुसुम ताई, लीलु बहन, सिद्धि बहन, आरती बहन, मीरा बहन, शारदा बहन, कृपा बहन और सभी साधक बहनों, पू. घनश्यामभाई, दासकाका, कीर्तिभाई, शंकरभाई, चंद्रकांतभाई, अशोकभाई, पंकजभाई, प्रकाशभाई, सपनभाई, केतनभाई, वंदनभाई, रतिमासा व सभी गृहस्थों की ओर से सेवक दिनकर के जय श्री स्वामिनारायण!

अद्वितीय सहजानंदस्वामी, परम एकांतिक संत द्वारा भरतखंड में अखंड प्रगट ही हैं।

1

पहचान-अफसोस-आश्वासन

अनादि काल से ही मानव लगातार अंतर्नाद करता आया है कि प्रभु की पहचान कब हो? सनातन व सतत चले आ रहे जीवन और मृत्यु के द्वंद्व ही हमारे पुरुषार्थ एवं प्रारब्ध का कारण बनते हैं। अति महाभाग्य प्रगटे, तब सत्संग मिलता है। पुरुषार्थ करने से सत्य मिलता है। **निष्कपट भाव से, बिना अंतराय के निर्मानी होकर दासभाव से, मन, प्राण और देह, वड़वानल अग्नि समान गुरु को सौंपा जाए, तब इसी जीवन में ही 'प्रगट प्रभु' की पहचान होती है और सत्संग अखंड-कायम रखते हुए 'प्रत्यक्ष भगवान' के सुख का अनुभव होता है।**

सच्चेभाव से किया सत्संग और सुहृद्भाव इस लोक और परलोक में अपरिमित बल दे देता है। मूलअक्षर के संग से 'ब्रह्मसंज्ञा' को पाया जीव, कारण शरीर के भावों से ऊपर उठ कर, महाप्रभु के साधर्म्य को जीतेजी ही पाए, इसके लिए तो उसे याहोम हो जाना पड़ता है। उनके संग से मायिक से अमायिक बनना पड़ता है। निर्वासनिक होकर ऐसे गुरु का सेवन किया हो, तो ही इस बल, महिमा और स्थिति को झेलना संभव है।

इस लोक में ऐसे गुरु का सान्निध्य मिल जाए, वही अक्षरधाम - वहीं धाम का पति और वहीं मुक्तों का मंडल है। मुक्ति के भेद के मुताबिक़ फिर कुछ ढूँढना शेष नहीं रहता। पर पहचान नहीं पाते –वही अज्ञान है! बिना परिश्रम के कहां से मिलेंगे? मिल भी गए तो पचा नहीं पाएंगे –दस्त हो जाएंगे। सो, पुरुषार्थ तो चाहिए ही–श्रेयार्थी के रूप में सच्चे मन से!

हमें 'प्रगट प्रभु' मिले थे, पर जैसे थे वैसे पहचाने नहीं गए। जब तक –

* हम में ऐसे बल की लगन नहीं लगती,
* हम अपने आप में निस्सत्त्व महसूस करते हैं – हमें अधूरापन लगता है,
* स्वरूपनिष्ठा में ही ख़्वाहमख़्वाह तर्क-वितर्क रहता है,
* शंकाएं रहती हैं,
* संकल्प विकल्प होते हैं,

तब तक पू. शास्त्री महाराज की सच्ची पहचान हुई नहीं कही जा सकती। प्रभु के

पास तो सभी निर्गुण! लेकिन उनके बोल - उनकी अमृतवाणी हमसे झेली नहीं जा सकी। धधकते लोहे पर वह अमृत जल छम्म होकर अदृश्य हो गया। 'कालु' मछली में मोती बनते हैं, वैसी जीव में असर नहीं हुई और इतने में तो भगवान चल बसे! हमारे ही पाप के कारण–क्योंकि हम उनसे बिलकुल धोखाधड़ी करते थे। बड़े पुरुष हैं, नैष्ठिक ब्रह्मचारी है, मिनिस्टर्स मानते हैं, कुछ सिद्धि होगी – यूं बिलकुल स्वार्थवृत्ति से हम जुड़े और जितना हमारा स्वार्थ सरा, उतनी महिमा हमने समझी। गिने-चुने सत्संगियों को छोड़कर–हमने उनकी स्वरूपनिष्ठा हमारी इन्द्रियों तक ही जानी, लेकिन वह अंतःकरण में नहीं आई; तो जीव में आने की तो बात ही कहां ? हर एक वस्तु को नापने की इंचीपट्टी होती है। हमारे आचरण और वर्तन एवं सत्संग में हमारे दिन - प्रतिदिन के व्यवहार से सभी को पता चलता है ही। अंतर में समझने के बावजूद , प्रभु की कृपा दृष्टि होते हुए भी, अभागे यादवों की तरह हमसे प्रभु जैसे थे, वैसे पहचाने नहीं गए।

थोड़ी समझ आई थी। सत्संग में आख़िर - आख़िर में इनका 'पुरुषोत्तमरूप' जाना। मेरे अनुभव में वह आया। 'साधुरूप में श्रीजी के अखंड धारक ही हैं'–यह बात मेरे यूरोप जाने से पहले योगीजी ने बता कर सचोट समझाई। वचनामृत अत्यं. प्रकरण 1 के मुताबिक़ समझ की जैसी जिसकी ग्रंथि, वैसे ही प्रभु बात करते हैं। यूं यह बात मर्म में ही समझाते थे। पर मुझसे तो बार - बार चमत्कार से, दर्शनों से और सामने बिठाकर आख़िरी कक्षा की बातें कही हैं। वे सच्ची ही हैं और वचनामृत एवं लक्षणों और अनुभव से सच्चाई सिद्ध हो सकती है। सभी प्रसंग यहां कैसे लिखें ? लेकिन इतना स्पष्ट है कि वे स्वयं श्रीजी के अखंड धारक ही थे – यह मेरे अनुभव की बात है। अनेक के अंतर पकड़ कर, समर्थ को भी काबू में रखें और मूल कारण - भावों को बदलकर, दृष्टि से ही अवयव बदले और स्वभाव टालें, ऐसा 'पुरुषोत्तम' के सिवा ऐसे कलयुग में दूसरे किसी का कार्य हो ही नहीं सकता। ये सिर्फ बातें नहीं हैं। प्रत्यक्ष उदाहरण के लिए – कैसे लुटेरे भी श्रीजी के सत्संग में आने से सत्संगी बन गए, यह हम सब जानते हैं; वैसे (आज) हमारे सत्संग में भी अनेक उदाहरण हैं। नाम जिसे चाहिए उसे पर्सनली दूंगा।

दूसरा लक्षण – काम, क्रोध, मद, मत्सर जैसे अवगुणों को ऋषि-मुनि तपस्या करने पर भी जीत नहीं पाए ; इन सत्संगियों के ऐसे दोष इन्होंने टाले हैं और मुसीबत में उनकी रक्षा करी है – यह मैंने स्वयं अनुभव किया है। इससे अतिरिक्त, उनके प्रताप से ही पू. नंदाजी, चंपकलालभाई, मगनभाई, विनायकराय, आशाभाई, काशी बहन,

राजकोट वाले राणीबा, जेठीबा, सोनाबा वग़ैरह खूब बल पाकर थोड़े से समय में ही महासमर्थ हो गए–हम देखते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। एक पल में ही वचनामृत लोया के 3 में बताए मुताबिक़, नक़द एक लाख रुपए उगाहने की ताक़त प्रभु के सिवा और कहीं नहीं हो सकती; लेकिन उन्हें तो 'मूल अक्षर गुणातीतानंदस्वामी और श्रीजी'– यूं मिलकर 'स्वामी-नारायण'–ऐसे भक्त और भगवान का अनादि सिद्धांत समझाना था। अन्य भक्तों की मूर्ति हो और अनादि की नहीं?

इसी हेतु उन्होंने मंदिरों बनाकर आदर्श प्रतीक खड़े किए और हर एक को सच्ची उपासना और गुणातीत आज्ञा समझाई। लेकिन हमने उन्हें पूरा पहचाना नहीं, और पहचाना, तो वर्ता नहीं गया, और वर्ते, तो टिक कर पचा नहीं पाए। वर्ना तो जाएं ही कैसे? यही अफसोस है।

आँखें बंद रख कर हमने मान लिया है कि प्रभु सब करेंगे। लेकिन, पुरुषार्थ हमें ही करना है। एक-दूसरे के अवगुणों को लेकर खोदने के सिवा हम और क्या करते हैं? सिर्फ जीव के कल्याण की ग़रज़ से सत्संग में कितने आए थे? कितनों से निर्मानीभाव से सेवा होती है? प्रभु को कितनों ने विवश किया? और अब भी पू. योगीजी को कितना लाचार करते हैं? आशिष सभी को चाहिए, परन्तु उनकी आज्ञा तो पाली नहीं जाती। फिर, उन्हें रक्षा करनी भी हो, पर कैसे करें? काल, कर्म, माया से परे कैसे करें? हमारी यह बनावट कब छूटेगी?

आश्वासन एक ही है –'पू. योगीजी हैं।' **गुरुजी (शास्त्रीजी महाराज) तो आए नहीं, गए भी नहीं हैं। इन्होंने तो योगीजी की पहचान कराई।** गढ़पुर में मूर्तियाँ बिठा गए और भक्त सहित भगवान के भजन का सनातन अपूर्व आदर्श - सौंप गए! करना हमें है। योगीजी ही भगवान की पहचान देंगे।

हम कब मन सौपेंगे?

देहाभिमान, ममत्व और दूसरों के दोष देखना छोड़कर, सच्चे सत्संग में योगीजी के साथ कब जुड़ेंगे?

हमारे घर-मंदिर और अंतःकरण में इस प्रगट अक्षरधाम की आवाज़ ही कब गूंजेगी?

यहां प्रकाश है, फिर भी आखों से पट्टी क्यों नहीं छोड़ते?

बहुत ही चिल्ला-चिल्ला कर नगाड़े बजाया करके दूसरों को सत्संगी बनाने के बजाय, हम अपना ही घर कब सुधारेंगे? प्रभु को तो एक सच्चा सत्संगी हो, तब भी काफ़ी

है। सो, भजन करते-करते, अपने चारित्रिक बल, अपने जीवन की भावनाओं और सच्चे गुणातीत ज्ञान से कब प्रतीकरूप बनेंगे?

पू. योगीजी हैं। जितना हो पाए उतना करें और दूसरों के गुण-दोष को ढूंढने के झंझट में पड़ने के बजाय, हमारा ज्ञान यदि सच्चा होगा तो दूसरों को भी यह समझ आएगा और भाव बैठेगा एवं स्थिति होने पर पचेगा। **ज़बरदस्ती बिलकुल छोड़ने जैसी है। अपना ही पक्का क्यों नहीं करें?** पूछने आए उसे जरूर भाव से समझाएं, लेकिन उसका मोह आग्रह से नहीं रखना चाहिए। पू. योगीजी की यूं अहोनिश सेवा होती रहे और सत्संग कायम रहे यही अभ्यर्थना।

– अगस्त, 1951

2

सम्यक् स्वरूपदर्शन

सूक्ष्म बातें, वस्तुएँ, समागम, अनुभव, सुख दर्शन गूढ़ तरीके से ही होते हैं
और
कक्षा एवं भूमिका के मुताबिक़, जैसे शीशे में स्वयं का रूप जैसा हो, वैसा ही दिखाई पड़ता है;
उसी प्रकार, भगवान और भगवान से मिले साधु व एकांतिक हरिभक्त का
स्थूल, सूक्ष्म, शुद्ध व सम्यक् स्वरूपदर्शन होता है।
भ्रम, बनावट, दिखावा और कल्पनाओं से भरपूर कारण शरीर से,
हम अमायिक वस्तुएं देखना चाहते हैं, मानते हैं
और
अहम् का पोषण करते हुए दूसरों से जबरन मनवाते हैं।
हमारी यह स्थिति, उन लोगों से भी अधिक दयनीय है,
जो जानते ही न हों, संत के कॉन्टेक्ट में भी कभी न आए हों और सत्संगी भी न कहलाते हों।
यह समझना जरूरी है कि यह अज्ञानतापूर्ण कपट व बनावट ही है।
वर्ना, बल आएगा ही नहीं। जब एक का अंक ही नहीं, तो आगे की गिनती की बात ही कैसे?
कल्याण के मार्ग पर चलते हुए अनेक भूमिकाएं आती हैं।
मनुष्यभाव में से गुण के भाव के टलते ही ब्रह्मभाव शुरू होता है
और
मूल ब्रह्म के संग एकत्व होने पर, उनका समागम करने से परब्रह्म का साक्षात् दर्शन होता है।
भले ही प्रकाश दिखाई पड़े, सिद्धियाँ आएं, समाधि हो, त्रिकाल ज्ञानी भी बन जाएं;
फिर भी, अविभाज्य मुक्ति को प्राप्त नहीं कर पाता, जबकि वही करने तो आए हैं।
पर, मंदिरों में रह कर सेवा की आड़ में सत्संगी कहलाकर,
स्वरूपनिष्ठा का द्रोह होता जाता है, उस महापाप में चलते जाते हैं।

अनजाने में भी यह होता रहता है

और

श्रीजी की रुचि–सिद्धांत एवं गुणातीत ज्ञान एक ओर रख दिए जाते हैं।

अहंकार, अपना-पराया का भेदभाव व यहां वासनाओं के जोश में,

साक्षात् स्वरूप में विचरते पू. योगीजी महाराज जैसे छुपे पहचाने ही नहीं जाते;

वे तो ऐसे गुनाह माफ़ कर देते हैं, पर अपने प्रभु यह बर्दाश्त नहीं ही करेंगे।

हम नहीं समझेंगे, तो किसी न किसी प्रकार अपनी मर्जी के मुताबिक़ वे वर्ताएंगे ही।

यह देह उनकी मर्जी में रहे तो वे प्रसन्न, वर्ना मचेड़ के भी वे वैसा वर्ता कर ही छोड़ेंगे।

तो, उनके कहे मुताबिक़ उनके वचनानुसार ही क्यों न बरतने लगें?

वचनामृत लोया-3, मध्य 11-13, वड़ताल 5-11, मध्य-9, अं. 31, मध्य 54 के मुताबिक़

स्वरूपनिष्ठा की ऐसी दृढ़ता सिर्फ समागम से होती है।

प्रगट संतों के प्रसंग से–समागम से, निष्ठा दृढ़ कर लेनी है–यही प्रयोजन है।

यह निष्ठा ऊपर-ऊपर के स्थूल दर्शन करने से, लाखों दंडवत करने से

या

करोड़ों माला फेरने से, प्रदक्षिणा करने से या धन की सेवा करने से दृढ़ होती ही नहीं,

जब तक–

- अपना-परायापन जाता नहीं,
- मानरहित दासभाव की भक्ति और सेवा में रत पू. योगीजी जैसे संतों के साथ गुणातीत ज्ञानप्रलय नहीं होता और मायिकभाव टला नहीं,
- अलौकिकभाव नहीं आता।

भगवान एवं प्रगट संत तो स्वभाव छुड़वाने में ही राज़ी हैं; अन्य प्रसन्नता में फ़रक़ है।

वे हमें दुलार करें, बुलाएं, प्रसन्नता दिखाएँ, सेवा कराएं, पर मुद्दआ यही है कि

किसी तरह यह बात जीव की समझ में आ जाए और स्वरूपनिष्ठा दृढ़ हो।

उत्सवों-शिविरों में यही करना है। पर, क्या हो रहा है?

क्या खयाली पुलाव पका रहे हैं? कौन-सी अतृप्त वृत्तियाँ–भावनाएँ पूर्ण करनी हैं?

दरअसल क्या करना चाहिए और हम क्या कर रहे हैं ?

यह तो, तटस्थ होकर आत्ममंथन करने पर ही पता चलेगा।

तभी समग्र रूप से उनकी शरण में जा पाएंगे और तब ही कृपा दृष्टि होगी।

वही (कृपा) सच्चा दर्शन कराएगी
और
तभी बल, शांति, निर्भयता व भगवान के सुख की अनुभूति होगी।
तभी सत्संग में निष्ठा वाले कहे जाने वाले का अंतर का कुसंग दूर होगा।
इनके लक्षण वचनामृत में बताए हैं।
उसका मनन, ध्यान और साक्षात्कार
पू. योगीजी जैसे संत के समागम, प्रसंग करने से ही होता है
और
यदि यह कर लिया जाए, तो ही सत्संग को पहचान पाएंगे और समझ सकेंगे।
स्वरूपदर्शन और निष्ठा भी उनके प्रसंग से दृढ़ होती है
और फिर,
'साक्षात्' दिखाई दे व अनुभव में आए।
स्थूल को देख कर उसे परखो, परख कर विचारपूर्वक उसे पहचानो।
पहचान कर समग्र रूप से उनके साथ एकात्मभाव करो
और फिर,
अनुभव के मुताबिक़ उनकी आज्ञानुसार वर्तो।
तब ही ऐसा अनमोल सत्संग संभाल पाओगे
और
वच. प्र. 54 एवं मध्य 54 के मुताबिक़ सत्संग दृढ़ होगा
और
सत्संग में उसी की नींव अति दृढ़ हुई मानी जाए।
जो जानता हो, उसे यह समझ में आएगा, वर्ना चिन्तामणि बालक के हाथ में ही है।
उसे देखा भी बालक दृष्टि से ही है।
इसे परखना तो बाकी है, इसके गुण-दोष से परे रह कर समझना है,
फिर बुद्धिपूर्वक निश्चय करना है और तब ही पहचानी मानी जाएगी।
पहचानने के बाद इसे संभालना है। कहीं माया का इन्द्रजाल इसे हमसे लूट न ले।
इस हेतु चिंतामणि हाथ में होने के बावजूद,
सत्संग में दासानुदास भाव से सेवा व भक्ति करते रहना

और
हरेक का गुण लेकर समागम करते रहना।
इसे ही सच्ची स्वरूपनिष्ठा और सम्यक् स्वरूपदर्शन हुआ माना जाएगा।
वर्ना, नहीं हुआ हो और हम मान लेते हैं कि हुआ है। इसे केवल अज्ञानता गिनी जाएगी।
वही दूर करने के लिए यह सत्संग है। अतः इस पर विचार करें।
श्रीजी जिस स्वरूप में विचर रहे हैं,
उनकी महाप्रभु शास्त्रीजी महाराज हमें जैसी है वैसी पहचान कराएं
और
अंतर के दोष दूर करके, सत्संग का महाकुसंग- एक दूसरों पर दोष थोपने का टाल दें।
हरेक सत्संगी अपनी-अपनी शक्ति के मुताबिक़ एक ही मालिक (प्रभु) के आश्रय में रह कर,
स्वयं से होती सेवा, भक्ति एवं मन, कर्म, वचन से **प्रगट स्वरूपों का** समागम कर लें
और फिज़ूल की बातें छोड़ दें यही प्रार्थना।
इसके सिवा शांति मिलने वाली है नहीं; क्योंकि करोड़ों दोषों से हम जो भरपूर हैं उसे कौन जाने?
इसलिए यदि हम अपना ही अंतर टटोलें
और अपने ही दोषों को दूर करें, तो 'सत्संग' हमें 'अति निर्मल' दिखाई पड़ेगा।
सत्संग तो 'निर्मल' है ही, किन्तु ऐसी अज्ञानतावश हम देख नहीं पाते।
अतः, चित्तशुद्धि हमें अपनी ही करनी है, दूसरों की चौधराई में क्यों पड़ें?
हम यही कर लें व चिंतामणि को संभाले रखें; वर्ना दूसरे इसे लूट जाएंगे
और हम भीख मांगते रह जाएंगे।
उन्हें तो इस ब्रह्मांड की भी नहीं पड़ी, न तो मंदिरों की भी पड़ी है।
जो सब कुछ है, वह सिर्फ एकांतिक भक्तों के लिए है!
फिर चाहे वो गृहस्थ हो या त्यागी, उनका हेतु तो इनको लाड़ लड़ा कर,
अक्षर-पुरुषोत्तम का ब्रह्मज्ञान प्रवर्तन करने का हेतु है।
उन्होंने तो अपना वो हेतु पूरा किया, अब करने की बारी हमारी है। हम अब कब समझेंगे?
नित्य, निमित्त, प्राकृत और आत्यांतिक प्रलय की दृष्टि से
यह देह (की आयु) सौ वर्ष की गिनते, आंख की एक पलक झपकते ही (देह) पूरी हो जाएगी।

यूं, इतने में हमें इतना आसान (कार्य) करना है;
वह भी यदि अब नहीं किया, तो वे ज़बरन करवाएंगे। तब करना ही पड़ेगा।
यह हमें दिखाई भी दे रहा है;
फिर भी इस जीव का टेढ़ापन, ग्रन्थियां, स्वभाव क्यों नहीं बदलते होंगे?
अतः हर एक प्रार्थना करे ताकि गुरुजी (योगीबापा) हमें सत्संग का सुख दें;
फलस्वरूप, हमें भगवान के सुख का जो अनुभव हो,
उसका साक्षात् सम्यक् दर्शन जीतेजी हो, ताकि तनिक भी अधूरापन न लगे।
इसी लोक में ही अक्षरधाम का हम स्वयं अनुभव करें और अन्यों को भी उसकी प्रतीति हो।
प्रभुता की ऐसी झाँकी गोंडल में है, पर हमारी नाक-घ्राणशक्ति बिगड़ी हुई है,
सो परम सुगंध की खुशबू का आनंद तनिक भी नहीं ले पाते।
'जैसी हमारी दृष्टि, वैसा दर्शन और वैसा ही सुख।'
इस बात में तनिक भी झूठ नहीं है, अनुभव की बात है।
जिन्हें मानना हो वे मानें, वर्ना गुरु समर्थ हैं और वे मनवा कर ही छोड़ेंगे
और
साक्षात् मूर्ति के सिवा और कहीं पंडिताई में, सिद्धि में,
ज्ञान, भक्ति तप वग़ैरह के बड़प्पन में यदि मन लग जाता है,
उस मोह को दूर कराएंगे।
(प्रगट स्वरूप को) जैसे हैं वैसे पहचानें – यही परम ज्ञान, परम सिद्धि, परम स्थिति है।
इस सुख को संजोए रखें और सत्संगी की महिमा समझें।

–दिसंबर, 1951

3

गुरुहरि साक्षात् मूल अक्षरब्रह्म पू. योगीजी महाराज की पवित्र सेवा में

*[दि. 1.2.1952 के शुभ दिन गोंडल में, साक्षात् अक्षरदेरी की भावपूर्वक प्रदक्षिणा करते हुए, प.पू. योगीजी महाराज ने मुंबई के **महाएकांतिक मुक्तराज श्री दादुभाई** पर अति प्रसन्न होते हुए, कृपादृष्टि से समाधि करा के उन्हें सभी देवताओं एवं अवतारों आदि के स्थलों - धामों का दर्शन कराया। अंत में, रिद्धि-सिद्धि दिखाते हुए कसौटी में उत्तीर्ण कराने के बाद, अक्षरधाम में ले गए।*

*वहां उन्हें अनंत कोटि मुक्तों और उनकी सेवा अंगीकार करते **पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान स्वामिनारायण** एवं **मूल अक्षरमूर्ति श्री गुणातीतानंदस्वामिजी** का अलौकिक दर्शन कराया। अक्षरधाम में किशोर आयु के सुंदर, अक्षय सुख के राशिरूप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान, क्षणभर के लिए अदृश्य हो जाते और उनके स्थान पर **प.पू. शास्त्रीजी महाराज** की तेजस्वी मूर्ति का दर्शन होता। इसी प्रकार, पू. गुणातीतानंदस्वामिजी की मूर्ति के अदृश्य होते ही, उनके स्थान पर **प.पू. योगीजी महाराज** की मूर्ति का दर्शन होता।*

*यूं, पू. योगीजी महाराज ने अति प्रसन्न होकर, **मुक्तराज दादुभाई** को लगातार तीन दिन - पूरे 72 घंटे - साक्षात् अक्षरधाम के दिव्यानंद -सुख की अनुभूति कराई। उसी के संदर्भ में, अमदावाद से **मुक्तराज दादुभाई** ने प.पू. साक्षात् प्रगट ब्रह्मस्वरूप योगीजी महाराज को इस मासिक (स्वामिनारायण प्रकाश) में निम्न पत्र लिख कर, अपनी कृतार्थता व्यक्त की।*

मुक्तराज श्री दादुभाई** स्वयं कई संतों, हरिभक्तों एवं जिज्ञासुओं को श्री अक्षरपुरुषोत्तम भगवान की सच्ची स्वरूपनिष्ठा का एहसास करवा रहे हैं। **धन्य है उनकी बेजोड़ दासत्व भक्ति !

– तंत्री, स्वामिनारायण प्रकाश,

वर्ष :14, अंक : 5, मार्च - 1952]

दास का दास सेवक का कोटि-कोटि दंडवत् प्रणाम सह जय श्री स्वामिनारायण!

चिंतामणि रूप देह पलक झपकते ही शांत हो जाएगी,

यह जानने, मानने और एहसास होने के बावजूद

सर्वोपरि, सर्वाधार, सर्व अवतारों के अवतारी, कारणों के कारण, कर्ता-हर्ता,

सब कुछ करते हुए भी अकर्ता, अन्यथाकुर्तम्-अनन्त ऐश्वर्यों,

सामर्थ्य, गुण, सत्ता, दिव्यता, प्रभुता,
वाणी से पर के शब्दमात्र का, नाममात्र का जहाँ विलीनीकरण होकर,
दिव्य व साकार रूप से - अजोड़, अद्वितीय, अवर्णनीय स्वरूप श्रीजी महाराज के रूप में,
जीवों के महा अज्ञानरूपी, अविद्यारूपी कारण शरीर को टालने के लिए,
और
भक्तिमाता के एवं देवताओं की याचना से सिर्फ सच्चे भक्तों के ही
लाड़-प्यार पूरे करने के लिए,
चिंतामणि रूप प्रगट भगवान इस धरा पर आए, यह नहीं समझ पाने पर,
मूलअक्षर गुणातीतानंदस्वामीजी जो कि श्रीजी का अन्वय स्वरुप हैं,
और
दूसरे स्वरूप में दास बन कर स्वामीसेवक भाव से सेवा में रहते हैं;
ऐसे चिंतामणि रूप अनादि के एक व अजोड़ व आदर्शभक्त मूलअक्षर ने
उनकी (श्रीजी महाराज की) पहचान कराई।
वही साक्षात् 'दर्शन'-इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और अनुभव उनके स्वरूपों में पहुँच कर,
पूज्य गुरुहरि शास्त्रीजी महाराज के दिव्य 'दर्शन' को–
अक्षरधाम की निर्विकल्प समाधि के रूप में–
सर्व साधनों के अंत के रूप में, परिपूर्ण रूप से मनवा कर कृतार्थ किया।
ऐसे साक्षात् मूल अक्षर गुणातीतानंदजी - मेरे पूज्य जीवन प्राण, आत्मा,
योगीजी महाराज द्वारा गोंडल में श्री छगनभाई, नारणभाई शेठ, बिन्दूबहन, झवेरकाका,
वकीलस्वामी, निरन्नमुक्त वग़ैरह की उपस्थिति में अप्रतिम आनंद देकर करा दिया।
पू. नंदाजी की साबरकांठा की सेवा का ऐसा कृपा-फल दिया है, इसके लिए–
मैं आपका गुलाम - दास का दास सेवक सदा के लिए आपको बिका हुआ ही हूँ।
मुझे अपना ही समझना।
ऐसे अखंड, निरंतर दिव्य झरने के सुख, आनन्द, सद्विचार, शुभ संकल्प
जो कि साक्षात् अक्षरधाम के ही हैं और चैतन्य देह से अनुभूति करनी है व उसे प्राप्त करना है –
वह परमपद, परम कल्याण एवं सर्वजीव प्राणीमात्र की परम सर्वोत्कृष्ट
अपरिमित मंगलकारी भावना से भरपूर अस्खलित दिव्यता,
निर्गुण व निष्कामभाव के 'दर्शन' को सतत टिकाए रखना,

यही गद्गद कंठ से याचना व विनम्र प्रार्थना है।
सत्संग दर्पण सदृश होता है। भगवान सभी के स्वरूप का दर्शन कराते हैं।
बुद्धि के सयानेपन को छोड़कर खुद का ही गुरु बनकर,
साक्षात् गुरु के चरणों में सर्वस्व का समर्पण (करके)
श्यामळाजी के मंदिर की गरुड़जी की मूर्ति के भाव के अनुरूप
निर्दोषबुद्धि से, (सत्पुरुष के) छोटे-बड़े वचन में सम्पूर्ण विश्वास से व श्रद्धा से
और
गोपियों जैसी अतिदृढ़ प्रीति व तत्परता से लगे रहें
तथा
दासभाव व दिव्यभाव सदैव अखंड रहे ही,
तो पल में ही,
वच. लोया 12 व सारंगपुर 10, कारियाणी-1 के अनुसार निर्विकल्प स्थिति को पा जाएं।
अमदावाद पू. बापा के कक्ष से ‘एक’ लिखकर
सूर्यमंडल तक शून्य लगाएँ इतनी सत्ता तो वे शुरू से ही दे देंगे।
अतः उनके चरणों में ही मूर्ति के सुख का अनुभव करते हुए, अनंत शून्य लगाते जाएं
और
अपार दिव्यभाव, आनन्द के बहते झरने के सुख की अनुभूति करते जाएं
व
अक्षरधाम रूप रहते हुए अति समर्थ बन जाने पर भी
ज्ञान गरीबी को धारण करके भक्ति करें।
यूं, मूल अक्षर के साधर्म्य को पाए बिना,
मन, कर्म, और वचन से-निर्दोषबुद्धि से सेवन किए बिना,
सर्वज्ञ-अन्तर्यामी शास्त्रीजी महाराज को पहचाने बिना,
पूर्ण पुरुषोत्तम के दर्शन संभव नहीं।
हीरे से हीरा तोड़ा जाता है।
यह बात लिखी तो जा सकती है, पर उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।
गुरुजी (गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज) के प्रति अति दृढ़ प्रीति रखने वाले,
सच में कुछ पाने की ग़रज़ रखने वाले ही इस बात को पचा सकते हैं;
अन्य को तो अतिसार हो जाए।

और...
यदि भगवान व इस साधु में कोई दोष देखे या इनका द्रोह करे,
तो वह साक्षात् नरक का भागी बने।
यह बात बहुत ही मर्मयुक्त व अटपटी है। मौके को पहचानने वाला ही पा सकता है।
द्वार खुले हैं। गढडा में नए सूर्य का उदय हुआ है।
खुले नेत्रों वाला ही इसे देख व पा सकेगा।
मनन द्वारा ज्योतिरुप समझकर,
अखंड महद्-ज्योतिरूप संत समागम से
परम ज्योतिरूप होते ही
पूरक, प्रेरक, पोषक, प्रतीतिरूप प्रगट परमात्मा पाया जा सकता है यह निर्विवाद है।
जिसे मानना हो, वह माने।
यह तो गुणातीत ज्ञान की ज्योति जली है। किसी के बुझाने से यह बुझेगी नहीं।
सबको एक बार जलाकर ही रहेगी;
क्योंकि जीवन क्रांति के बिना, कुसंग के बंधन-भावनाएं,
मान, मोह, अहम् की ग्रंथियाँ जाती ही नहीं हैं
और
साम्यावस्थारूपी माया तुर्यावस्था में परेशान करती ही है।
इसलिए साक्षात् गुरुजी (पू. योगीबापा) के चरणों में दास का दास बनकर वर्तना
और
उनकी आज्ञा पालना व उनमें विश्वास रखना ही परमपद-परमस्थिति है।
गुणातीत रूप बनकर प्रतिदिन शास्त्रीजी महाराज के
लीलाचरित्र-महिमा गाकर प्रार्थना करनी।
वही एकांतिक निर्गुणभाव की सर्वोत्कृष्ट-सर्वोत्तम भक्ति है,
जो अक्षरधाम में चैतन्य देह से करनी है।
प्रगट भगवान सभी को ऐसा सुख-'दर्शन' दें
और
कुसंग की पहचान कर लेते हुए उन्हें सच्चे सत्संगी बनाएं–यही अभ्यर्थना।

–अमदावाद, 21-2-1952

***

4

दृष्टिभेद

गिरनार पर खड़े हुए को हिमालय का कैसे पता चल सकता है?
अनादि काल से शास्त्रकारों की भूमिका, स्थान और स्थिति के विकसित होने के साथ,
इतने बदलाव भिन्न-भिन्न स्वरूप में दृष्टि भेद से वाणी में लिखे गए,
वेदों में वर्णित हुए और गीता व भागवत जैसे महाग्रन्थों द्वारा समझाने में ईश्वर प्रणीत बने।
सर्वोपरि ज्ञान लोकगम्य बने, मूर्तिमान जीवन मुक्त दशा में
सबीज अनुभव हो सके, भोगा जा सके और साक्षात् प्राप्ति प्रतीति के रूप में जीवंत बने
इस हेतु की पूर्व भूमिका स्वामिनारायण भगवान ने स्वयं निभाई
और
मूलअक्षर गुणातीतानंदस्वामी तथा महामुक्त गोपालानंदस्वामी एवं अक्षरमुक्तों द्वारा
वह ज्ञानप्रकाश बढ़ता गया।
हमारे संप्रदाय में परम पूज्य गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज ने
संतों के साथ विचरण कर करके
इस भेद को अक्षरपुरुषोत्तम की शुद्ध उपासना द्वारा प्रवर्ताया
और
पूज्य साक्षात् ब्रह्मस्वरूप योगीजी महाराज ने इसे मूर्तिमान किया।
अमृत के अखंड अविनाशी झरने की तरह,
अक्षरधाम के दिव्य अक्षरमुक्त व जीवनमुक्त दशा का अनुभव करते प्रत्यक्ष स्वरूपों ने
इस भेद को साबित कर दिखाया।
उन्होंने वच. प्र. 71, अंत्य. प्र. 9-31-38 तथा अंत्य. प्र. 2 के मुताबिक़
परोक्ष जैसी प्रत्यक्ष की प्रतीति, दर्शन, स्थिति
व
गुणातीत ज्ञान का महाबगीचा सहज में तैयार किया।
फलस्वरूप अनेक बड़े-बड़े हरिभक्त तथा संत हमारे लिए दृष्टांत स्वरूप हैं;
पर जैसी दृष्टि, वैसा भेद नज़र आता है।

चित्त के निरोध को गीता में महायोग की पूर्णता कही गई;
परन्तु वहां दृष्टा दृश्य के बीच दृष्टि भेद अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण,
आत्मसाक्षात्कार का जीतेजी अनुभव करने की कृतकृत्यता अधूरी ही रही,
क्योंकि पुरुष-प्रकृति के भेद से
आत्यांतिक मुक्ति की सर्वोपरि ब्रह्म-परब्रह्म भेद की विशिष्टता कि–
भगवान स्वामिनारायण सर्व अवतारों के अवतारी हैं, सर्वोपरि हैं
व
मूल अक्षर गुणातीतानंदस्वामिजी –वे ही जीव का मूलस्वरूप हैं
यह भीतर में दृढ़ नहीं कर पाए।
सो, प्रकृतिभेद 'कारण शरीर' के रूप में बना ही रहा।
मनन द्वारा मूल ब्रह्म के संग में संत समागम से प्रकृति भेद को पार करने पर
ब्रह्मभाव में परब्रह्म का ख्याल आया
और
'पिंड व ब्रह्मांड', 'ब्रह्म और परब्रह्म' के सूक्ष्म भेद के बीच जो वासना
अविद्या के रूप में मूल अज्ञान की स्थिति में दृढ़ बनी हुई थी,
वह दूर होने पर सच्चिदानंद स्वरूप प्रगट होता है और तब वृत्ति पुरुषोत्तमरूप हो जाती है
और
सच्चे संतों व हरिभक्तों की दासभाव से सेवा में ही जीवन व्यतीत होता है (वच. सा. 17)।
सर्वोत्तम अभेद भाव का अनुभव होने पर, आत्मा-परमात्मा का दिव्य आनंद प्राप्त होता है
और
जीव, ईश्वर, माया, ब्रह्म व परब्रह्म के स्वरूप, प्रकाश, सत्ता, सुख, सामर्थ्य दिखाई पड़ते हैं।
जीतेजी ही अक्षरधाम का सुख और प्राप्ति अखंड बनते हैं
और
ऐसे भक्त की दृष्टि जहाँ-जहाँ पड़ती है, वहाँ-वहाँ महाराज और स्वामी दिखाई देते हैं।
वहाँ सनातन प्रकाश का पुंज और उसके बीच महाराज की दिव्य मूर्ति
अखंड दिखाई देती रहती है।
परिपूर्णता का अनुभव होने पर महाराज की इच्छानुसार,
प्रगट संतों के चरणों में रहकर दासभाव से सेवा भक्ति करते हुए,
समस्त सत्संग, छोटे-बड़े –सभी हरिभक्त दिव्य प्रतीत होते हैं

और
सत्संग अपना ही लगने लगता है।
दृष्टिकोण में बदलाव आते ही,
दूसरों की देह, उनके दोष और आकार अभेदरूप से अभेदोर्मीयों में विलय हो जाता है।
फलस्वरूप अखंड शुभ संकल्प एवं शुभ वृत्ति के रूप
हर एक प्रवृत्ति जीवन पर्यंत मंगलकारी भावना से कल्याणमयी हो जाती है
और
परमपद, सुख, आनंद, शांति, धन्यता स्थायी रूप से प्राप्त हो जाते हैं।
परमात्मा सहजानंद सर्वातीत ही रहते हैं,
जिसका वर्णन परावाणी और अनुपम वाणी से भी होना संभव नहीं।
यह लाभ वर्तमान में पू. योगीजी जैसे श्रेष्ठ संतों की सेवा
व
मुक्तों, हरिभक्तों में सुहृद्भाव रखकर, उनमें दिव्यता देखने से
और
माहात्म्य ज्ञान सहित भक्ति द्वारा मिल सकता है।
सो, इस अनन्य लाभ को हरेक को जरूर प्राप्त कर लेना चाहिए।
प्रगट की उपासना और आज्ञा–'निजात्मानम् ब्रह्मरूपम्' के मुताबिक़
पंच वर्तमानयुक्त वर्तन से ही गुरुहरि का ऐसा योग मिला है।
वे परमात्म-दृष्टिभेद सहज में ही सधाते हैं और जीतेजी गुणातीत करते हैं।
सत्संग में गुणातीत स्वरूपों अखंड दिव्य ज्योति रूप से
सनातन, सर्वोपरि, सर्वज्ञ, सर्वाधीश श्रीजी स्वामी के गुणगान करते-करते, जलते ही रहे
और
दूसरों को भी ऐसे ही सर्वोत्कृष्ट सुख की प्राप्ति कराते रहें
ऐसी पू. शास्त्रीजी महाराज व संतों से हमारी सच्चे दिल से अभ्यर्थना हो।
'स्वामिनारायण प्रकाश' के ग्राहकों की संख्या अपने आप बढ़कर
पू. स्वामी बापा के कार्य को अधिक गति मिले और सभी इस कार्य में सहकार दें
ऐसी नम्र प्रार्थना है।

–फरवरी, 1953

***

5

अक्षरधाम की चाबी और सम्पूर्ण सफलता

जीवनपर्यंत हर व्यक्ति किसी न किसी प्रवृत्ति में, कार्य में, आदेश में
सफलता की कामना करता है
और
कार्य की कृतकृत्यता में -पूर्णता में आनंद, सुख, शांति व मानव विकास एवं प्रगति के सर्जनात्मक बल गतिमान करने की इच्छा-आकांक्षा-वृत्ति को पोसता है।

सफलता व सिद्धि के कई प्रकार हैं। जीवात्मा तीन गुण, तीन अवस्थाओं और माया की टोली के इक्यावन स्थानकों से विविध प्रकार की साधना करके, सफलता और सिद्धि का साक्षात्कार करता है। उसे स्थान, भूमिका, तीव्रता, रटन, श्रद्धा और विश्वास के साथ परिश्रम या पुरुषार्थ के मुताबिक़ ही उसका आनंद और सुख की प्राप्ति होती है। फिर भी, (जब तक) स्वभाव और वासना, प्रकृति और संकल्पविराम पर, जीतेजी विजय प्राप्त नहीं कर पाते, तब तक सनातन सुख, परमशांति, अलौकिक दृष्टि और आत्मसाक्षात्कार का अनुभव करके जीवन मुक्तदशा में, पूर्ण पुरुषोत्तम स्वामिनारायण भगवान का सुख, आनंद, सामर्थ्य व मूर्ति का अनुपम अपरिमित चैतन्य रस, गुणातीत स्थिति में रहकर झेल ही नहीं सकता और अनुभव भी नहीं होता। तो अखंड प्राप्ति तो हो ही कहां से? 'कारण शरीर' और इससे भी महादुष्कर 'महाकारण' की तूर्यावस्था, जो देवों को भी विक्षेप देती है और अवतारों को भी आवरणरूप बनती है, उन्हें जीतने पड़े। साथ ही साथ सत्संग करके आत्मा के साक्षात्कार की सम्पूर्ण सफलता का अनुभव करके, ब्रह्मरूप होकर, परब्रह्म पुरुषोत्तम की सेवा में दासभाव से अखंड आनंद, परमसुख और शांति प्राप्त करके, जब तक मुक्तभाव की कृतकृत्यता को नहीं पा जाते, तब तक सफलता से, प्रकाश से, दर्शन से, ज्ञान से, भक्ति से, सेवा से बड़प्पन (भले ही) प्राप्त हो चुका हो, पर खतरे खड़े ही हैं। सगुण-निर्गुणभाव के भेद से भी निरपेक्ष-निष्कामभावना से पूर्णतः निष्कपटभाव से वर्तकर, महाराज के चरणों में लय और लीन रहते हुए (स्वप्रयत्न से) किए सत्संग, सेवा व भक्ति द्वारा निर्भयता, निडरता एवं परिपूर्णता की प्रतीतिसह मुक्तभाव का अनुभव
नहीं होता और भोगा भी नहीं जाता।

इस हेतु अपने आपको अक्षररूप मानकर मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामी के साधर्म्य को पाकर, मनन द्वारा संग करके, दासभाव से महाराज की सेवाभक्ति करने की अक्षरधाम की चाबी सिर्फ महाराज, स्वामिजी या उनके साधर्म्य को पाए हुए व जीतेजी एकांतिकभाव को पाए हुए कोई परम भागवत संत द्वारा ही पा सकते हैं, प्राप्त कर सकते हैं और करोड़ों जन्म की कसर टलती है। धाम की चाबी प्राप्त होने के बाद, धाम की 'विभूति मूर्ति' का सामर्थ्य, सत्ता, गुण, ऐश्वर्य, सुख को सर्वोपरि तरीके से गुणातीत स्थिति के अपार अमृत के सागर में–चिदाकाश की राशि में अखंडित व निरंतर कैसे पा सकें, इसीलिए संत के चरणों में रह कर सत्संग करते रहना ही जीवन का सच्चा पुरुषार्थ और ध्येय है। साधना द्वारा परमपद के सर्वोत्कृष्ट मुक्तभाव की स्थिति और जीवन की संपूर्ण सफलता है। इसके बाद कुछ पाना, अनुभव करना, भोगना या सिद्ध करना रहता ही नहीं। इस लोक और परलोक की ऐसी प्राप्ति संत द्वारा ही संभव है। वचनामृत ग.प्र. 54, मध्य. 54, वड़. 5-11, मध्य. 30, 45, 62 पर सोचना।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का पुरुषार्थ अनादि काल से अविरतरूप से चलता रहा है। **'आत्यंतिकी मुक्ति'** केवल श्रीजी ने ही सुलभ बनाई है। इसी हेतु ही यह जीवन है। प.पू. योगीजी महाराज तथा पू. मोटास्वामी, पू. अक्षरपुरुषोत्तमस्वामी जैसे परम भागवत संतों और महारज के ही साक्षात् स्वरूपों द्वारा वच. लोया 12 के मुताबिक़ अति उत्तम निर्विकल्प निश्चय सिद्ध करके गुणातीत स्थिति को प्राप्त करना है। अक्षरधाम की चाबी लगाकर, महाराज की मूर्ति का परमसुख व मध्य 66, अहमदाबाद के अनुसार, तब जीतेजी आनंद आता है। वचनामृत 29-38 के मुताबिक़, अनुभव करके उसे अखंड प्राप्त कर लेना है। इस हेतु, जैसे इस लोक में प्रयास करते हैं, उसी प्रकार बुद्धिमान पुरुष-मुमुक्षु को अक्षरधाम की चाबी प्राप्त करने का प्रयास करना है।

एकलव्य भील का लड़का था। चूंकि द्रोणाचार्य ने अर्जुन को वचन दिया था कि अन्य कोई उसके समान धनुर्विद्या में प्रवीण नहीं बनेगा; अतः एकलव्य को धनुर्विद्या सिखाने के लिए अरुचि प्रकट की। लेकिन, एकलव्य ने माँ की आशीष लेकर, केवल गुरु की मूर्ति को प्रकट गुरु मानकर, मूर्ति की उपासना, आज्ञा और भक्ति से विद्या प्राप्त कर ली और गुरु को भी शर्मिन्दा कर दिया। बलि राजा ने भी भगवान के लिए ही सर्वस्व का समर्पण किया, तभी भगवान साक्षात् वश में हो गए, जिससे राजा बलि ने सम्पूर्ण सफलता, प्राप्ति, आदर्श की 'ध्येय सिद्धि'-साधना का अंत और कृतकृत्यता का अनुभव किया। शास्त्रों ने इसे मुक्त कंठ से गाया है। एकलव्य की सफलता की चाबी-सिद्धि, वह उसकी अपरिमित श्रद्धा,

अस्खलित परिश्रम और अखंड तमन्ना-तीव्रता-सर्वोपरि उपासना में निहित है।

ऐसे प्रयत्न के लिए, परमभागवत साक्षात् गुरुहरिश्री हमें मिले हैं। अक्षरधाम की चाबी या सभी वचनामृतों का सार-रहस्य एक ही लाइन में आ जाता है–**'यथार्थ स्वरूपनिष्ठा समझ कर आज्ञा पालो।'** लोया 5 के मुताबिक़ महाराज और प्रगट प्रत्यक्ष संत पू. योगीजी महाराज तथा संतों के स्वरूप को निर्दोष मान कर, गुरुचरणों में निष्कपटरूप से रहकर यूं जितनी आज्ञा पालेंगे और उनकी मर्जी के अनुरूप संपूर्ण विश्वास से वे जैसा कहें, वैसे आनंदपूर्वक करते रहेंगे, उतनी साधना की सिद्धि, परमपद की प्राप्ति और स्वामिजी का सुख प्राप्त होगा ही।

यही है अक्षरधाम की चाबी–यदि 'गुरुमुखी' नहीं रहेंगे, तो धाम के दरवाज़े पर महामाया तथा महाकारणरूपी तूर्यावस्था-अपनी जाल में फंसाकर लूट लेने – अध्यात्म की स्थिति में से गिराने के लिए तत्पर ही रहती है। सो, प्रत्येक सत्संगी 'मनमुखी' न रहकर साक्षात्कार की स्थिति को पाए हुए सत्पुरुष द्वारा ही सम्पूर्ण सफलता का जीतेजी अनुभव करें और भोगें - प्राप्त करें।

प.पू. शास्त्रीजी महाराज ने अक्षरपुरुषोत्तम की सच्ची उपासना को मूर्त करके सभी के लिए आत्यंतिक मुक्ति के मार्ग को अतिशय सरल बना दिया है। गुणातीत ज्ञान सबीज है। सो, अनादि चिदाकाश की साकार मूर्ति जो प्रत्यक्ष है, उसमें, 'मैं' और 'मेरा' भूल कर, खो जाकर, उनकी शरण में रह कर, स्वधर्मयुक्त वर्तते हुए, समग्र सत्संग में अखंड दिव्यता दृढ़ करने की करामात सीखना ही हम सब के जीवन का आदर्श, ध्येय और साधना होनी चाहिए। गुरुहरि हम पर कृपादृष्टि रखकर, हमें परमपद का अधिकारी बनाएं–यही अभ्यर्थना।

पुष्प की खुशबू, पवन की लहरों में विलीन होकर, प्रत्येक राहगीर को मुग्ध कर स्वयं का अनुभव कराती है, वैसे ही गुणातीतबाग के संतों की निश्रा में पोषित - पल्लवित और साधना किए हुए, हमारे सत्संग के महाकुसुम अपने जीवन की कृतकृत्यता, आत्मा परमात्मा का साक्षात्कार करके व जीतेजी ही जीवन मुक्तस्थिति प्राप्त करके, अनंत जीवों के लिए कल्याण का, मंगल का, विकास का, परिपूर्ण सफलता के मार्ग को ऐसा ही निष्कंटक रखें और सरल सादा जीवन जीकर, दासभाव से ही सर्वोपरि उपासना दृढ़ करा के, सेवा और भक्तिरूप से उसकी खुशबू का परमानंद सभी के लिए सुलभ कराएं – यही स्वामिजी से नम्र प्रार्थना है।

–अप्रैल, 1953

***

6

सर्वोत्कृष्ट स्थान और साक्षात्कार की स्थिति

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः।।

अनंत जन्म-जन्मांतरों के सुकृत उदय होने पर ही भगवान या उनसे मिले संत का समागम और प्राप्ति होती है। जीवात्मा अनादिकाल से किसी न किसी भावना, प्रणाली, आदर्श, वासना एवं ग्रंथि से बंधा हुआ है! तीव्र, मध्यम और मंद गति की श्रद्धा और विश्वास की वृत्ति से भगवान के स्वरूप, धाम और महिमा को समझता है, पा सकता है और वैसी ही स्थिति में वहां अखंड रहता है।

मुमुक्षु जब गुरुहरि से पहली बार मिलता है, तब देश, काल, संगति, मंत्र व शास्त्र की भावना-प्रतीति-दीक्षा जैसी शुभ या अशुभ वर्तती हो, वैसी उसकी श्रद्धा बनती है और उसी के अनुरूप ही भगवान के स्वरूप व मूर्ति के प्रति उसकी निष्ठा व आश्रय होते हैं और वैसी ही स्थिति बंधती है। अनंत भूमिकाएं व स्थान हैं, जहां जीवात्मा वासना या पंचविषय की आसक्ति से एवं ऐश्वर्य, सत्ता, सामर्थ्य को पाने के लिए घूमती रहती है व उस प्रकार के सुख को भोगने लगती है।

परंतु जब साक्षात् भगवान का स्वरूप प्राप्त होता है, तब ही आत्यंतिक मुक्ति और साक्षात्कार की स्थिति की अनुभूति होती है। जीवनमुक्त दशा-स्थितप्रज्ञता प्राप्त होती है और अंतर व बाह्य में स्वामिश्रीजी अखंड एकत्वभाव से दिखाई देने लगते हैं; फलस्वरूप अहो-अहो भाव रहकर दिव्य स्वरूप से अखंड आनंद भोग पाते हैं। विभिन्न स्थानों की अपेक्षा महाराज ने गोलोक, बैकुण्ठ, बद्रिकाश्रम, श्वेतद्वीप और ब्रह्मपुर धाम को अधिक महत्त्व दिया है। जीवात्मा 'प्रकृति पुरुष' (के लोक) तक में अनंत भूमिकाओं में से गुज़रती है, परंतु माया से परे साक्षात्-सनातन-अद्वितीय-अनादि 'अक्षरब्रह्म' जो धाम रूप से एक सर्वोत्कृष्ट एवं अजोड़ स्थान है, वहां मूल अनादि ब्रह्म का मनन द्वारा

संग किए बिना–साक्षात् ब्रह्म में प्रवेश किए बिना, जीवात्मा शिवरूप नहीं बन पाती और आध्यात्मिक गति नहीं कर पाती; परिणामस्वरूप जीवात्मा परम शिवस्वरूप में पूर्ण पुरुषोत्तम के साधर्म्य को भी नहीं पाती। सो, साक्षात्कार की स्थिति नहीं होती और वच. लोया–12, प्र. 24, मध्य-9, 13, 11 के मुताबिक़ वह अति उत्तम निर्विकल्प निश्चय करके, धामरूप रहते हुए, महाराज की उपासना और भक्ति करने का अधिकारी नहीं बन पाता। इसी कारण से साक्षात् मूलब्रह्म या महाराज के प्रत्यक्ष स्वरूप के ज्ञान की अनिवार्यता रहती है। प्रगट गुरुहरि में निर्दोषभाव से अंतराय रखे बिना जितनी अनन्य निष्ठा करी होगी, उतना ही प्रकाश, सत्ता व सामर्थ्ययुक्त साक्षात्कार की स्थिति की अनुभूति होती है, भोगी जाती है और अखंड प्राप्त होती है।

वच. लोया–7 के मुताबिक़ जब तक प्रत्यक्ष भगवान या उनके स्वरूप को इंद्रियों-अंतःकरण और तदाश्रित अनुभव यदि साक्षात् पहुंचे नहीं, तो कल्याण व मुक्तावस्था प्राप्त करने में कसर रह जाती है। श्रीजी ने मुक्तों के अनंतकोटि भेद बताए हैं। प्रेमी, विश्वासी व सामान्य ज्ञान वाले भक्तों में 'स्वरूपज्ञान' की कसर रह जाती है। ज्ञान, प्रीति और दासभाव तो साक्षात् गुरुचरण में रह कर ही दृढ़ होते हैं और तभी आसरा पक्का हुआ गिना जाता है। तब जाकर जीतेजी ही आत्यंतिक मुक्ति का अनुभव होता है। ऐसे सर्वोत्कृष्ट स्थान को **'अक्षरधाम'** कहा जाता है। अक्षरपुरुषोत्तम के उपासक यह भली भाँति जानते हैं कि जब तक मूल अक्षर ब्रह्म के साधर्म्य को नहीं पाया जाता, तब तक धामरूप, अक्षररूप और ब्रह्मरूप नहीं हो सकते। ज़रा विचारें कि हमें क़ाबिल सत्पुरुष और भगवान के साक्षात् स्वरूप की प्राप्ति के बाद भी हममें कसर क्यों रह जाती है? कल्पना क्यों टलती नहीं? स्वरूपनिष्ठा में–भगवान के ही साक्षात् स्वरूप के बारे संशय करके हम उधेड़बुन में क्यों लगे रहते हैं? वजह यह है कि परोक्ष जैसी हमें प्रत्यक्ष में प्रतीति नहीं है। इस हेतु श्रीजी के परावाणी रूप वचनामृत पंचाला 1, 7, 4, अंत्य. 2, वड. 11, अमदावाद -7 आदि पर विचार करें।

'स्वरूपज्ञान' को दृढ़ करने के लिए ही मुक्त देह धारण करते हैं। गुरुचरण में रहने वाले मुक्त इक्यावन स्थान सहज ही जीत जाते हैं। परन्तु, मूल प्रकृति-पुरुष भेद माया के प्रपंच से युक्त हैं; साधन दशावाले ऐसे गुरु भले ही कितने ही बड़े माने जाते हो, परंतु वे प्रगति नहीं करा सकते। क्योंकि उन्होंने मूल अनादि सनातन ब्रह्म-गुणातीत स्वरूप के साधर्म्य को पाया नहीं है। महाराज के साथ न तो उनका सीधा संबंध है और न

ही किया जा सकता है। यह तो जब महाराज स्वयं जिस पर कृपा करें, उसे समझ में आता है; जैसे पर्वतभाई, गोरधनभाई! ब्रह्मरूप हुए बिना जब धाम में रहा नहीं जाता और महाराज की सेवा भी नहीं मिलती, तो मूर्ति का सुख, सत्ता, सामर्थ्य व आनंद अन्य सभी कैसे प्राप्त कर पाएंगे? इस हेतु सर्वोत्कृष्ट पुरुषोत्तम के ही साक्षात् स्वरूप (प्रकट प्रभु-गुरुहरि) के द्वारा ही साक्षात्कार की स्थिति कर लेनी चाहिए, ताकि माया से परे गति हो सके। जैसी भक्त की निष्ठा और भगवान के प्रत्यक्ष स्वरूप की महिमा, वैसी ही स्थिति! अंतर्दृष्टि करके देखें तो वच. सा. 10 के मुताबिक़ सभी धाम अणुमात्र भी दूर नहीं। तो, साक्षात् स्वरूप तो अपनी दृष्टि व वृत्ति द्वारा भी हमारे स्वभाव का रूपांतर करके, अवश्य ही हमें निर्वासनिक व ब्रह्मरूप करके महाराज से जोड़ देंगे।

प्रत्यक्ष नयनगोचर स्वरूप–प.पू. शास्त्रीजी महाराज तथा प.पू. योगीजी महाराज की कृपा से हमारे महाभाग्य उदित हुए कि हमसे वे पहचाने गए हैं व प्राप्त हुए हैं। तो वच. अं.–2 तथा वच. लोया-7 व 12 के अनुसार निर्विकल्प निश्चय दृढ़ करके, निरुत्थान रूप से ही गुरुचरण में रहें और उनके प्रति तनिक भी मनुष्यभाव न आने दें। सभी संतों को ब्रह्म की मूर्ति मानकर, मूल अक्षरब्रह्म अनादि स्वरूप–जिनमें महाराज सर्व प्रकार से अखंड रहे हैं व जो महाराज के ही स्वरूप माने जाते हैं–की निश्रा में रहकर दिव्य अलौकिक साक्षात्कार की स्थिति को प्राप्त कर लें और जीतेजी ही महाराज की मूर्ति के अपार सुख की अनुभूति करें, भोगें और प्राप्त करें–यही गुरुहरिश्री के चरणों में नम्र प्रार्थना।

दरअसल, महाराज तथा पू. गुणातीतानंदस्वामिजी भी बादल देखकर निश्चय व स्थिति कराते थे और प्रगट स्वरूप का साक्षात् ज्ञान एवं साधारण रूप से विचरते दिव्य प्रत्यक्ष-मनुष्य रूप मूर्तिमान स्वरूप की महिमा समझाने हेतु ही विचरण व भ्रमण करते थे। प्रत्यक्ष स्वरूप के कारण ही सभी प्रवृत्ति होती है–यह समझाने चौरासी करने के बाद उन्होंने जब देखा कि प्रगट स्वरूप की अपेक्षा मंदिर व उसके अधिष्ठाता देव-देवियों को प्रमुख माना गया-उनकी महिमा बढ़ गई, तब महाराज को अत्यंत दुःख हुआ और (अमदावाद में) कांकरिया तालाब पर जाकर–'कोई लाभ नहीं हुआ'–यूं कहने लगे।

तब प्रत्यक्ष स्वरूप गौण हो गया, जिससे जो प्राप्ति होनी चाहिए थी वह नहीं हुई! ऐसा अब पुनः न हो, इस बात का ख़ास ध्यान रखना है। गुरुहरि के वचन में तनिक भी अविश्वास हो, तो वह मनुष्यभाव ही कहा जाए। सो, जो गुरुहरि के वचनों में शंका करे उसे वचनद्रोही-गुरुद्रोही और अज्ञानी में अतिशय अज्ञानी समझना। जिसे

आसरा है, उसे महाराज संतों द्वारा सच्चा ज्ञान-प्रगट पुरुषोत्तम का है यह अवश्य समझाएंगे। फिलहाल ऐसा संयोग है कि यदि जीवात्मा प्रयास करे, तो वह सहज में ही साक्षात्कार की स्थिति का अनुभव कर सकती है।

तो साक्षात् स्वरूप का ज्ञान और समग्र सत्ता से भरपूर व कर्ताहर्ता ऐसी प्रत्यक्ष मूर्ति की महिमा को समझ कर, उसे अपने जीव में उतार लेना चाहिए। सत्संग दिव्य ही है। महाराज सत्संग में अपने दिव्य और साकार रूप में सदैव मूर्तिमान विचर रहे हैं। प.पू. योगीजी महाराज की ही शरण में रहकर संतों द्वारा धाम, धामी और मुक्तों के सनातन संबंध की ऐसी अलौकिक स्थिति प्राप्त कर लेनी है व जीतेजी ही धाम के सुख की अनुभूति करके, भोग कर अन्यों को भी इस बात का एहसास कराएं। यूँ धर्मयुक्त रहकर, **'गुणातीत ज्ञान'** का प्रचार व प्रसार करना है। इसी में स्वामिश्रीजी व गुरुहरि की अपार प्रसन्नता है, है और है ही।

–मई, 1953

7

तत्त्वनिष्ठा और स्वरूपनिष्ठा

अक्षरपुरुषोत्तम के सच्चे उपासकों में सत्संग को 'जैसा है वैसा' पहचानने के लिए प्रगट की सर्वोपरि निष्ठा अनिवार्य गिनी जाती है। प्रगट व प्रत्यक्ष संत या साधु की सेवाभक्ति और समागम से ही **'तत्त्वनिष्ठा'** दृढ़ होने पर **'स्वरूपनिष्ठा'** यथार्थ में समझ में आती है। पांचों शास्त्रों से सर्वांग सम्पूर्ण मूलस्वरूप की निष्ठा परिपक्व करनी होती है।

प्रथम, **'आत्मनिष्ठा'** के दृढ़ होते **'व्यक्तिनिष्ठा'** प्रगट की उपासना और आज्ञा में रूपांतरित हो जाती है। निष्कपटभाव से सच्चा समागम व भगवान को ही कर्ता, सर्वोपरि और दिव्य साकार समझकर निष्काम सेवाभाव से भक्ति करने पर **'संघनिष्ठा'** दृढ़ होती है। तत्पश्चात् वच. अंत्य 38 के मुताबिक़, सत्संग के अनादि स्वरूप की पहचान होती है और जीवात्मा ऊर्ध्वगामी होता है एवं शिवरूप बनकर, परम शिवरूप मूल अनादि ब्रह्म में प्रवेश करके चिदाकाश में निर्गमन करता है। फलस्वरूप अखंड आनंद, सर्वोपरि सुख, शांति, प्रकाश, सामर्थ्य का अनुभव करते हुए अक्षरब्रह्म के साधर्म्य को पाता है। महाराज की अपरंपार सत्ता, गुण, ऐश्वर्य, प्रकाश, तेज़ को देखकर, दासभाव से स्थितप्रज्ञता दृढ़ करके, सच्ची स्वरूपनिष्ठा यथार्थ समझ कर, प्रगट की आज्ञा में ही तत्पर वर्तता है और अन्यों के लिए दृष्टांतरूप प्रेरणामूर्ति बनकर, गुणातीत रीति से भजन करता है और कराता है।

हमारे सत्संग में व्यक्तिनिष्ठा की खूब प्रगति हुई है, जो प.पू. ब्रह्मस्वरूप शास्त्रीजी महाराज से प्रीति वाले सभी भक्तों को गुणातीत स्थिति का अधिकारी बनाती हैं। परंतु, इस स्थिति को स्थायी रखने के लिए तत्त्वनिष्ठा और जीवात्मा का प्रकृतिपुरुष व उससे पर चिदाकाश के स्वरूपों के साथ का संबंध की यथार्थ पहचान होना अनिवार्य है। तभी तत्त्वों की महालीला, महत् तत्त्व में से उत्पन्न भूमिकाओं के प्रकट होने पर, साम्यावस्थारूप माया से बचाती है और मूल ब्रह्म का संगी बनाकर महाराज की सेवा में रहने का अधिकारी बनाती है। जैसे ही तत्त्वनिष्ठा संघनिष्ठा में परिवर्तित होती है, समग्र सत्संग दिव्य एवं समस्त क्रियाएं चैतन्य रूप प्रतीत होने लगती हैं। मूल ब्रह्म के प्रकाश से ही मृतप्रायः जीव सच्चिदानंद रूप से विचरण करके, आत्मनिष्ठा दृढ़ करते हैं। तत्पश्चात्

सत्संग द्वारा अंतराय टलने पर जीवात्मा स्वयं के स्वरूप को पहचानने में सक्षम होती है और तभी उसे महाराज के निर्दोष, सर्व कर्ता-हर्ता एवं सभी के कारण-स्वरूप होने की प्रतीति होती है। फिर सब कुछ दिव्य एवं अलौकिक प्रतीत होता है। जब तक ऐसा सत्संग दृढ़ नहीं होता, तब तक वचन की कसनी में नहीं रहा जा सकता और आत्मबुद्धि भी पनप नहीं सकती। फिर भले ही (सत्पुरुष) के साथ रहें, सेवा करें, मालाएँ फेरें या सारा दिन सत्संग के क्रिया कलापों में धक्के खाते रहें, परन्तु स्थिति नहीं हो पाती; भक्तों में अवगुण ही दिखाई देते हैं। इसीलिए सत्संग का सुख ले नहीं पाते। वास्तव में, सत्पुरुष के गुणों को प्राप्त किए और निर्वासनिक हुए बिना, न तो मूर्ति के सुख को अनुभव कर पाएंगे, न ही भोग पाएंगे।

प्रगट साक्षात् प.पू. योगीजी महाराज ने अक्षरपुरुषोत्तम की तत्त्वनिष्ठा की सच्ची पहचान कराई है; लेकिन यथार्थ रूप में तो उनके समागम से ही उसे समझ पाएंगे। जब तक जीवात्मा में परम चिंतामणि की महिमा दृढ़ नहीं हुई, तब तक जाग्रतता, साक्षीभाव, क्षेत्रज्ञभाव परिपक्व नहीं होते और सच्चिदानंदरूप-अक्षररूप की भावना ही बनती नहीं, तो पाएंगे कहां से?

अतः समागम से ब्रह्मरूप होकर, महाराज के दिव्य स्वरूप का आनंद-सुख लेकर, दासभाव से सेवा में अखंड रहना ही आदर्श है और मुक्तदशा की अंतिम स्थिति है। वच. मध्य-63, प्र. 63, मध्य-24-42-13-14-9 पर विचार करना।

हमें माया से परे के स्वरूप साक्षात् मिले हैं। सो, जो पाना था, मिलना था –वह अक्षरधाम जीतेजी ही प्राप्त हुआ है, परन्तु चिन्तामणि बालक के हाथ में है। अतः संत समागम से तत्त्वनिष्ठा – यथार्थ स्वरूपनिष्ठा दृढ़ करें, जिससे, वच. अंत्य. 29 के मुताबिक़, निर्गुणभाव से अखंड निर्विकल्प स्थिति में रहकर भगवान के सर्वोपरि सुख का अनुभव किया जा सके, भोगा जा सके, प्राप्त किया जा सके और दूसरों को भी गुणातीत ज्ञान के रसिक पिपासु बनाकर उस दिव्यस्वरूप में जोड़ा जा सके। समग्र सत्संग दिव्य लगे और अलौकिकभाव अखंड रहा करे। सभी संतों की सेवा करके और स्वरूप को निर्दोष मानकर - सर्वज्ञ जानकर अक्षरधाम की परमशांति का सुख, शुभ ही संकल्पों का सुख, साक्षात् ब्रह्म के दर्शन की प्रतीति का दिव्य सुख निरंतर भोगें और दूसरों को भी इसकी प्रतीति करा कर, मुमुक्षुओं को इस राह पर चलाएँ–यही गुरुहरिश्री से नम्र प्रार्थना।

–जून, 1953

***

8

आत्मा, अक्षर और पुरुषोत्तम का सुख

कई जन्मों के पुण्य उदय होते हैं, तब मनुष्य जन्म मिलता है। पशुओं, राक्षसों, प्राणियों तथा अन्य योनियों के दुःखों को जानने के बाद मानव यदि मानवता प्रगटाए, तो इस लोक में आनंद, सुख, सत्ता और स्वर्ग के सुख का अनुभव की साक्षात् प्राप्ति करता है। किन्तु, आत्मा और परमात्मा के परमपद का सर्वोपरि सुख प्राप्त करना तब भी शेष रह जाता है। सत्संग करते-करते वच. वड़ताल-3 के मुताबिक़ सत्पुरुष मिले तब आत्मा का सच्चा स्वरूप समझ में आता है और उनकी निरन्तर संगत रखने पर 'स्वस्वरूप' की पहचान होती है।

जीवात्मा अनेक साधन करते हुए स्वधर्म, तप, नियम, योग आदि सिद्ध करके, आत्मनिष्ठा दृढ़ करके, मुक्तभाव का सुख भोगती है। परंतु, विपरीत माहौल के कारण जिस प्रकार च्यवन, पराशर, नारदजी वग़ैरह ऋषि-मुनियों की बुद्धि विचलित हो गई, उसी प्रकार यदि आत्मनिष्ठा सिद्ध होने में कसर रह जाए, तो मुमुक्षु को शाश्वत् सुख की प्राप्ति नहीं हो पाती। हानि-लाभ, सुख-दुःख की भावनाएँ, हार-जीत के प्रहार को मुमुक्षु सह लेता है और मान-अपमान में भी समबुद्धि रखते हुए वह दुःखी नहीं होता। तब भी, जन्म-मृत्युरूपी समुद्र को पार करने के लिए उपासना और साक्षात् सत्पुरुष या भगवान व उसके संत के आसरे की अनिवार्यता रहती ही है। नदी तैरने में आत्मनिष्ठा सहायक होती है और बाह्यरूप से सुख दिखता है, पर भीतर की गहराई में झांक कर देखें तो विपरीत संजोग आने पर, गुणों के वेग में मुक्तभाव खंडित हो जाता है और जीव ब्रह्मसुषुप्ति की अवस्था में ही भ्रमण करता रहता है। प्रकृति के बंधन बाधारूप होते हैं।

आत्मनिष्ठा की सीमा को भक्तिनिष्ठा से लांघ सकते हैं। यदि साक्षात् भगवान या उनके स्वरूपों की पहचान हो जाए - वे जैसे हैं वैसे पहचाने जाएं, तो निर्गुण-निष्काम मार्ग खुल जाता है और मुमुक्षु को ब्रह्मरूप होकर, भगवान की निष्काम सेवा-भक्ति करने की सूझ मिल जाती है। आत्मनिष्ठा यदि दृढ़ हुई हो, तो अक्षर के सुख का अनुभव हो सकता है।

राग, द्वेष, ईर्ष्या, मत्सर की लहरों में ही झूमते मन पर मुमुक्षु काबू नहीं

कर पाता। उसकी कल्पना टलती नहीं। शंका-आशंकाओं से घिरा रहता है। सत्पुरुष के वचन और उनमें विश्वास व श्रद्धा से जैसे-जैसे सत्संग दृढ़ होता जाता है, वैसे-वैसे 'नवधा भक्ति' में से प्रगट की ही उपासना वाली 'प्रेमलक्षणा भक्ति' उदय होती जाती है और भगवान या वड़वानल अग्नि समान उनके सच्चे संत की दृष्टि से माहात्म्यज्ञान युक्त असाधारण भक्ति सिद्ध होती है। संकल्पों का विराम होता है। सत्संग दिव्य लगने लगता है। किसी के प्रति भी अभाव, अवगुण, मलिन वासना मन में उत्पन्न नहीं होती। दृष्टि में ही नहीं आता। भीतर में अलौकिक सुख, आनंद, आश्चर्य अखंड विद्यमान रहने लगता है। महाराज की परात्परता महसूस हुआ करती है। केवल शुभ संकल्प ही उठते हैं और ब्रह्म के साक्षात् दर्शन होने के उपरांत, महाराज का साक्षात् दर्शन होता है। जीवात्मा में दृढ़ प्रतीति होती है व कृतकृत्यता का अनुभव होता है। एकांतिक भक्त के लक्षणों से युक्त होकर, प्रभु का अनन्य आसरा दृढ़ करके, अनन्य भक्त बनता है। काल, कर्म, माया के प्रभाव से मुक्त हो जाता है। स्मृति में भगवान ही बसे रहते हैं। वच. अमदावाद–2-3, प्र. 37 के मुताबिक़ उपासना दृढ़ होने पर निर्विकल्प स्थिति की अनुभूति होती है और जीतेजी ही उस सुख को भोगा जाता है। वच. मध्य. 14, वड़ताल-1 और अंत्य. प्र. 11 के अनुसार सुख प्राप्त होता है। तब भी, भगवान के सर्वोपरि सुख, अंतिम मुक्तभाव की आत्यंतिक सर्वोत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त करना शेष रहता है। परब्रह्म को जैसा जाने, वैसा स्वयं बन जाता है और पुरुषोत्तम तो परात्पर ही रहते हैं। उत्तरोत्तर स्थान और अवस्था बदलते रहते हैं। वच. मध्य. 66 के अंतिम पैरे के मुताबिक़ जीतेजी भी ऐसा बन सकता है। वच. मध्य. 8 के मुताबिक़ ज्ञानयज्ञ का अंत ला सकते हैं व माया से साक्षात निर्लिप्तता का अनुभव कर सकते हैं।

हमारी अक्षरपुरुषोत्तम की उपासना में, शुद्ध गुणातीत ज्ञान की अंतिम कक्षा पर भगवान रूप साक्षात् साकार मूर्तियों को 'दिव्य स्वरूप' समझ कर ही हरेक सत्संगी ने उनके दर्शन किए हैं। सद्गुरुवर्य भगतजी महाराज, पू. जागास्वामी व पू. कृष्णजी अदा एवं अन्य महाएकांतिक संतों द्वारा हमें यह प्रतीति हुई है। हमारे गुरुवर्य पूज्य शास्त्रीजी महाराज ने भी ऐसे ही महाएकांतिक रत्नों-चैतन्य मंदिरों को तैयार करने का शुभारंभ खुले तरीके से करके, सर्वोत्कृष्ट स्थिति प्राप्त करने हेतु साक्षात् सर्वोपरि 'गुणातीत ज्ञान' का मार्ग सबके लिए सुगम कर दिया है। इस स्थिति को तत्काल प्राप्त करने की किसी को डूबते हुए व्यक्ति की भाँति लगन, गरज़, तमन्ना हो और श्रद्धा तीव्र हो,

तो हमारे पूज्य प्रगट ब्रह्मस्वरूप योगीजी महाराज द्वारा वह भी मूर्त होना संभव है। वच. सा. 17, वड़. 17, प्र. 64, अंत्य. प्र. 2 वग़ैरह के मुताबिक़, अक्षरब्रह्म के साधर्म्य को पाया जा सकता है और महाराज तो पर के पर ही लगते हैं। स्वामी-सेवकभाव दृढ़ होता जाता है और परमपद का अनुभव होता है। अक्षरधाम का साक्षात् सुख प्राप्त होता है। अन्यों को भी समागम करने पर उतने पल प्रतीति होती है। 'स्व' का भाव टल जाता है। कारोबार व सांसारिक–अन्य प्रवृत्तियाँ भी दूर रह जाती हैं। ब्रह्म की मूर्तियों के सिवा कुछ भी, सगे-रिश्तेदार भी ख्याल में नहीं आते और समग्र सत्संग दिव्य ही लगता है। वच. अंत्य. प्र. 2 के मुताबिक़, भगवान के सुख की अनुभूति होती है, भोगा जाता है और वह सुख अखंड रहता है। जो धाम में हैं वे ही यहां मौज़ूद लगते हैं। कल्पना टल जाती है। जीवात्मा ब्रह्मरूप में से ब्रह्मस्वरूप बन जाती है। इन्द्रियों एवं अंतःकरण और तदाश्रित अनुभव, पूर्ण ब्रह्मरूप से, साक्षात् स्वरूप को ही पहुँचता है। वच. लोया 7 तथा का. 1-7, पंचाला-7, प्र. 27 के मुताबिक़ भगवान में निमग्न रहते हुए ऐसे संत भगवान में ही लय रहते हुए अन्यों को गुणातीत करके महाराज में जोड़ते हैं। ऐसे संत से भगवान अणुमात्र भी दूर नहीं रहते। उनके द्वारा महाराज अखंड दर्शन देते हैं, बातें करते हैं और अन्यों को धाम के सुख का अनुभव करा कर, उन्हें गुणातीत करके, एकांतिकभाव सिद्ध कराके, अक्षरधाम ही बख़्शिश में देते हैं व स्वयं पर के पर रह कर, अपार सुख, सत्ता, ऐश्वर्य, प्रभा, तेजस्विता का अनुभव करते हुए, महाराज को पर के पर, अमृत के समुद्र समान निहार कर, स्वामी-सेवकभाव से सत्संग की ही सेवा-भक्ति में अखंड निमग्न रहते हैं।

–जुलाई, 1953

9

कृपा और दृष्टि

अनंत जन्मों के पुण्य उदय होते हैं, तब सच्चे सत्पुरुष मिलते हैं और उनका संबंध मिलता है। मानवबुद्धि से नापने पर वे बड़े हैं, धर्मनिष्ठ हैं और वे जीव को सन्मार्ग की ओर मार्गदर्शन दे सकते हैं–ऐसी देवबुद्धि अनुभवों द्वारा दृढ़ होती है। इसी प्रकार, सेवा-भक्ति करते करते महाराज को अवतारों के अवतारी समझकर, उन्हें सर्वोपरि, दिव्य, साकार जानकर, 'सत्पुरुष' के सत्संग से जीवात्मा संसारयुक्त मुमुक्षुता प्राप्त करता है। सद्भावना विकसित होती है। साधु के पास जाया करने की वृत्ति रहती है। उत्सवों में जाया करने का मन करता है। फिर भी दोष रहते हैं, कल्पना रहती है, संशय बना रहता है और सत्संग जैसा है, वैसा पहचाना नहीं जाता। दिव्यता नहीं रह पाती। नियम में रहकर संसार की प्रवृत्तियाँ करते-करते, यथासंभव सत्संग करते रहते हैं। अपनी देह में जैसी आत्मबुद्धि है और सगे-सम्बन्धियों में जैसी प्रीति है, वैसी आत्मबुद्धि व प्रीति सच्चे संत और सत्संगियों से नहीं हो पाती। एकांतिकभाव सिद्ध करना शेष रहता है।

निष्कामभाव व निष्कपटरूप से भगवान या उसके संत का जैसे-जैसे समागम होता जाता है, वैसे-वैसे शुद्धभाव विकसित होता जाता है। मन काबू में आते एकाग्रता बढ़ती है; महाराज की मूर्तिरूपी सत्शस्त्र व संत के वचन से महिमा समझने पर स्वरूपनिष्ठा दृढ़ होती जाती है। जीवात्मा शिवरूप बनकर एकांतिक के लक्षणयुक्त वर्तने लगता है और उपासना एवं आज्ञा की दृढ़ता करके प्रत्यक्ष स्वरूप के प्रति अपनी अनन्यभक्ति एवं निष्ठा सिद्ध करता है।

ग्यारह नियम में रहकर, महाराज व स्वामी के प्रति जिसकी निष्ठा हो और सच्चे ब्रह्मस्वरूप संत द्वारा जो 'स्थिति' को पाया हो, उसे ब्रह्मरूप होने में देर नहीं लगती। ब्रह्मभाव से **संत का समागम करने से, उस पर संत की कृपा होती है और तब ही वासना जीती जाती है।** दोष टलते जाते हैं और आत्मा व देह, नादसृष्टि व बुंदसृष्टि के पृथक हो जाने पर जीवात्मा भिन्न-भिन्न गतिओं से परमात्मा के अनुसंधान से, सत्पुरुष द्वारा–गुरुरूप हरि द्वारा ही एकांतिकभाव सिद्ध करके अनन्यभक्त बनता है। उसे दूसरों के दोष, कमियाँ, त्रुटियाँ नज़र में आती ही नहीं। अखंड दिव्यभाव ही रहता

है और वह दोष रहित होकर, ब्रह्मरूप की भावना दृढ़ करके, निर्मानीभाव से सत्संग की सेवा तथा महाराज की भक्ति निरंतर करता रहता है। इतना करने पर भी, निर्गुणभाव दृढ़ नहीं होता। महाराज एवं मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामी या उनके साधर्म्य को पाए - अखंड निर्विकल्पभाव से अलौकिक गुणातीत स्थिति में वर्तने वाले महाएकांतिक परम भागवत संतों में उसकी दृष्टि पहुँचती ही नहीं। परिस्थिति में बदलाव आने पर, माया का प्रवेग–साम्यावस्था रूप माया उसे विभ्रांत कर देती है और प्रत्यक्ष विचर रहे अतिशय बड़े प्रगट सत्पुरुष को गौण कर देती है और उनके प्रति मनुष्यभाव आ जाता है।

श्रीजी महाराज ने भी कहा है–अनादि महामुक्त हो, स्वतंत्र रूप से आया हुआ हो और स्वतंत्र रूप से जा सकता हो, फिर भी सत्पुरुष या संत के समागम के अभाव में ऐसा मुक्त भी जड़ संज्ञा को पा जाता है। अतः कुसंग तो करना ही नहीं। वच. अंत्य. 16-24 वग़ैरह में महाराज ने बताया है कि पू. गोपाळानंदस्वामी, पू. मुक्तानंदस्वामी, पू. दादाखाचर तथा बड़ी-बड़ी सांख्ययोगी स्त्रियाँ भी यदि निरन्तर सत्संग नहीं रखेंगी, तो परिस्थितियों में बदलाव आने पर वे भी मुक्तभाव से गिर जाएंगी और निम्नकोटि के भी रहें या न रहें, इसका भरोसा नहीं दिया जा सकता। इसे मूल माया का प्रभाव ही कहा जाए। इसीलिए महाराज ने आत्यंतिक प्रलय के अंत में सनातन दिव्य तीन तत्त्व जो विद्यमान रहते हैं और अतिशय सूक्ष्मभाव से जिसे 'आत्यंतिक मुक्ति' गिना है, उसमें अनादि अद्वितीय मूल अक्षर की - अनिर्वचनीय स्वरूप की अनिवार्यता बताई है। मूल अक्षर गुणातीतानंदस्वामिजी के साध्र्म्य को पाए बिना, मूल अनादि ब्रह्म के मनन द्वारा संग किए बिना पूर्ण पुरुषोत्तम को पाया ही नहीं जा सकता। धाम के इस सनातन सिद्धान्त को यह प्रतिपादित करता है। सच्चे संत या साधु की 'कृपादृष्टि' के बिना माया से अखंड निर्लेप नहीं ही रहा जा सकता। ऐसी 'दृष्टि' को ही महाराज ने सैद्धांतिक प्रसन्नता माना है।

जब प्र.ब्र. शास्त्रीजी महाराज या प्र. ब्र. योगीजी महाराज जैसे गुरुवर्य की दृष्टि जीवात्मा पर पड़ती है, तब वह सब दोषों, विकारों, सर्व राग-द्वेषात्मक द्वंद्वों से रहित होकर - निर्वासनिक होकर मूल साक्षात् स्वरूप में निमग्न रहने लगता है। धाम का सुख, आनंद, बल, प्रभा स्वयं प्राप्त करके, वच. सा. 10, अंत्य. 28, लोया 7, का. 1, 7 तथा स्वामी की बात प्रकरण 1 की 1 के मुताबिक़, वह जीतेजी शिवरूप में से 'परम शिवरूप' बनकर, साक्षात्कार की ब्रह्मस्वरूप स्थिति का अनुभव करता है एवं भोगता है। कारण शरीररूप जीव की माया एवं साम्यावस्थारूप प्रकृति की माया अदृश्य हो

जाती है और स्वयं पुरुषोत्तम रूप हो जाने पर भी उसे महाराज व स्वामी पर के पर लगते हैं। अमृत के सागर सदृश अक्षरधाम का अपरिमेय साक्षात् सुख जीतेजी ही प्राप्त कर लेता है। उसकी दृष्टि चैतन्यमय हो जाती है; सारा सत्संग दिव्य ही लगता है। धर्म में दृढ़ रह कर, वच. अंत्य. 39 के मुताबिक़, आत्मा-परमात्मा का अतिशय दृढ़ रटन हुआ करता है। बुरे संकल्प उठते ही नहीं। वह अनंत पतित जीवों को माया से पार कर सकता है। माया से पूर्णतः निर्लेप होकर, निर्विकारभाव का अनुभव करके, निरंतर स्थितप्रज्ञता सिद्ध करता है। **वच. लोया 12 के निर्विकल्प निश्चय के आधार पर साक्षात् स्वरूपों की दृष्टि से ही वह साक्षात्कार की सर्वोत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त करता है।** उसे दिव्य साकाररूप की कृतकृत्यता और पूर्णता के अनुभव की प्रतीति, सहजभाव से और स्वाभाविक रूप से ही, अखंड रहा करती है। ऐसी गुणातीत स्थिति को महाराज, स्वामी या साक्षात् सच्चे संत की 'कृपादृष्टि' के बिना प्राप्त किया ही नहीं जा सकता। मुक्तभाव की यह चरमसीमा है। महाराज उसके वश में रहते हैं। फिर भी, वह भक्त दासभाव से, अनन्यभक्ति करते हुए एकांतिक संत के लक्षणयुक्त (होकर) समग्र सत्संग को दिव्य समझकर, माया से निर्लेप रहकर अखंड आनंद का अनुभव करता है और अन्यों को भी गुणातीत करता है। पू. योगीजी महाराज ऐसे ही अमूल्य रत्न तैयार कर रहे हैं और उनकी अखंड कृपादृष्टि समग्र सत्संग पर रहे, यही अभ्यर्थना है। यूं, संस्कारिता, मुमुक्षुता, आशीर्वाद, कृपा और सच्चे संत की दृष्टि के मुताबिक़ स्थिति और स्थानों के भेद मुक्तों में दिखाई पड़ता है और दूसरों को भी प्रतीति होती है। इसे अनुभव से जाना जाता है।

–जुलाई, 1953

10

साकाररूप की अनुभूति

प्रगट सूर्य के बिना अंधेरा नहीं टल सकता और वास्तविक रूप से दूध पिए बिना भूख नहीं मिट सकती; उसी प्रकार भगवान के प्रकट स्वरूप से संबंध हुए बिना आत्यंतिक कल्याण भी संभव नहीं। मोक्ष होना आसान है, मुक्ति मिलना भी विशेष मुश्किल नहीं है। परंतु, ज्ञानप्रलय करके, निर्विकल्प रूप से भगवान के सच्चे मूल स्वरूप को प्राप्त करने, धारण करने और स्वामीसेवक भाव से निरंतर सेवा-भक्ति में निमग्न रहने की आत्मा की सर्वोपरि साक्षात् स्थिति प्रकट गुरुरूप हरि से संबंध हुए बिना अशक्य-असंभव ही है –फिर चाहे कोई पंडित हो, त्यागी हो, नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो या परोक्ष का अनन्य भक्त ही क्यों ना हो? 'गुणातीत ज्ञान' सिद्ध किए बिना और प्रगट गुरुरूप हरि की अनन्य निष्ठा के बिना माया से निर्लिप्त होना संभव ही नहीं। यही है दिव्य साकाररूप की भावना। स्वामिश्रीजी के सनातन सिद्धांत के रूप में 'वचनामृत' तथा 'पू. स्वामी की बातों' द्वारा और पू. योगीजी महाराज ने अपनी बातों में रहस्यरूप से रुचि व अभिप्राय के रूप में सूक्ष्मभाव से सूचित किया है और प्रगट संत या सत्पुरुष द्वारा ही उसका साक्षात्कार हो सकता है।

नग्न सत्य कहने वाले सोक्रेटीस को इस लोक के अल्पज्ञ व नासमझ मनुष्यों ने ज़हर दिया; क्योंकि ऐसे कटु सत्य को पचा पाना मुश्किल हो गया था। ऐसा ही सभी महान विभूतियों के जीवन में दिखाई पड़ता है। ताज़ा ही उदाहरण महात्मा गाँधी का है। क्राईस्ट व गॅलीलीयो को भी सत्य बोलने के कारण समाज द्वारा क्रूरतम सजा दी गई। इतना सब होने पर भी, असुरभाव विलीन हुआ और नग्न सत्य बाहर आया है और जगत का उद्धार भी इसी से होने वाला है। ऐसी पुण्य आत्माओं की अमीदृष्टि से और पू. योगीजी जैसे साक्षात् संत स्वरूपों से ही जीवन शांत, सरल और सुखी रह सका है और सत्संग भी सुदृढ़ हुआ है। परंतु, जब तक मायिकभाव रहता है, अन्तःकरण की कल्पनाएँ और शंकाएँ रहती हैं, भेददृष्टि बनी रहती है, तब तक यह जगत रहता है, यह प्रकृति रहती है और इस देह समेत उसकी सर्व आधि, व्याधि और उपाधियाँ यूं ही घेरे रह कर, जीव को व्यर्थ ही परेशान करती रहती है। प्रगट गुरुरूप परम चिंतामणि की पूर्ण रूप से

महिमा समझ में आते ही, वच. मध्य 63 के अनुसार जीव तत्काल बलवान हो जाता है। वच. अंत्य. प्र.-2, 38, 39, मध्य-54, प्र. 54 के अनुसार सत्संग दृढ़ होने पर, वच. कारियाणी–1, 7, मध्य-66, अंत्य 28 के मुताबिक़ इन्द्रियाँ–अन्तःकरण और जीव के भ्रामिक रूप बदल जाकर, भ्रमरी द्वारा छत्तीस दंश खाकर पिल्लु (कीड़ा) से परिवर्तित हुई भ्रमरी की भांति सत्पुरुष के द्वारा दी गई कसनी से वह भी 'भ्रमरी रूप' बन जाता है और कसनी का अखंड अनुसंधान रखकर स्वामीसेवक भाव से प्रगट संत के चरणों में रहकर, ब्रह्मभाव में रहते हुए स्वामिश्रीजी की उपासना और आज्ञा का पालन करते हुए, वह जीतेजी भगवान के ही सुख का अनुभव करके भोगता है और प्राप्त करके दूसरों को भी उसकी प्रतीति कराता है तथा दिव्य साकार भाव की दृढ़ प्रतीति के दिव्य आनंद में सभी को सराबोर कर देता है। उस समय देहभाव पूर्णतः विस्मृत हो जाता है। जो कुछ खोजते रहते थे, जिसकी कामना करते थे, उसकी तृप्ति होने पर आश्वस्त होते ही भीतर में शून्यता का एहसास मिट जाता है और परमानंद, परम शांति एवं परम सुख की अनुभूति होती है और उस स्थिति को शाश्वत् रखने की इच्छा, अभीप्सा रहा करती है। स्वामी और श्रीजी परात्पर लगते रहते हैं। दृष्टि चैतन्यरूप हो जाती है व उसे किसी में दोष अभाव, कमियाँ दिखाई नहीं देतीं। यहां तक कि पंचभूतों और प्रकृति के कार्य भी नज़र में नहीं आते। प्राणवायु से उत्पन्न बुदबुदों की भाँति असंख्य संकल्प, शंका-आशंकाएँ विलीन हो जाती हैं। फिर, ज्ञान समाधि के रूप में अखंड स्मृति सदैव रहती है। दिव्यस्वरूपों के साकारभाव की अतिशय दृढ़ प्रतीति को पाकर, वच. प्र. 75 के अनुसार, धाम, धामी और मुक्त आत्यांतिक प्रलय के बाद भी सनातन, शाश्वत् व साकार रहते ही हैं–यह तथ्य अन्यों को भी समागम करते रह कर, प्रत्यक्ष गुरुहरिश्री के चरणों में ही निमग्न रहते हुए, आसरारूपी-शरणागतिरूपी खूब आसान व सर्वोपरि विहद अक्षरधाम को जीतेजी सरलतापूर्वक प्राप्त करने का अनुभवगम्य मार्ग खोल देते हैं। सबीज गुणातीत ज्ञान का प्रकाश सर्वत्र फैलता जाता है। असंख्य जीवों को शिवरूप की कक्षा से परम शिवरूप वासुदेव में प्रविष्ट करा कर, मूल अनादि ब्रह्म में अग्रसर करते हैं। साथ ही साथ, उनसे साधर्म्य प्राप्त करा कर स्वामिश्रीजी की सेवा का परम अधिकारी बनाते हैं।

ऐसे संतों की चरण-रज तो महाराज भी शिरोधार्य करते हैं। इनके दर्शन से अनंत पतित जीवों का उद्धार होता है (वच. प्र. 37)। परंतु, जब तक प्रत्यक्ष गुरुरूप हरि के प्रति साकारभाव की अतिशय दृढ़ता न हो, तब तक कर्ताभाव (माना नहीं जाता),

निर्दोषबुद्धि (रहती नहीं) और अंतराय टलता नहीं। यह कसर रह जाती है। अतः अहंभाव बना रहता है। सो, दिव्य सुख को भोग नहीं पाते। इसलिए प्रत्येक सत्संगी, तनिक भी अंतराय रखे बिना, निष्कपटभाव से अपने मन को प्रगट साक्षात् गुरुहरि (पू. योगीजी महाराज) के चरणाविंद में सहज ही अर्पण कर दें और अक्षरदेरी की महिमा गाया करें। इससे परमानंद, परम सुख एवं शांति का अनुभव होगा। अपनी सारी चिंताएँ महाराज को सौंप देने पर, स्वामिश्रीजी अखंड रक्षा अवश्य करेंगे ही। 'दास के दुश्मन हरि कदु होवत नाही'; अतः वे जो करेंगे उससे सुख ही मिलेगा। सो, वच. प्र. 37 में दी गई समझ से दिव्य साकारभाव की अतिशय दृढ़ प्रतीति प्रत्येक सत्संगी दृढ़ करे और प्रत्यक्ष-प्रगट की ऐसी निष्ठा जीवन में साकार करके धाम के दिव्य सुख का अनुभव करे, उसे भोगे व प्राप्त करे।

–अगस्त, 1953

11

सर्वोपरि ज्ञानप्रलय

– तूर्या और साम्यावस्थारूप माया –

सामान्य ज्ञान और विशेष ज्ञान या एकांतिक के गुणातीत ज्ञान के बीच अत्यधिक अंतर है। ऐसे ही स्थिति और प्राप्ति में भी फर्क रहता है। प्रकृति के कार्यों, क्षेत्रों, उपाधियों और अनंत आधारों से युक्त माया का त्रिगुणात्मक स्वरूप है। महाराज ने शिक्षापत्री व वचनामृतों में तथा सम्प्रदाय की अन्य पुस्तकों में जीव के स्वरूप को जो अनादि अज्ञानयुक्त कारण शरीर युक्त बताया है, वह जीव की ही 'माया' है। जीव, ईश्वर, अवतारों और महापुरुष, प्रधानपुरुष वग़ैरह की उपाधियाँ उनकी सत्ता, सामर्थ्य, ऐश्वर्य, गुण और प्रभायुक्त 'महामाया' के स्वरूप से अखंड उत्पत्तिक्रम में जुड़ती है। 'महाकारण' की संज्ञा को पाकर, उसे समझ कर, उसका अनुभव करके जब स्वामिश्रीजी की सर्वोपरि शुद्ध उपासना करके सच्चे वड़वानल अग्नि समान संत का आसरा लेकर, ज्ञानप्रलय करके निष्काम भक्ति करता है, तभी 'आत्यंतिक मुक्ति' को पाता है। महामाया का दूसरा स्वरूप जिसमें तूर्यावस्था ही प्रधान रूप से होती है, वह जीती जाती है–उससे पर हुआ जाता है और जीव ब्रह्मसंज्ञा को प्राप्त करता है तथा वासुदेव की निरन्तर भक्ति व उपासना किया करता है।

शुद्ध ज्ञानमार्ग अत्यंत गहन, अथाह, अगम्य और सूक्ष्म है। गुणातीत ज्ञान को आत्मसात् करने के लिए मुमक्षु की पात्रता, अधिकार और आसरे की उत्तम स्थिति 'निर्विकल्प निश्चय' सहित अनिवार्य शर्त है। उपशम दशा से पर साम्यावस्था रूप माया है। भगवान या प्रगट संत के मिलने के बाद विभ्रांत दशा आरंभ होती है। जहां साक्षात् अपरोक्ष प्रत्यक्ष ज्ञान है, स्वरूप हैं, वहीं परमपद, आत्मनिष्ठा और साक्षात्कार की अंतिम अवस्था का अनुभव व प्राप्ति होती है। वच. अत्यं. प्र. 21 में महाराज ने धाम के पार्षदों से भी प्रगट प्रभु के सत्संगी की सभा तथा उन हरिभक्तों को जिन्होंने स्वामिजी का अनन्य आसरा लिया है, उन्हें अधिक विशेष गिना है। ब्रह्म और परब्रह्म की बातें साक्षात् प्रगट संत के द्वारा सिद्ध करनी–वह केवल अनन्य भक्तों और एकांतिक के गुण युक्त जो हों

उन्हें ही होती है। इस हेतु वच. अमदावाद-2, वच. ग.म. 30, 45, 21 का मनन करें।

ब्रह्मसंज्ञा की अनंत श्रेणियाँ हैं। भगवान के अतिरिक्त अन्य किसी इच्छा, संकल्प भावना व आदर्श का होना ही एकांतिक के लिए 'माया' कहा जाएगा। भरतजी तथा अन्य अनेक मुक्त इसी 'योगमाया' के जंजाल में फँस चुके हैं। जब तक शुद्ध गुणातीतज्ञान मूर्तिमान नहीं होता, तब तक 'महाकारण' से परे की 'महामाया' अपनी निजी निर्गुण-शक्ति के बल पर, भक्त को चतुर्धामुक्ति (सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य)

या

ब्रह्मांड का संचालन आदि, शक्ति, सामर्थ्य प्राप्त करने की लालसा

या फिर-

भगवानरूप बनकर पूजे जाने की महत्त्वाकांक्षा,

गुरु बन कर अपने निजी इरादों को दूसरों पर थोप कर, अन्यों को अपनी रुचि अनुसार बरताव करने के लिए विवश करना आदि योगमाया में फँसाते हैं।

भगवान भी काल, कर्म और उत्पत्तिक्रम की माया को (एकांतिक) भक्त के मार्ग में न आने का आदेश देते हैं, ताकि शुद्ध ज्ञानांश के वैराग्य को सिद्ध करने के उपरांत केवल महाराज के अतिरिक्त अन्य कोई आलंबन, आधार, आसरा या अवस्था शेष न रहे। केवल महाराज को ही अखंड व अविरतरूप से धारकर साक्षात् गुरुरूप हरि के द्वारा स्वामीसेवक भाव से मूलअक्षर के साधर्म्य को पाकर जो मुक्त सर्वोपरि उपासना दृढ़ करता है, उसे ही 'साम्यावस्थारूप माया' बाधारूप नहीं बनती।

अनंत मुक्तों में ज्ञान का जो भेद रह जाता है, वही साम्यावस्था रूप माया का स्वरूप है। जड़संज्ञा को पाना या तो कुसंग में फँस कर सत्संग से डिग जाना, सत्संग से गिर जाना या तो बाधितानुवृत्ति के रहने से एहसास होता अधूरापन वगैरा उसका लक्षण गिना जाता है। इसीलिए महाराज ने वच. अत्यं. प्र. 16, 24 में बड़ों-बड़ों और परमहंसों तथा दादाखाचर, गोपाळानंदस्वामी, मुक्तानंदस्वामी भी कुसंग से उतरते जैसे रहे या नहीं उसमें शंका जताई है। स्वतन्त्र मुक्त आए हों, उन्हें भी साधु तथा संत गौण न हो जाएं, इस हेतु साम्यावस्थारूप माया से बचना अनिवार्य है। महाराज के समय में बारह भगवान हुए थे! प्रगट के ज्ञान के आसरे में ज़रा-सी चैतन्य शक्ति का आर्विभाव होते, अभी भी कई-कितने ही भगवान होकर पूजे जा रहे हैं। यही योगमाया का स्वरूप है।

जो माया से सदैव, अखंड निर्लिप्त है, उसमें तनिक भी मायिकभाव,

लौकिकभाव या ब्रह्मसंज्ञा भाव होता ही नहीं। ऐसे तो सिर्फ अनादि मूल अक्षर ही हैं और ऐसे गुणातीतानंदजी द्वारा जो ज्ञान प्रवर्ता, वही जीव को माया से पर कर सकता है। वच. मध्य. 45 के मुताबिक़ वही ज्ञान, विषय-वासनाओं को निर्मूल करके, स्वभाव या मूल प्रकृति को टालकर, अक्षररूप–ब्रह्मरूप करके पुरुषोत्तम में जोड़ता है। वच. लोया 12 के अनुसार, तब धामरूप–अक्षररूप रहकर अंतिम 'निर्विकल्प निश्चय' दृढ़ होता है। वच. प्र. 27 और वच. अंत्य. 26 के अनुसार ऐसे संत में महाराज साक्षात् अखंड रह कर प्रगट विचरण करते हैं।

ऐसे स्वरूपों का संग ही जीव को ब्रह्मरूप करता है और वे मुक्त भी सच्चे साधु के संग से 'ब्रह्म की ही मूर्तियाँ' माने जाते हैं। परन्तु, चैतन्य का साक्षात् ज्ञान होने पर, दर्शन होने पर विभ्रांत दशा या उपशम के वेग में जीव बहक न जाएं और साधु को गौण न कर दें व सत्संग में अखंड दिव्यता निरंतर स्थिर रहे, इस हेतु ब्रह्मस्वरूप सत्पुरुष द्वारा वच. लोया 12 के मुताबिक़ का अंतिम निश्चय करने की जरूरत रहती है और वच. कारियाणी 1, 7 के मुताबिक़ जीतेजी ही पिल्लु की भ्रमरी बनना पड़ता है। इससे भगवान की निर्गुण योगमाया के जंजाल में फँसते नहीं। ऐसे ब्रह्मस्वरूप संत के पास ही साम्यावस्थारूप माया का सदंतर अभाव रहता है और वहीं उनके समागम से ब्रह्मरूप बन सकते हैं व ब्रह्मस्वरूप की अंतिम स्थिति सिद्ध होती है। अतः सभी को सत्पुरुष में आत्मबुद्धि और उनके द्वारा ही सर्वोपरि भावना दृढ़ करके ज्ञानप्रलय का साक्षात्कार करना है। वच. मध्य. 8, कारियाणी 7, पंचाला 7, प्रथम 51, प्रथम 24 वगैरा के अनुसार, ज्ञानयज्ञ की पूर्णता भी तभी मानी जाएगी।

चिन्तामणिरूप देह से परम चिंतामणिरूप साक्षात् वड़वानल अग्नि समान गुरुरूप हरि के द्वारा साक्षात् ज्ञानसमाधि में चिंतामणिरूप भगवान अखंड पा सकते हैं, ज्ञानप्रलय का अंत आता है। इस सर्वोपरि आदर्श में ही पुरुषार्थ का, कल्पना का और भावना का समावेश हो जाता है। यहाँ दर्शन के साथ ही ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान एकरूप ही-एकत्व को पा जाता है और अहोहोभाव लगातार रहता है। महाराज का परात्पर भाव कायम रहता है और अपार अनवधिकातिशय अमृत के महाधोध में निमग्न रहा जाता है। गुरुहरि सभी को जीतेजी ही ऐसा अलौकिक ज्ञान सुलभ करा कर सिद्ध कराएँ...

–सितंबर, 1953

***

12

सीमा

सीमा अर्थात् छोर (चरमबिंदु) – अंत। गांव की, घर की, भोग की और समृद्धि की एक निश्चित सीमा होती है, यह ज्ञानी पुरुष भलीभांति समझते हैं। अपने निजी अनुमान तथा अनुभवज्ञान से वे निरंतर जागरूक रह कर, सावधानीपूर्वक संयम - मर्यादा में रहने का उद्यम किया करते हैं, ताकि भगवान या वड़वानल अग्नि समान सच्चे प्रगट संत की आज्ञा व उपासना, अखंडित सेवा-भक्ति करते-करते ही, अविभाज्यरूप से रहे व भगवान का प्रगट सुख जीतेजी ही मिलता रहे व उसकी प्रतीति भी होती रहे।

स्वामिनारायण भगवान ने इन्द्रियों की सीमा का आकलन करके, अन्वेषण करके, अपने अनुभवों को निचोड़ के रूप में और शिक्षापत्री, वचनामृतों एवं अन्य बातों के प्रसंगों व भ्रमण आदि में सभी को स्पष्ट बता दिया और लालबत्ती कायम के लिए रख कर, सत्संगी मात्र को इस लोक व परलोक - अक्षरधाम में भी अपार सुखी कर दिया। अनादि मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानन्दस्वामी ने उनकी सात प्रकरण की बातों में अंतःकरण व माया के त्रिगुणात्मक स्वरूप की, महाकारण व भगवान की साम्यावस्थारूप योगमाया की भी सीमा दर्शायी है। तद् अनुसार ‘उपासना, आज्ञा, एकांतिक का निरंतर संग और भगवदी के साथ सुहृद्भाव’ – इन चार बातों में ही जीव का जीवन - सार का सार स्पष्ट बता कर, ब्रह्मरूप कैसे हुआ जाए और सत्पुरुष के मंगलकारी गुण, कल्याणकारी भावनाएँ व गुणातीतज्ञान को किस प्रकार जीतेजी प्राप्त किया जाए, उसका दिव्यरूप से साक्षात्कार करा के, धाम का सुख बख़्शिश में दिया है। उन्होंने पुरुषोत्तम के आकार से दृष्टि और वृत्ति सिखा कर माया की भिन्न-भिन्न सीमाओं, वहाँ आती कठिनाईयों व अतर्क्य, अगम्य अपार अनुभवों से सभी को अवगत कराया और छठे निर्विकल्प निश्चय की स्थिति साध्य बना दी है। यही मूलअक्षर की अनिवार्यता सिद्ध करता है।

महाराज भी कहते कि स्त्री व ऋषि का अंत कभी लेना नहीं। जो देवता और अवतार अपने स्वधर्म से ज़रा - सा च्युत हुए, उन सभी को कलंक लगा। उदाहरण

के लिए, नारदजी तथा भरतजी जैसे ब्रह्मज्ञानी व आत्मज्ञानी भी अपनी स्थिति से डगमगा गए। अतः प्रगट सत्पुरुष द्वारा भक्त को अपनी आत्मा के स्वधर्म व वर्णनातीत मूल स्वभाव को साध कर, मूर्तिमान सच्चिदानंद रूप का अनुभव व अनुभूति करके उन्हें प्राप्त कर लेना चाहिए। गोंडल अक्षरदेरी में मन, चित्त, अहं, ऐश्वर्य, सत्ता, सामर्थ्य एवं सिद्धियों की सारी सीमाएँ गुणातीत के चरणों में विलीन हो जाती हैं और जीव की यही अंतिम मंज़िल है - सीमा है। यहाँ ब्राह्मीस्थिति संपूर्ण रूप से प्राप्य बनती है और जीव अपने प्रकृतिभाव को भूल कर, सहज ही अक्षररूप होकर, पुरुषोत्तम के प्रगट स्वरूप में सदैव के लिए निरंतर जुड़ जाता है और एकत्व का अनुभव करके, अन्य को भी उस दिव्यानंद-स्वाभाविक सहजानंद की प्रतीति करा कर, उन्हें अपार सुख प्रदान कर देता है।

पशुओं और मानवों के बीच का जो महाभेद–वही मनतत्त्व और बुद्धितत्त्व के प्रगटीकरण की विशिष्टता है। मुमुक्षु को ज्ञान, जीवन, आत्मा और जगत एवं माया के स्वरूपों के संबंधों की सीमायें ही ढूंढनी हैं व उनके सच्चे स्वरूपों, गुणों - लक्षणों को पहचान कर, जीतेजी ही दिव्य जीवन प्राप्त करना है।

प.पू. गुरु श्री योगीजी महाराज ही ऐसी सीमाएं और पुरुषार्थ का अंत एवं पूर्णता की परिसीमा को प्राप्त करवा सकते हैं। अतः,

★ मनुष्य जीवन की अंतिम सीमा क्या?

★ ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, धर्म, आत्मनिष्ठा का अंत क्या?

★ जगत एवं इन समग्र भावनाओं और संबंधों का अंत क्या?

यह स्पष्ट समझकर, जानकर, प्राप्त कर लेने हरेक को साधु का समागम कर लेने की ज़रूरत है। इस हेतु, अक्षरदेरी में गुरुवर्य योगीजी महाराज के समागम में कुछ समय बिता कर, स्वानुभव से अपार सुख, शांति, आनंद और सद्‌गुणों को प्राप्त करके, जीवन को सहज ही दिव्य बना लेने की आवश्यकता है। ऐसा अनमोल अवसर, मौका हमें मनुष्य देह में फिर कभी नहीं मिलेगा। इसलिए करोड़ों काम बिगाड़ कर भी, ऐसा आत्यंतिक मोक्ष - कल्याण पा लेने का हर सत्संगी का फर्ज़ है। महाराज व स्वामी के अतिरिक्त वृत्ति या दृष्टि अन्यत्र कहीं नहीं रहे, तब आत्मा - अनात्मा की ऐसी सीमा आएगी और मलिन विचार, भावना, संकल्प बिल्कुल बंद हो जाकर, विक्षेप, कल्पना, शंका-आशंका, अपूर्णता मिट जाएगी, अखंड अहोहोभाव रहेगा और भक्तों की दासभाव से सेवा

हुआ करेगी।

गुरुवर्य योगीजी महाराज से विनम्र प्रार्थना कि सभी निष्ठावान सच्चे हरिभक्तों को वे ऐसी अलौकिक स्थिति प्राप्त कराएं। तभी 'संघनिष्ठा' की महासीमा सत्संग में दीप से दीप प्रज्ज्वलित करके, अनंत दीपों एवं ज्योतियों को प्रगटाएगी। फलस्वरूप प.पू. शास्त्रीजी महाराज की अपार महिमा व माहात्म्य का दिव्य सुख संपूर्ण मानवजाति के लिए सुलभ होगा एवं गुणातीतज्ञान का ब्रह्मांड में प्रवर्तन होने से प्राणीमात्र को अपार सुख की प्राप्ति होगी। ऐसे दिव्य रत्नों की दिन-प्रतिदिन वृद्धि हो और ये महामुक्त अक्षरपुरुषोत्तम के सर्वोपरि, सनातन, अनादि, सत्य, श्रेष्ठ ज्ञान की प्रवृत्ति का विजयध्वज सर्वत्र फहरा कर सभी का मंगल करें, कल्याण करें–यही अभ्यर्थना।

–नवंबर, 1953

13

जीवन, यात्रा या संग्राम ?

–लौकिक और अलौकिक दृष्टि से–

महाभूतों के विकासक्रम के साथ-साथ महातत्त्वों का प्राकट्य भी हुआ है। चैतन्य तथा मन और चित्त के संबध अनादि काल से ही अहम् ममत्व की भावनाओं से जुड़े हुए हैं। इस तथ्य को समझने, परखने व प्राप्त करने के लिए जहाँ महर्षि वेद व्यास ने वेदों व भागवत जैसे ग्रंथों की रचना की, तो दूसरी ओर मूर्तिमान भगवान ने अपने आविर्भाव से सभी को संबंध देकर जीव के लिए जीतेजी ही परिपूर्णता प्राप्त कर लेना सरल कर दिया। इस अलौकिक संबंध, पुरुषार्थ, प्रवृत्ति और प्रतीकों की सिर्फ वड़वानल अग्निसमान सच्चे सत्पुरुष–प्रगट गुरुरूप हरि द्वारा ही समझाए जाने पर पहचान हो सकती है और तभी शांति, आनंद, सुख, बल, सामर्थ्य व कृतकृत्यता की प्राप्ति के लिए किए जा रहे महामूले जीवन संग्राम में जीतेजी ही विजय प्राप्त की जा सकेगी। तभी जीवन शुद्ध बनेगा, वृत्तियाँ निर्मल होंगी और वासनाएँ कुंठित होकर प्रगट पुरुषोत्तम के स्वरूप में जुड़ सकेंगी। तभी एकांतिकभाव दृढ़ करके स्वामीसेवक भाव से सत्संग में अखंडित दिव्यता स्थिर रह सकेगी तथा जीवनयात्रा का अविभाज्य रूप से निरंतर बहते दिव्य झरने का महाधोध पूर्णब्रह्म के साथ पूर्णत्व को पा जाएगा। दिव्य दृष्टि से धाम, धामी और मुक्तों के अटूट ऐक्य को निरंतर दृढ़ करने पर गुणातीतज्ञान, प्रभुता और प्रकृतिपुरुष से पर का सच्चा ज्ञान सर्वत्र फैल कर सभी को परम सुखी कर देगा और तभी जीवनयात्रा का अंत आया कहा जाएगा। जीवनमुक्तों या विदेही मुक्तों स्वतंत्र रूप से, माया से अखंड निर्विकल्पभाव, निर्विकारभाव दृढ़ करके अनेक को गुणातीत करके, एकांतिक बना कर मूल अक्षर से साधर्म्य करा कर स्वामिश्रीजी में जोड़ेंगे और जीतेजी ही उन्हें भगवान का सुख देंगे।

हे पथिक! तुम ताजमहल, कुतुबमीनार, राजमहल, लालकिला और असंख्य शिलालेख-प्रसिद्ध पुराने खंडरों को मानवजीवन के प्रवाही व पुरुषार्थ के स्थूल प्रतीक के रूप में निहारो और उनमें अंतर्निहित मानव की अमरगाथा-जीवन को अखंड टिका कर रखने की व्यग्रता, लगन को भी निहारो। गूढ़ प्रतीकों के मौन गीतों को शांत चित्त से

सुनना और उनके पीछे रही भावना, प्रणाली, त्याग या सामर्थ्य के आदर्श को कालचक्र की संस्कृति की घड़ियाल की सुइयों से नापना और यह अनुभवजन्य ज्ञान महतजीवन के लिए उपयोगी हो सके व स्वाधीनता से प्राप्त हो सके, इस हेतु अखंड स्मृतिरूप से नोट कर लेना और अंतर में गहराई तक उतार लेना। ऐसी स्मृतियों के संस्मरण तुम्हारे जीवन के अखंड दिव्य स्रोत बन कर ही रहेंगे और फूलों के समान अपनी सुवास प्रसरा कर अनंत के जीवन को सुन्दरता के तत्त्वों से प्रफुल्लित बना कर ही छोड़ेंगे।

मानसिक क्षेत्र में ऐसे अनेक प्रयास किए गए हैं। भगवान ने सामान्य व्यक्तियों द्वारा अद्‌भुत प्रकार की अनेक नवीन वैज्ञानिक खोज जैसे हवाई ज़हाज़, टेलीविज़न तथा अनंत आकाशीय उड़नतश्तरियों की गति और सागर एवं पृथ्वी की गहराई को नापना संभव बना कर, सबको ही आश्चर्यचकित कर दिया है - स्तब्ध कर दिया है और ऐसी महाखोजों के बावजूद समग्र ज्ञान - आईनस्टाईन - मेकीनटोश जैसे महान वैज्ञानिक अंततः अपने अनुभव के आधार पर यही कहते हैं कि फिलहाल यह तो शुरुआत की गिनती के 'एक' की तरह केवल थोड़ी-सी झाँकी रूप ही है। अब सभी मानने लगे हैं कि सापेक्षवाद से भी पर सनातन तत्त्वों की महालीला को देखना या समझना तो इंद्रियों व अन्तःकरण के सामर्थ्य से परे है। इससे प्रमाणित होता है कि आध्यात्मिक क्षेत्र की सर्वोपरिता, भौतिक क्षेत्र के मुकाबले, अनंत गुणा है।

आध्यात्मिक क्षेत्र की विचार, विवेक, संयम व शुद्ध उपासना की भूमिका पर ही ऐरिस्टोटल, प्लेटो, नीत्से, शोपनहोअर, टैगोर, विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, क्राईस्ट, मोहम्मद पैगम्बर, गौतमबुद्ध, महावीर स्वामी और अन्य कई अवतारों, विभूतियों तथा अंततः अवतारों के अवतारी, कारणों के कारण, सर्वोपरि भगवान सहजानन्दस्वामी ने अपने अनन्य भक्तों–मुक्तों व मूर्तिमान अक्षरधाम सहित पधार कर, केवल करूणा से ही, मानव जीवन को दिव्य जीवन की सम्पत्ति - सुख, आनंद और शांति बख़्शिश में दिए हैं। वच. वड़. 19, वड़ 10-11 के अनुसार उन्होंने भरतखंड में, संतों के रूप में, साक्षात् स्वरूप द्वारा कल्याण का, मंगल का, आत्मा-परमात्मा के साक्षात्कार का, कारण शरीर टालने का, ब्रह्मरूप होकर परब्रह्म पुरुषोत्तम में जीतेजी ही जुड़ने का अक्षरधाम का अलौकिक मार्ग खुला प्रशस्त करके व स्थावर - जंगम तीर्थों की स्थापना करके मानव जीवन को महासमृद्ध बना दिया। इन संतों और अवतारों के लीलाचरित्रों का श्रवण व गायन करने पर ऐसी 'आध्यात्मिक जीवन यात्रा' समझ में आ जाएगी और पथिकों को यात्रा के

अपूर्व आनंद व अनन्य सुख की प्राप्ति होगी। साक्षात् संत ही मूर्ति, तीर्थ व शास्त्र का सृजन करता है और उनमें प्राण प्रतिष्ठा कर उन्हें जीवंत रखता है। धर्म का लय होने पर एकांतिक धर्म एकांतिक साधु-संतों के चरणों में ही स्थित हो जाता है। अतः जंगमतीर्थ ही सर्वोपरि एवं सर्वश्रेष्ठ है। वच. प्र. 54 तथा वच. म. 54 व वड़. 11 और अंत्य-2 के वचनामृतों पर विचार करना।

इस अलौकिक यात्रा के दौरान दिल्ली, छपैया और परोक्ष के स्थान भी देखने को मिलेंगे। वहाँ प्रगट (सत्पुरुष) के चरित्रों, मुक्तों को उनके और अन्यों के स्वभाव, अहम्, मन और चित्त के रागद्वेषात्मक स्वरूप का मूर्तिमान दर्शन होगा। प्रत्येक सत्संगी गुणातीतज्ञान को न भूलकर शब्दातीत, भावातीत व गुणातीत वर्ते और किसके संग भ्रमण कर रहे हैं इस बात का अखंड अनुसंधान रखकर धाम के ही महामुक्तों की सेवा करने का दुर्लभ मौका जो मिला है, वह अलभ्य मौका-माहात्म्य ज्ञान सहित असाधारण भक्ति का सभी यात्री लाभ उठा लें। इस हेतु श्री छगनभाई, अंबालालभाई, बाबुभाई, खेंगारजीभाई, विनायकराव साहेब, सेठश्री नारणभाई, झवेरभाई, कांतिलाल, मगनभाई, रणछोड़भाई, हकाखाचर, मणीभाई सलाडवाले, रणछोड़भाई भादरणवाले, भगवतसिंहजी को शांति से काम करने दें और सभी का हित हो, ऐसी प्रवृत्ति कराते-कराते एक दूसरे का सहन करते हुए, अपूर्व शांति व शिस्त रखकर प.पू. शास्त्रीजी महाराज के नाम की शोभा अपूर्व बढ़ायें तो यह महायात्रा संपूर्ण सफल हुई मानी जाएगी। इस बात का विश्वास रखना कि यदि गुण, भाव, स्वभाव, आदत की वृत्तियों के द्वंद्व खड़े होने पर, सत्संगरूपी दर्पण में हर कोई स्वयं के अंतर को टटोलते हुए, दिव्यता कायम रखे तो स्वामिश्रीजी अपार दिव्य सुख देंगे ही।

प्रगट की इस अपार महिमा को ध्यान में रखते हुए, खाते, सोते, सभा में, गाड़ी में, बातों में, नहाते-धोते देहाभिमान, स्वभाव, प्रकृति व मूल आदतों का ऊपर-ऊपर से क्षणिक भावावेश का बाह्य प्रदर्शन ना हो, वह सभी ध्यान रखना।

स्वामिश्रीजी अपार दिव्यता प्रगटाकर सभी को अलौकिक सुख दें, यही अभ्यर्थना। जो भी इस यात्रा में आए हैं उनके भाग्य का पार ही नहीं और उसका अक्षरधाम सुवर्णाक्षर से जीव में ही निश्चित लिखा गया ही है यूँ अवश्य माने और अनुभव करे व अखंडित रखे यही गुरुहरिश्री से नम्र प्रार्थना है। प.पू. शास्त्रीजी महाराज द्वारा प.पू. प्रमुखस्वामिजी को दिए वचन को प्रगट गुरुहरि योगीजी महाराज पूर्ण करके, सभी को गुणातीत करते

हुए सभी को अलौकिक सुख देकर, अनेक कार्य पूर्ण कराएंगे और स्मृतिरूप में जीवन के लिए आत्मा की खुराक देंगे। इसलिए अफ्रीका मंडल आदि की ओर से समग्र सत्संग मंडल से सभी संतों, हरिभक्तों-पू. छगनभाई, हरमानभाई व मणिभाई सलाडवाले एवं भादरण, अमदावाद बकरीपोल मंडल का अत्यधिक आभार प्रदर्शित करता है। सभी सत्संगियों को, उनके जीवन संग्राम को पूर्ण करा कर, जीवनयात्रा की सर्वोपरि पूर्णाहुति करवाने के लिए प्रकट गुरुहरि प्रगट कथावार्ता, प्रसंगों द्वारा अखंड स्मृति ज्ञान देकर धाम का सुख प्राप्त कराएं। अंतर की गहराई से सोचेंगे तो सभी को ख्याल पड़ेगा कि हमने कितनी 'संघनिष्ठा' हासिल करी है और ऐसी अलौकिक दृष्टि रख कर, मन जीतकर, विचरण करते हुए महायज्ञ के फलस्वरूप, जीवन में कितना परिवर्तन हुआ है, स्वभाव, वृत्तियों, वासनाओं पर कितनी विजय पाई जाती है। सभी संप, धर्म और एकता से रहकर अपूर्व सेवा से लाभान्वित हों – यही नम्र प्रार्थना है। यह अलौकिक दिव्यदर्शन और उनकी वाणी स्मृति रूप में सभी के जीव में बस जाए तथा सत्संग की दिव्यता अखंड बनी रहने में ही इस यात्रा का अपूर्व आनंददायी अंत हो, ऐसी कृपा दृष्टि की अपेक्षा करते हैं। स्वामिनारायण सम्प्रदाय के इतिहास का एक नूतन पृष्ठ लिखा जा रहा है, जिसमें अल्पकाल में ही कल्पवृक्ष के समान महाफल लगते सभी को दिखाई देंगे और इसी से प्रमाणित होगी–सर्वोपरि स्वामी निष्ठा की जीवंतता और सनातन सत्यता!

–दिसंबर, 1953

14

एकांतिक का गणित

अवतारों के अवतारी, कारणों के कारण, अपार ऐश्वर्य, शक्ति, महिमा एवं गुणों से युक्त, श्रीजी महाराज सामान्य मनुष्य के रूप में केवल करुणा करके, जीवों के कल्याण हेतु, उनके मूल अज्ञान, कारण शरीर को टालने के लिए भरतखंड में विचरे। लेकिन, मुमुक्षु उन्हें वे जैसे थे, वैसा पहचान नहीं सके और सर्वोपरि उपासना एवं वच. लोया-12 का अति उत्तम निर्विकल्प निश्चय को सिद्ध नहीं कर सके और भगवान साक्षात् प्रत्यक्ष होने के बावजूद भी वे जीतेजी ब्राह्मीस्थिति प्राप्त करके, धाम के सुख की अनुभूति नहीं कर सके। सामान्य धर्म, ज्ञान, वैराग्य और भक्ति युक्त एकांतिक धर्म संत के आसरे रहा और वच. वड़ताल 11 तथा 5, 3 के मुताबिक़, वड़वानल अग्नि समान सच्चे, सर्वोपरि सत्पुरुष द्वारा ही मोक्ष का द्वार खुला रखा। वच. पंचाला–7 के अनुसार

★ साधुरूप–जो कि स्वयं का मूल स्वरूप हैं,
★ अनादि काल से चले आ रहे माया के कपट को जिन्होंने निर्मूल किया है और
★ जो केवल अखंड गुणातीत स्वरूप में ही वर्तते हैं,

ऐसे वच. पंचाला–7 के मुताबिक़ साधु स्वरूप मूलअक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामी द्वारा एकांतिक धर्म - माहात्म्यज्ञान युक्त एकांतिक भक्ति का - जीतेजी ही जीवनमुक्त, स्थितप्रज्ञ व ब्रह्मस्वरूप होकर, परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तमनारायण - केवल एक एवं अद्वितीय सहजानन्दस्वामी में प्रगटरूप से जुड़ जाने का मार्ग जूनागढ़ देश तथा गोपाळानंदस्वामी के अनेक शिष्यों द्वारा मुक्तों के माध्यम से सिद्ध कर दिखाया। निष्कुलानंदस्वामी ने भी **'संत ही स्वयं हरि'** गाकर स्पष्ट रूप से कह दिया कि उनके एकांतिक संत के प्रगट प्रत्यक्ष समागम से जन्मोजन्म की कसर को टाला जा सकता है। यह बात सत्पुरुष द्वारा सभी समझ लें, तो ही 'स्थिति' हो सकती है। यही स्वामिश्रीजी का सिद्धान्त और अंतर का रहस्य है। देखो मध्य 50, 51, 59, 63, अत्यं. 2, 7, 11, 21, 38, 39, प्र. 27, वड़ताल 11, 5 प्र. 37। वड़ताल 19 और 10 के मुताबिक़ ऐसे वड़वानल अग्नि समान सत्पुरुष पृथ्वी पर भरतखंड में निश्चित रूप से सदैव विचरते होते ही हैं। वच. अंत्य. 2 के अनुसार उनकी पहचान होना ही परमपद, परम प्राप्ति और परम कल्याण कहा जाए और

देह छोड़ कर जिन्हें पाना था, वे जीतेजी ही गुरुहरि के रूप में प्राप्त हुए!

एकांतिक धर्म एकांतिक सत्पुरुष द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। महाराज को मिले सब हैं लेकिन कसर रह गई, वासनाएं निर्मूल नहीं हुईं व कल्पना एवं संकल्प टले नहीं। सच्चे साधु के संग से चौबीस वर्ष बाद चैतन्यानंदस्वामी 'सच्चे सत्संगी' बन पाए और अखंड मूर्ति देखने वाले भी प्राकृत भाव में लिप्त पाए गए हैं। सो, अमदावाद 2, 3, 7 तथा मध्य 30, 45 तथा प्र. 23, 21, अत्यं. 38, 39 के मुताबिक़ सच्चे सत्पुरुष द्वारा ही साक्षात्कार की स्थिति प्राप्त होती है और अत्यं. 28,11 के मुताबिक़ भगवान के सुख की अनुभूति होती है, भोगा जाता है और अखंड प्राप्त होता है। मूर्तियों, प्रतिमाओं की पूजा और मानसिक पूजा से अधिक, वच. अत्यं. 26 एवं प्र. 27 के मुताबिक़ के गुणों तथा लक्षणों वाले सच्चे संत में भगवान पूर्ण रूप से निवास करके दिव्य स्वरूप से अखंड रहते हैं और उनके द्वारा सर्वोपरि सुख, आनन्द और परम शांति की प्राप्ति होती है। यही परम मोक्ष है – ऐसा महाराज ने 'वचनामृत' में अनेक स्थलों पर स्पष्ट कहा है। भगवत्स्वरूप हुए साधु को ही महाराज ने प्रतिपादित किया है। एकांतिक का यह गणित, सत्पुरुष या सिद्धपुरुष जो हमारे अंतर को पकड़ें, स्वभाव बदलें और जीतेजी ही संकल्प, विकारों को टालें, उनके द्वारा ही सीख कर साक्षात्कार की स्थिति और भगवान का सुख हरेक सत्संगी को प्राप्त कर लेना चाहिए।

'एक रति बिन एक रतिको'–केवल सहजानंदस्वामी ही एक सर्वोपरि भगवान हैं। अक्षर के दो स्वरूप हैं। जिसमें वच. पंचाला-7 के मुताबिक़, गुणातीत मूल स्वरूप और महाराज उनके ही वश में हैं। उनसे एक क्षण के लिए भी दूर नहीं रहते। वच. प्र. 63 के मुताबिक़ महाराज अक्षरधाम के इस मूर्तिमान स्वरूप में ही दिव्य रूप से अखंड विराजमान रह कर, अन्यत्र विभिन्न प्रकार की अनंत कलाएँ करते दिखाई देते हैं और भक्त की कल्पना, श्रद्धा, भावना तथा आसरे के मुताबिक़ सुख और शांति, प्रकाश और आनंद प्रदान करते हैं। ऐसे अद्वितीय सहजानंदस्वामी, परम एकांतिक संत द्वारा भरतखंड में अखंड प्रगट ही हैं। जिस संत के रूप में यह सर्वोपरि स्वरूप प्रगट विचरता हो, उसे पहचानना वही 'परम कल्याण' है; क्योंकि उसके द्वारा ही महाराज का सुख प्राप्त किया जा सकता है। स्वयं प्रगट हुए एवं अखंड महाराज को सर्व प्रकार से धारण किए हुए प्रकट संत व साधु ही प्रगट पुरुषोत्तम रूप से सभी के अंतर को पकड़ कर, उनके स्वभाव टालकर, जीतेजी धाम का सुख देकर, परम एकांतिकों को तैयार करते हैं। फिलहाल प.पू. शास्त्रीजी महाराज की प्रेरणा से गुणातीतज्ञान के ऐसे कॉलेज को प्र.ब्र. स्व. योगीजी महाराज गोंडल में चला रहे हैं।

पू. भगतजी महाराज, पू. जागास्वामी, पू. कृष्णजी अदा द्वारा सबीज गुणातीत ज्ञान का जो डंका बजाया जा रहा है व जिसकी चहुँ ओर जय-जयकार हो रही है, वह अक्षरपुरुषोत्तम की निष्ठा ही सर्वोपरि है, सत्य है और श्रेष्ठ है- इसी तथ्य को प्रतिपादित करता है। सम्प्रदाय में इस बात पर सभी को, तटस्थभाव से, विचार कर लेना जरूरी है। इसके लिए एकांतिक का निम्न गणित साक्षात् प्रतीतिरूप में बताया है, उस पर सोच लेना।

प्रथम दृष्टांत – भगवान या भगवान का स्वरूप, संत या साधु – ये सभी मूल ब्रह्म और परब्रह्म के समान ऐक्य रखते हैं। ब्राह्मीस्थिति वाला ही ब्राह्मीस्थिति वाले को तथा महाराज को पहचान सकता है। देखो, वच. वड़ताल-11। अब निम्न ऐक्य को जानो।

वच. मध्य 8 का प्रश्न– *परमपद क्या?*

महाराज ने उत्तर किया है– *प्रत्यक्ष भगवान की प्राप्ति वही 'परमपद' और वही ज्ञान यज्ञ की पूर्णाहुति है।*

अब देखो, अंत्य-2, मध्य 10,14। – *'जैसी परोक्ष देव के प्रति जीव को प्रतीति है, वैसी ही यदि **प्रत्यक्ष** गुरुरूप हरि के प्रति हो जाए, तो जितने अर्थ प्राप्त होने बताए गए हैं, वे सभी अर्थ उसे प्राप्त होते हैं और जब ऐसे **संत का समागम** प्राप्त हो, तब जिनकी प्राप्ति देहावसान के बाद होनी थी, वे तो **जीतेजी** ही प्राप्त हो गए। इसलिए जिसे **परमपद या मोक्ष कहते हैं** उसे देह रहते हुए ही प्राप्त किया।'*

ये बातें अत्यंत गूढ़ हैं और इन्हें वही समझ सकता है **जो इस प्रकार वर्तता है।** स्वयं को अधिक सयाना समझने वाले इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि यह तो जब महाराज स्वयं हाज़िर थे तब स्वयं के लिए ही कहा है। लेकिन ब्रह्मस्वरूप में वर्तने वाले इस रहस्य को अच्छी तरह जानते हैं कि यह व्याख्या ग़लत है; क्योंकि महाराज तो अखंड, अजन्मे, अविनाशी हैं, वे केवल 49 वर्ष ही नहीं रहे, वे तो साधु-संतों के रूप में, इस धरा पर सदैव प्रगट विचरण कर रहे हैं। महाराज की 49 वर्ष की हाज़िरी के बाद क्या ऐसी प्राप्ति किसी को भी होनी नहीं? इसके प्रत्युत्तर में मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामी ने प्रकरण पाँच की 415वीं बात में बताया है कि महाराज साधु के रूप में सदैव प्रकट हैं। अतः अपना सयानापन छोड़ कर सिद्ध पुरुषों, ब्रह्मस्वरुप सत्पुरुषों के वचन में शंका नहीं लाकर श्रद्धा और विश्वास से मनन करके, गहनता से विचार करके ही निर्णय लेना। सत्य हमेशा गहरा, मर्मपूर्ण और रहस्यपूर्ण होता है। उसमें मिलावट चलती नहीं और वच. वड़ताल 11 के मुताबिक़, सत्य व सत्पुरुष के समागम के बिना एकांतिक का अनुभव, दर्शन व स्थिति भी संभव नहीं, तो फिर हल मिलेगा कहां से? इसलिए यह गणित ही जवाब मिला

देता है और स्थिति कराता है, जो अनुभव सिद्ध है और जीतेजी ही प्राप्त होता है। इसलिए यह गणित सत्य, सनातन, श्रेष्ठ एवं सर्वोत्तम है और इसमें शंका का स्थान नहीं।

कुंजी–परमपद = प्रत्यक्ष महाराज की प्राप्ति और उसका फल–ज्ञानयज्ञ की पूर्णाहुति; वच. मध्य 8।

सच्चा वड़वानल अग्नि समान सत्पुरुष का संत समागम = परमपद, परममोक्ष और (अंत्य. 2 वड़ताल 11) मध्य 59 के मुताबिक़ परम कल्याण।

इसलिए मध्य 10 के अनुसार प्रत्यक्ष स्वरूप के संबंध सहित दिव्य दृष्टि वह पराभक्ति है, वही परमपद है।

दूसरा दृष्टांत–इंद्रियोंरूप जो (मनोमय चक्र); वच. सारंगपुर 7–मन की धारा जिस जगह पर घिसकर मोथरी हो जाए उसे 'नैमिषारण्य क्षेत्र' जानना। वहाँ भगवान का एकांतिक साधु सदैव निवास करता ही है। मनोमय चक्र की इंद्रियरूप धारा के मोथरी होने पर शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध जैसे विषयों के प्रति आसक्ति नहीं रहती। इसलिए जहाँ पर मन की धारा मोथरी हो जाए वहाँ ही = नैमिषारण्य क्षेत्र में एकांतिक साधु रहता होता है। वहीं यह हो सकता है।

अब देखो, वच. मध्य 13; मनोमय चक्र की धारा ही इन्द्रियाँ हैं। जब **ब्रह्म और उससे पर जो परब्रह्म उसका साक्षात् दर्शन होता है** = तभी मनोमय चक्र की धाराएँ मोथरी होती हैं और उसे किसी भी लोक के विषय सुख में आनंद आता ही नहीं।

कुंजी–जहाँ वड़वानल अग्नि समान सच्चे सत्पुरुष हों, वहीं नैमिषारण्य क्षेत्र है और वहीं मन की धारा मोथरी होती है, वृत्तियाँ पीछे हटती हैं, स्वभाव बदलते हैं, जिसके फलस्वरूप प्रकृति बदलती है। महाराज के शब्दानुसार इंद्रियों की धारा तभी मोथरी होती है, जब ब्रह्म और उससे पर जो परब्रह्म है, उसका साक्षात् दर्शन होता है। इसलिए धाराएँ यदि कुंठित हुईं, तो उस समूह में एक और अद्वितीय परब्रह्म का साक्षात् स्वरूप अवश्य ही साधुरूप में विचरता होगा; क्योंकि महाराज के कथनानुसार उसके दर्शन बिना मन की धारा कुंठित होती ही नहीं। ऐसा सर्वोपरि स्वरूप केवल एक ही होता है जो अंतर को पकड़ कर स्वभाव को बदलता है। आसुरी वृत्ति वाले, भाषा की तमीज़ न हो ऐसों को भी दृष्टि से, वृत्ति से, आकाशवाणी से स्वयं में खींच लें-लीन कर दें तभी मानना कि महाराज के कहे अनुसार यह प्रगट हुए परब्रह्म का साक्षात् ही दर्शन है।

–फरवरी, 1954

***

15

Life and Teachings of Lord Swãminãrãyan

(Radio Talk : 10 Minutes – 8:00 to 8:10, Thursday 4-2-'54)

From: Nairobi-Africa

By His Divine Grace KÃKÃJI

It is extremely difficult to epitomise the specialities of the life and teachings of Lord Swãminãrãyan, whose activities, works and dynamic religious mass movements within 49 years of Lord's life on this earth, could not be fully described or expressed even by first class poets like Premãnand, Nishkulãnand, Bhrahmãnand and others. However, this is a humble attempt to present the crux of our Lord's teachings and the most simple method of supreme realisation within our span of life.

Part one gives a short account of the spiritual creative and costructive divinely visionary character and how Sahajãnandswãmi was worshipped during his life as the supreme transcendental spiritual personified incarnation, omnipotent and all-pervading permeating and immanent in all beings. Part two narrates the method and mode of His discipline, devotion and form of worship to the Supreme Lord only, who liberates the embodied spirit permanently attached with 24 Tatvas, through His everlasting Eternal Brahman and free souls or muktas brought by Him on this earth for manifesting His powers, qualities and opening the way of permanent salvation, bliss, joy and ecstacy of the highest consummation of divine love. Jivatma becomes free from bondage, avidya, delusions and invisible passions, lust, greed and materialistic attachments.

Part I :–

Shri Sahajanandswami was born through Dharma Dev and Bhaktidevi in a brãhmin family on 3rd April, 1781 (9th of Chaitra Hindu Year 1837) at Chhapia in U.P. and was known as Ghanshyãm in childhood.

He gave abundant proofs of His divine power to His parents and others. He studied Vedas, Bhagwat and other scriptures before ten and renounced home forever and was known as Nilakantha Brahmachari, the incarnation of celibacy. He spent over seven years in visiting Banaras, Haridwar, Badrikeshwar and places in South India meeting innumerable yogis and showing supernatural dynamic powers in the Himalayas and other centres as fully described in Holy Book 'Bhakt Chintãmani' by Nishkulãnandswãmi. Our Lord met Muktãnand at Loj and unfurled the unique standard of His faith and doctrines, which were approved by Guru Rãmãnandswãmi, who entrusted Him the sole responsibility of His ãshram and followers.

The scope of this faith is all-embracing and is open to all communities, sects including untouchables, Pãrsis, Muslims, Khojãs i.e. all aspirants irrespective of caste, creed, colour or community. To regulate the behaviour of quite common laymen or illeterate persons this religion lays down five injunctions, viz. abstinence from indulging in wine drinking, eating meat, stealing, adultery and from degrading conversion. It is 'The Epistle of precepts' known as 'Shikshã Patri' which prepared downtrodden Masses, lower grade persons like Kolis, Kãthis and Bhils for receiving divine guidance, assistance and ultimate salvation from the cycle of birth and death.

His philosophy is akin to Vishishtãdwaita-qualified Nonduality and lays stress on the knowledge of five tatvas-Soul, God, Mãyã (illusion) Brahma and Parabrahman-comprising of the quintessence of Sãnkhya, Yog, Vedãnta, Bhãgvat, Pancharãtra etc. It is compiled verbatim in the Holy volume styled 'Vachanãmrit' by His five saints.

At this stage, there had been more than two million followers of Swãminãrãyan Sect and the knowledge was continuously spreading in Gujarãt and Kãthiãwãr through Gunãtitãnandswãmi, known as Eternal Akshardhãm and Gopãlãnandswãmi the right hand first class first staunchest disciple, who had mastered Ashtangyoga and other innumerable powers.

His holy mission having fulfilled, He cast off his human frame after the existence of 49 years and 62 days on the 20th June 1830-10th day of the bright half of Jetha of year 1886.

Part II :–

Every sincere aspirant must for his initial preparatory stage, annihilate desire, greed, taste, ego and worldly attachments and must substantiate moral code, knowledge, dispassion and singular devotion at the feet of the true guide. Anything that exists in the realm of Purush-Prakrati, from whom the whole universe comes into existence is ever unreal and transient. Brahma and free souls who are in tune with the Lord Parabrahman are eternally permanent. Others fall in the cyclic migrations of birth and death and miseries.

Brahma or Parabrahma idealises in Himself the highest bliss, holy state of satchidãnand with which every soul must-needs secure his oneness, worship Paribrahman or Purushottam, who ever remains Greater than the greatest and Higher than the highest.

The humble glorification of soul through God, intense belief in the efficacy of meditation on Personal God, the indispensable need of constant company of sages, purity of mind, body and spirit, great reverence for co-religionists form in themselves the central core of the religious preachings in 'Vachanãmrit'. It is the Holy volume for all the time, all the places, conditions and spiritual stages of development, because Lord Swãminãrãyan epitomised the fundamental realities of all shãstras and scriptures, Bhãgwat and Gitã and dictated personally in presence of various Sãdhus and realised souls. Anyone can have personal realisation and experience of the illuminated inner real self-soul if those preachings are followed and put into practice under the strict guidance of Pragat Guru and Saint or Satpurush or any Realised Jivanmukta. Kãthi, Bhils and down-trodden illiterate masses renounced their crude disposition to robbery, homicide and adopted a high moral standard during their lifetime, as could be seen from the transformation of Joban Pagi, Munjhã and

other known dacoits. A prostitute and many untouchables in Jetalpur also had divine trance and salvation by putting full faith and surrendering to our Lord with intense devotion and trust in His sovereign of liberating the soul from ignorance and bondage of avidya, delusions and passions.

English missionaries have praised this faith during their visits in Gujarãt and Kãthiãwãr and eminent personalities like Henry C. Brigg, Sir M. Williams and Sir John Malcom, the then Governor of Bombay, praised these movements and Sir Malcom received 'Shikshãpatri' gratefully and met Lord Swãminãrãyan on 20.2.1830 earnestly soliciting a meeting with this Divine Guide at Rãjkot in Kãthiãwãr.

Widening of this fold upto more than three million souls marked the solid foundation as an incarnation and still carried on by realised souls like our Guruji Shãshtriji Mahãrãj, Yogiji Mahãrãj and other saints in Gujarãt and Kãthiãwãr. It is most creditable to say that intellectuals have been drawn to this faith to a great extent and Doctors, Lawyers, Scientists and Cabinet Ministers like Hon'ble Shree G.L. Nandã have adopted the inner discipline and preachings of Lord Swãminãrãyan, particularly through the efforts and serene sublime life of Shree Shãstriji and Yogiji Mahãrãj, who by mere thought could generate creative spiritual forces in East Africa in the form of persons like Maganbhai and others and permeate life's blessings for spiritual attainment without rigorous penance or efforts.

By total surrender with disciplined behaviour, any one can have realisation and spiritual bliss, joy and inner harmony during one's lifetime and all those aspirants are requested to contact Shri Yogiji Mahãrãj on His arrival in East Africa during August on the most auspicious occassion of opening the New Swãminãrãyan Temple and Maganbhai Cultural Library at Mombasa.

May our Lord Swãminãrãyan shower His blessings for everlasting peace and harmony in all the parts of this globe, enriching the human life for highest happiness, joy, bliss and wisdom.

Main Specialities or Assurances by our Lord

Lord Swãminãrãyan is worshipped as the supreme incarnation of all incarnations, the transcendental highest spiritual personified divine entity, immanent in all beings and pervading the universe through His everlasting Eternal Divinity-personified Brahma and Jivanmuktas or free souls. He is the only spiritual supramental dynamic character, who had given following assurances to all aspirants and followers, who sincerely believe in Him and adhere to His commands and orders as per His 'Shikshãpatri' and 'Vachanãmrits'.

(1) That He will deliver and liberate the soul at the last moment on the point of death and give direct 'darshan' or vision along with other Sãdhus and take the Jiva to His Eternal Abode Akshardham, which is full of bliss, joy, divine love and permanent place in presence of illuminated free souls.

(2) That all His Satsangis will be free from the limitations of time, space and wordly delusions or 'Mãyã'.

(3) That all His followers will be saved from universal hardships and devilish forces, provided there is total surrender and unique 'Upãsanã' or reverence and devotion to Him alone in adversity or prosperity, in Good or bad external, apparent situation, conditions or behaviour patterns.

(4) That His Sanyãsins will realise the inner true being and have his permanent communion with the Eternal Brahm during the lifetime, through the absolute devotion and surrender to the Pragat Guru or Realised Soul, who have permanent equivalence with the Lord.

(5) As the illuminated Soul, others get spiritual visions and peace of mind by working like Janak Videhi, devoid of all desires and passions and single pointed devotion to the Lord by obeying the commands of Pragat Guruji.

***

16

मुक्त की माया

एकांतिक स्थितप्रज्ञ ब्रह्मस्वरूप सत्पुरुष ही जड़ और चेतन के विवेक को समझा सकते हैं। भगवान की निर्गुण शक्ति व सामर्थ्य के कारण ही, वचनामृत सारंगपुर 10 ,11, मध्य 67 के मुताबिक़ समझ के फर्क से मुक्तों के अनंत भेद पाए जाते हैं। यहां साधकों के परम साधक तत्त्व के रूप में गुणातीतानंदस्वामी की- मूल ब्रह्म की अनिवार्यता और आवश्यकता प्रतीत होती है। महाराज को वे जैसे हैं वैसे पहचानने, पाने और प्राप्त करने के लिए मूल अनादि अक्षरब्रह्म की, जिन्होंने महाराज को दिव्य रूप से अखंड धारण किया हुआ है, उनकी विशिष्टता प्रमाणित होती है। वचनामृत अमदावाद 6, 7, प्रथम 21, 63, 71। साम्यावस्थारूप गुणों की साम्यता जो हालात उत्पन्न करती है, उससे पार पाने के लिए मूल अनादि ब्रह्म के साधर्म्य को पाना जरूरी ही है। इससे अव्यक्त राग, प्रभुता, सत्ता और सामर्थ्य पाने की ललक पूर्णतया टल जाती है और निर्गुण महामाया, जिसने मोहिनी रूप से सीताजी, ब्रह्मा, पराशर, च्यवन, विश्वामित्र और एकलशृंगि जैसों को मोह में फंसा कर उनकी स्थिति से डिगा दिया, वह दूर हो सकता है। आत्मा के विकास की भूमिका में मुक्त की इस कक्षा में फिर भी डर रहता है। इस हेतु, अनादि ब्रह्म का मनन द्वारा संग या फिर सच्चे परम एकांतिक अनादि मुक्त द्वारा साधर्म्य को पाकर, महाराज में जुड़ जाना अनिवार्य है।

जीवन मुक्त, विदेहीमुक्त और ब्रह्मस्वरूप की कक्षा में वर्तते परम एकांतिक मुक्तों में समझ और स्थिति का फर्क रहता है। उदाहरणार्थ जनक, अंबरीष, शुकजी, शुक-सनकादिक, सीताजी, राधा, अर्जुन, उद्धव, प्रमुख गोपियाँ, अक्रूर, सुदामा, नरसिंह मेहता, मीरांबाई आदि और दादाखाचर, मयाराम भट्ट, नित्यानंदस्वामी, मुक्तानंद, स्वरूपानंद, ब्रह्मानंद, शुकमुनि, झीणाभाई, सामंत पटेल जैसे। अति उत्तम अनादि मुक्त निम्न कोटि वाले मुक्तों को स्वयं में लीन कर सकते हैं। सो, ऐसे मुक्त अनादि ब्रह्म के अन्वय-व्यतिरेक संबंध को यथार्थ रूप में नहीं जान पाते और रुपक प्रकाशयोग में ब्रह्मरंध्र से आगे जाते हुए सत्ता, सामर्थ्य, ऐश्वर्य व मुक्ति के सामीप्य, सालोक्य,

सारूप्य और सायुज्य में फंस जाते हैं और विकास रुक जाता है। महाराज के संबंध के कारण सगुण माया का उत्पत्तिक्रम उनके लिए बाधारूप नहीं होता; लेकिन महाराज को जैसे हैं वैसे पहचानने में कुछ कसर रह जाने से असीम महिमा के शब्दों को पचा नहीं पाते। सूक्ष्म पक्ष के कारण एवं गुरुभक्ति की आड़ में वे दूसरों के दोष, अवगुण, कमियाँ देखने में लग जाते हैं। फलस्वरूप उनकी स्थिति जय-विजय और राधा व श्रीदामा जैसी हो जाती है।

प.पू. शास्त्रीजी महाराज ने अक्षरपुरुषोत्तम की शुद्ध उपासना प्रमाणित करके, सर्वोपरि उपासना एवं वचनामृत लोया 12 के मुताबिक़, अति उत्तम 'निर्विकल्प निश्चय' दृढ़ करने के लिए असाधारण महाप्रयास करके मंदिर तैयार किए। अब प.पू. योगीजी महाराज ने उस 'तत्त्वनिष्ठा' में से संप, धर्म और सुहृद्भाव - 'संघनिष्ठा' के रूप में प्रर्वता कर अनेकों को अनादि मुक्तों का परमसुख, प्राप्ति और अहोर्निश आनंद मिल पाए इस हेतु मार्ग प्रशस्त कर दिया है। वचनामृत प्रथम 40-43, मध्य 45, लोया 12, प्रथम 51, कारियाणी 1-7 के अनुसार ऐसे मुक्त तैयार होते जा रहे हैं।

मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामी का समागम करने का कई साधु विरोध करते और वचनामृत लोया 12 के अनुसार आख़िरी छट्ठा 'निर्विकल्प निश्चय' दृढ़ करने में बाधा डालते, इसे ही **'मुक्त की माया'** कहा जाता है। महाराज का संबंध तो सभी को है, लेकिन जब तक स्वरूप के प्रति उनका पूर्वाग्रह नहीं टलता, संकल्प-विकल्प मिटते नहीं, तब तक जीतेजी ही धाम का सुख भी प्राप्त नहीं होता। वर्ना, वचनामृत सारंगपुर 10 एवं कारियाणी 11 के अनुसार, अक्षरधाम अणुभर भी दूर नहीं और आंख की पलक झपकें, इतनी देर भी महाराज ओझल नहीं होते हैं। मेरी दृष्टि से अभी भी कहलाते गुरु, साधु या भक्त गलत पक्ष के कारण ऐसे साधु का समागम करने में बाधा डालते हैं, उन सभी को अपनी नासमझी दूर करने की ज़रूरत है। ऐसी माया के सभी भावों से छूट कर अक्षरब्रह्म के साधर्म्य को पाकर, परब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण का प्रगट सुख प्राप्त करने में आड़े आती सत्संग की ही इस **'मुक्त की माया'** को दूर करने की ख़ास आवश्यकता है। जो स्वयं माया से परे हो, वही (अन्यों को) माया से परे कर सकता है। बंधनमुक्त ही बंधनमुक्त कर सकता है। हिमालय पर जो पहुँचा हो, वही अपने अनुभव का वर्णन कर सकता है।

कई मुक्त, भगवानरूप वर्त कर, साधु और संत को गौण करके, अपना निजी ज्ञान दूसरों पर थोपते हैं। महाराज के समय में भी अनेक भगवान बन बैठे थे और फिलहाल भी कई कितने पूजे जाते हैं। वड़ताल 11 के मुताबिक़ ब्राह्मीस्थिति को पाए हुए संत ही प्रकाश के इस भेद को जान सकते हैं। वचनामृतों में कंगाल, विषयी, मुमुक्षु और मुक्त को महाराज ने समय, स्थान, कथा और स्थिति को लेकर अलग-अलग वचन केवल उनके हल के लिए बताया है। आधी रात को कहे परावाणी के मूल मर्म को सिर्फ वड़वानल अग्नि समान प्रगट गुरुहरि द्वारा ही समझना चाहिए। वचनामृत कारियाणी 12 के मुताबिक़, उसी स्वरूप का ध्यान करके एवं उनके वचनों को ग्रहण करके तेज़ में भी फंसे बिना, आत्मा की अति उत्तम निर्विकल्प स्थिति प्राप्त करके, स्वामीसेवक भाव से निर्भयता, निडरता, नम्रता धारण करके, स्वाधीन रूप से अलिप्त रह कर स्वामिश्रीजी के रहस्य, अभिप्राय, मर्जी और सिद्धांत के प्रति अखंड जाग्रतता रख कर, भजन करें तथा दूसरों को भी प्रगट में जोड़ें। यही 'पराभक्ति' कहलाती है और यही सर्वोपरि भजन माना जाता है। यहां काल, कर्म, माया और स्वभाव बाधारूप नहीं होते, ना ही बीच में आते। सत्पुरुष के प्रति ही आत्मबुद्धि व प्रीति दृढ़ हो जाती है। वचनामृत प्रथम 51 के मुताबिक़ 'जहां देखो वहां रामजी'–यूं चैतन्य में महाराज को अखंड धार कर हरिभक्तों व संतों की सेवा और भक्ति होती रहती है।

प्र.ब्र. गुरुहरि श्री योगीजी महाराज से यही अभ्यर्थना कि वे सभी भक्तों को एकांतिकी भक्ति युक्त ऐसी अलौकिक गुणातीत स्थिति प्राप्त कराएं। गलत पक्ष, बड़प्पन का लोभ तथा वासना एवं महामोह व परम अज्ञान को दूर करवा कर धाम, धामी और मुक्तों को स्वरूप-स्वरूपी के भाव से ब्रह्म की ही साक्षात् मूर्तियाँ समझने की दृढ़ता करवाएँ ताकि किसी के भी दोष, अवगुण व प्रकृति का कार्य मात्र नज़र में ही न आए ऐसा बना दें!

– मई, 1954

17

'अनाहत चक्र' की धड़कनें

अनादि काल से मनुष्य महासत्यों के रहस्य ढूँढ रहा है, फिर भी जीतेजी इन महासत्यों का रहस्योद्घाटन करने में वह असमर्थ रहा है। केवल एकाध गुण, ऐश्वर्य, सत्ता, सामर्थ्य का यद्यपि विभूति, अवतार या किसी दैवी शक्ति ने पृथ्वी पर अवतरित होकर, मानवजाति को सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् के तत्त्वों का महापाठ सिखाया है और उसके अनुरूप सर्वांग जीवन जीने और उसके रहस्य समझ कर, परमपद की परम प्राप्ति करने की प्रेरणा दी है; फिर भी, स्वभाव और वासना टली नहीं और जीतेजी ही परम मोक्ष का अनुभव हुआ नहीं।

जीवन का यह रहस्य श्रीजी ने जितनी सरलता से समझाया है, उतना अन्यत्र कहीं दिखाई नहीं देता। सर्वप्रथम महाराज ने ही 'कारण शरीर' की बात को छेड़ कर, जीतेजी ही चित्त का लक्ष्य व लय एवं एकांतिक धर्म स्थापित किया। जो जीवन केवल वेदों में ही वर्णित था, उसे मूर्तिमान धाम, धामी और मुक्तों को पृथ्वी पर लाकर प्रत्यक्ष कर दिया और साकार रूप में यह सिद्ध करके कि वे ही सृजनकर्ता एवं नियंता हैं–यूं अपनी विशिष्टता प्रमाणित कर सभी जीवों के लिए कल्याण का मार्ग खोल दिया।

महाराज ने प्रथम तो धड़कन के विषय में विस्तृत जानकारी दी। धड़कन का स्वरूप, उसके लक्षण एवं उस पर विजय प्राप्त करने का सूत्र, उसका रहस्य और उसके फल का आनंद समझाया। सनातन अक्षरब्रह्म के साधर्म्य को प्राप्त करने के बाद ही, चेतना, प्राणवायु से - अहम् के भाव से पृथक होकर, साकार ब्रह्म के साथ जुड़ती है और प्रकाश में परब्रह्म को साक्षात् निहारती है। हृदय में जहां से भाव उठता है - रोना आता है, वहां लिंग देह में निहित अणु समान प्रकाश युक्त जीवात्मा के साथ 'अनाहत चक्र' संलग्न है। उसका मुख्य कार्य–वो धड़कन, जीवन की धड़कन और चेतना का प्राणवायु के साथ का समन्वय है। देखा जाए, तो प्राणीमात्र का जीवन-चाहे स्त्री हो या पुरुष, वृद्ध हो या बालक–इस धड़कन पर ही टिकता है; जिसके प्रकाशक, नियंता, वच. मध्य 31 के अनुसार, भगवान एवं सत्पुरुष ही हैं–ऐसा ज्ञान ही 'आत्यंतिकी मुक्ति' का मार्ग है।

चैतन्य का स्वभाव ही चिपकने का है। वह या तो लिंग देह से माया से चिपकता है या फिर भगवान से। सत्पुरुष का समागम करे, उसके साथ आत्मबुद्धि से जुड़ जाए, तो जीव को लिंग देह से छुड़वा कर वे भगवान में जोड़ देते हैं। जीवात्मा को स्वयं अपने जैसा बना देते हैं। वे स्वयं भगवान के साथ अखंड तादात्म्य से जुड़े होने के कारण, आश्रित जीवात्मा का भी जीतेजी ही परमात्मा से तादात्म्य स्थापित कराते हैं।

भगवान साक्षी
कर्म फल प्रदाता के रूप में
छुपे रहते हैं।

चैतन्य + लिंग देह, प्राणवायु तत्त्वों की देह धड़कन, अहंरूपधारी, नामधारी, स्वयं को ही सत्य मानता है। अतः आधि, व्याधि, उपाधि, काल, कर्म, माया के चगुंल में फंसता है।

संत की शरण लें, तो वे चैतन्य के लिंग देह से धड़कन को पृथक करके भगवान से जोड़ते हैं। फिर वही धड़कन, भगवान के संबंध से, काल-कर्म से परे होकर, सत्ता, सामर्थ्य, ऐश्वर्यवान बनती है। स्वयं को मगन, छगन वग़ैरह नामरूप आकार के बजाय, वह स्वयं संत का स्वरूप है, ऐसी दृढ़ता होती है।

भगवान + चैतन्य
धड़कन - सत्ता, सामर्थ्य,
सत् - चित्त - आनंद रूप बरतते हुए
जीतेजी दिव्य देह प्राप्त करते हैं।

लिंग देह की धड़कन कमज़ोर होकर, निर्मूल होती है। जगत झड़ जाता है, नाश्वंत - तुच्छ लगने लगता है।

धड़कन, जीतेजी बद्ध अवस्था में से मुक्तदशा का अनुभव, अनुभूति प्राप्त करती है।

– अगस्त, 1954

18

आज्ञा का फ़र्क़ एवं रहस्य

श्रीजी महाराज ने केवल करुणा करके, जनकल्याण हेतु धाम, धामी और मुक्तों सहित इस भरतखंड में अवतरित होकर, हम जीतेजी ही सर्वोपरि कल्याण मान पाएं, ऐसा स्पष्ट, सरल एवं मूर्तिमान मार्ग दिखाया तथा इंद्रियों और अंतःकरण की सीमाओं को ढूँढ कर, शिक्षापत्री, धर्मामृत एवं परावाणी के रूप में स्वानुभव द्वारा अक्षरधाम का अर्चिमार्ग सदैव के लिए खोल दिया। साथ ही, वच. वड़ताल 10, 11, 19, प्रथम 27, अंत्य. 2, 26 के अनुसार, जो भगवान को सर्व प्रकार से अखंड धार कर रहता है, ऐसे परम एकांतिक भागवत संत को जीतेजी ही मोक्ष का द्वार, एकांतिक धर्म, चार वेद और ब्रह्मज्ञ का जीवंत पाँचवा वेद के रूप में परिचय देकर, वच. प्रथम 54, मध्य 54 के अनुसार, ऐसे संत के चरणों में हर कोई सत्संगी वच. अंत्य. 21 के मुताबिक, नियम-धर्म से बरत कर आज्ञापालन करके, एकांतिक धर्म सिद्ध करें, तो धाम का सुख अवश्य ही अनुभव करेंगे और उसे भोग कर प्राप्त कर सकेंगे–यह साबित कर दिया। करना तो हमें ही है; सारंगपुर 10, 11, कारियाणी 11,1, 7 तथा मध्य 30, 45, 66 के अनुसार, ज्ञान समाधि का निर्विकल्प निश्चय व स्थिति जीतेजी प्राप्त कर लेना सुगम कर दिया है। प्रगट स्वरूप प.पू. गुरुवर्य योगीजी महाराज के रूप में हमें ऐसे संत मिले हैं, जिन्होंने यह प्रतीति कराई है कि यदि उनकी आज्ञा में पल-पल वर्त कर, उनकी प्रत्येक क्रिया जँचा कर, और हरिजन (हरिभक्तों) के प्रति अखंड दिव्यभाव रख कर, स्वधर्मयुक्त वर्त कर निष्कपटभाव से अंतर्दृष्टि करें, तो चरम कक्षा प्राप्त हो जाए। अतः स्वामिश्रीजी ने आज्ञा के फ़र्क़ के निम्न रहस्य बताए हैं। स्थिति को पाया हुआ जो संत इन रहस्यों को जानता है व अनुभव करता है, वर्तता है, उसे परख लेना। हमारा सत्संग दर्पण के समान है। सभी की वासना एवं स्वभाव स्पष्ट दिखाई देते हैं, अतः सुगमता से वर्ता जा सकता है। सो, अपना गुरु स्वयं बन कर, परम गुरु की ओर निरंतर दृष्टि रख कर वर्ते तथा अन्य किसी के अवगुणों को देखने में तनिक भी मन निमग्न न करे, तो उसकी प्रीति का तत्काल दर्शन होता है-तब कुछ बोलना ही बंद हो जाएगा।

आज्ञा के फ़र्क़ का रहस्य :–

(1) जैसे प्रगट सूर्य के बिना प्रकाश नहीं मिलता, वैसे ही प्रगट भगवान या संत के बिना कल्याण संभव नहीं। अतः जब वे हमें प्राप्त हों और वे हमारे ज्ञान, अनुभव और कर्तव्य के अनुसार हमें आज्ञा करें, तब उनकी आज्ञापालन से संस्कार दृढ़ हों व मुमुक्षुता प्राप्त हो। ऊपर-ऊपर की शांति दिखे, आश्रय दृढ़ होता जाए और व्यावहारिक सेवा-भक्ति में मन निमग्न रहता हो, लेकिन अंतःकरण में संकल्प उठते रहते हैं। अभाव-अवगुण में पड़ जाते हैं, प्रकृति बाधारूप होती है और सत्संग में अकेले-से रहने का या उसे छोड़ देने का भी मन होता है। लेकिन, सत्पुरुष सच्चे हैं, तो वे मान देकर-प्रेम दे करके, कुछ संकल्पों को पूरा करके संभाल लेते हैं। लेकिन ऐसी स्थिति में भक्त उनकी सच्ची आज्ञा को नहीं समझ पाते। पर, त्यागी या गृहस्थ नियम में रहते हुए धर्मयुक्त वर्तते हैं और उपासना दृढ़ होने से संत आसरे से कल्याण तो करते हैं, परंतु मूर्ति का सुख या एकांतिकभाव सिद्ध नहीं हो पाएगा। इसलिए स्वामिश्रीजी ने अनेक जन्मों से मनुष्य देह देने की जीव पर कृपा की है और तप तथा अनुवृत्ति में रख कर प्रगट में जोड़ कर, कसनी में लेकर आत्यंतिक कल्याण कर रहे हैं।

(2) आसरा दृढ़ होते, सगे-संबंधी में जैसा लगाव है, ऐसा प्रगट (सत्पुरुष) से हो जाने पर, दोष दिखने पर भी चला लेते हैं-कभी बड़बड़ाहट भी करते हैं, लेकिन हवा के झोंके की भाँति जीव में प्रविष्ट हुई माया, सत्पुरुष का सामीप्य व उनकी कृपादृष्टि पड़ने से ग़ायब हो जाती दिखाई देती है और दिव्य दृष्टि सिद्ध होती जाती है। 'निजात्मानम् ब्रह्मरूपम्' के अनुसार सत्पुरुष वर्ताते हैं। जितनी सहन करने की क्षमता होती है और जितनी संदिग्ध इच्छाएँ होती हैं, उतनी ही आज्ञा करते हैं और अंतर में उतने ही शुभ संकल्पों की प्रेरणा होती है। फिर भी एकांतिकभाव सिद्ध नहीं होता। समग्र सत्संग अपना नहीं मान पाते, अखंड दिव्यभाव नहीं टिकता और स्वामिश्रीजी की महिमा, उनकी सर्वोपरिता, उनके अंतर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान होने का भाव माना नहीं जाता। ऐसी स्थिति में चैतन्य में स्वामिश्री से सामीप्य नहीं रह पाता; संत साक्षीभाव में ज़बरन् वर्ताते हैं। जीव के कई संकल्पों को पूर्ण करते हैं, ताकि वह उनसे जुड़ा रहे। लेकिन, सगे-संबंधी को न गिनने दें और धन, धाम, कुटुंब, देहाभिमान को मरोड़ देने जैसी कठिन आज्ञा करें, तो अंतर में दुःख

होता है। परंतु, संत उनसे यह ज़बरदस्ती करवाते हैं, क्योंकि अब 'कारण शरीर' टालने का-ऑपरेशन करने का-समय आ गया है, जो धाम के साक्षात् स्वरूप (संत) के बिना अन्य किसी से होना संभव नहीं। सीताजी, राधा तथा ऋषियों के पाश भी निर्मूल नहीं हुए। निर्गुण तो हो सकते हैं, लेकिन स्वभाव छोड़ना मुश्किल है। महाराज भले ही घोड़े का चरणामृत पीने या जहाँ स्त्रियाँ हों, वहाँ त्यागी को उनके साथ में दर्शन करने की आज्ञा दे दें, किन्तु विवेक का उपयोग किए बिना आज्ञा का पालन करने से जीव दु:खी रहता है और सच्चा स्वरूप प्राप्त करने की झंखना रखता है। वच. प्रथम 44 के अनुसार, विषयों के प्रति हमारी आसक्ति को तोड़ने, हमारी सर्वप्रिय वस्तु या व्यक्ति, जो हमारे मन को प्रभु से जोड़ने में बाधा उत्पन्न करती हैं, उसे महाराज या संत जड़ से उड़ा देते हैं, ले लेते हैं और साथ ही साथ, बल देकर (प्रगट) स्वरूप हमारे लक्ष्य को दृढ़ कराते हैं। फिर भी, अहम्भाव दूर नहीं होता, महिमा दृढ़ नहीं रहती और दिव्यभाव, सजगता और स्वामिजी का सामीप्य (जीव में) अखंड नहीं रहता।

(3) इस आज्ञा से सत्पुरुष व्यक्त रागों, आशाओं, भावनाओं, सेवा करने की तमन्नाओं, उर्मियों, शुभ व अशुभ संकल्पों, अव्यक्त रागों और अहम् भाव को निर्मूल करते हैं। जीव में विद्यमान दोषों को मूर्तिमान दिखा कर, मन की कोई भी इच्छा पूरी न करके, ब्रह्मदर्शन करवा कर, एकांतिकभाव सिद्ध कराते हैं; ताकि सत्संग में अखंड दिव्यभाव बना रहे। ऐसा भक्त आत्मनिष्ठा और स्वामिजी की अपार महिमा को अंतर में और जीव में समझता है। लोया 7, कारियाणी 7, पंचाला 7 के अनुसार, उस जीव को यथार्थ अनुभव ज्ञान हुआ होता है, इसलिए धैर्य, शांति से सत्संग में प्रगति करता जाता है। आज्ञानुसार जीकर ध्यान और एकनिष्ठता सिद्ध करता है। फिर भी, महाकारण का भाव, प्रकृति-पुरुष की सचेतनता कि मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ–ऐसा भाव सदैव के लिए निर्मूल होता नहीं। जाग्रत अवस्था में 'महाकारण' में रहता है। प्रत्यक्ष आत्मा की अस्मिता रहती है। अखंड साक्षीरूप से-जाग्रतता से वर्तने के बावजूद, स्वरूप-स्वरूपी भाव से, ब्रह्मरूप होकर, परब्रह्म के प्रगट स्वरूप में सम्यक्भाव से जुड़ जाने के लिए, धामरूप बन कर, लोया का अंतिम निश्चय सिद्ध करना शेष है। सो, वच. अमदावाद-2 के मुताबिक़ प्रगट संत उपशम में ले जाकर देह और आत्मा को बिल्कुल पृथक कर देते हैं; जिससे सब दिव्य बन जाता है।

जीतेजी पिल्लु से भ्रमरी बन जाती है। आज्ञा और उपासना के पंख दृढ़ होने से निर्बंध, निर्लेप हो जाते हैं। स्वाधीन होकर स्वतंत्र वर्तता है एवं मायिकभाव टाल कर भजन करता है।

(4) अंतिम कक्षा में पाँचों शास्त्रों से प्रगट स्वरूप के साथ अटूट संबंध का होना है। तब मायिकभाव मात्र ही चला जाता है। प्रगट (सत्पुरुष) को निर्विकल्प रूप से, सर्वोपरि समझ कर जीव उनसे अखंड जाग्रतता से जुड़ जाता है। 'स्वरूप' बन कर, स्वरूपी के मूर्तिमान स्वरूप को अखंड धारण कर लेता है। इसलिए उसे कोई आज्ञा करने की आवश्यकता ही नहीं रहती और विधिनिषेध उसे बाधारूप नहीं हो पाते। भक्त निर्गुणमूर्ति है, फिर भी समर्थ होने के बावजूद, धीरजता से, उपशम (विषयों से विरक्त) चैतन्य को शांति-धैर्य से दिव्य स्वरूप बना कर, वह भक्त मनुष्यरूप में ही वर्तता है और स्वामिश्रीजी की मरजी, रहस्य, सिद्धांत और अभिप्राय के अनुसार ही क्रिया करता है एवं अन्यों से भी उसका अनुसरण करवाता है।

यूँ, आज्ञा के फ़र्क़ का रहस्य, बिना सोचे समझा नहीं जा सकता, लेकिन प्रगट संत की अपार महिमा सहित सेवा करें, तो इस रहस्य को समझ पाएंगे। प्रगट संत की कृपादृष्टि, उनके अनुग्रह के बिना हृदयग्रंथि टल नहीं सकती। जब तक हृदयग्रंथि, प्रकृति-पुरुष का भाव नहीं टलता, तब तक आज्ञा का अंतिम छोर नहीं आ सकता, यह बात प्रत्येक भक्त को समझ लेनी चाहिए। कारियाणी 12 के अनुसार, प्रगट की स्मृति सहित ध्यान और वचन का पालन करते हुए नामी-स्वामिनारायण भगवान ही एक सर्वोपरि हैं और गुणातीत मूलब्रह्म अनादि स्वरूप हैं, यह भाव दृढ़ करके आज्ञा-उपासनारूपी पंख सिद्ध करना, जिससे जीतेजी ही विदेही कक्षा में, अक्षरमुक्त की पंक्ति में प्रवेश पा सकें।

मानव जीवन का यही अंतिम आदर्श है, क्योंकि प्रगट सत्पुरुष के बिना मनोमय, प्राणमय, अन्नमय, विज्ञानमय और आनंदमय कोष-केवल आत्मा के ज्ञान या बाह्य भक्ति से-सिद्ध नहीं हो सकते या पहचाने भी नहीं जा सकते तथा वच. अंत्य. 36 के अनुसार, सम्यक् दर्शन भी नहीं होता–ऐसा महाराज ने कहा है। इस बात पर मनन कर लेना। प्रगट गुरु योगीजी महाराज सभी को ऐसा अलौकिक सुख बख़्शें–यही प्रार्थना है।

– जनवरी, 1955

***

19

वासनारहित होने के उपाय

भक्ति और मुक्ति

श्रीजी महाराज ने शिक्षापत्री श्लोक 116 में भक्ति करने की रीत बताई है। तीन देह, तीन अवस्था, तीन गुण से अलग स्वयं का स्वरूप 'ब्रह्म' समझ कर ही भक्ति करने को कहा है। जो ब्रह्मभाव में रहता हुआ स्वामिश्रीजी की निरंतर सेवा करे, उसे ही 'मुक्त' माना है (श्लोक 121)। ऐसी आत्यंतिकी मुक्ति पाने के लिए हर एक जीवात्मा को ब्रह्मरूप तो होना ही पड़ता है – यह सनातन सिद्धांत श्रीजी ने बताया है। अतः ब्रह्मरूप होने के लिए निर्वासनिक और भगवान को अखंड धारण करे हुए संत की जरूरत पड़ती है। वच. वड़. 19-10 के अनुसार वड़वानल अग्नि समान ऐसे ब्रह्मस्वरूप संत भरतखंड में निश्चित रूप से सदैव विचरण कर रहे होते हैं। उनकी पहचान हो जाए, तो ही जीव भक्त बनता है और आत्यंतिकी मुक्ति को जीतेजी ही प्राप्त करता है।

ब्रह्मरूप होने के लिए प्रथम चरण है निर्वासनिकभाव। निर्वासनिकभाव सिद्ध होने के बाद एकांतिकभाव सिद्ध होता है; तत्पश्चात् आत्मा में परमात्मा को धारण करने की शक्ति आती है जिसे सत्संग की सर्वोच्च कक्षा प्राप्त होना कहा जाए। सो, वच. अमदावाद-2 के मुताबिक़ ज्ञानप्रलय करने और ब्रह्म-परब्रह्म के पांचवें भेद के रहस्य की बात को समझने के लिए एकांतिक के लक्षणयुक्त बनना अनिवार्य है। अनन्यभक्त बनने के बाद निर्वासनिकभाव सिद्ध होने पर ही एकांतिक भक्त बन सकेंगे, जिसके लिए प्रगट सत्पुरुष का जोग होना विशेष रूप से महत्वपूर्ण व अत्यंत आवश्यक माना जाता है। ऐसी ब्राह्मीस्थिति में अखंड वर्तते संत में ही असाधारण प्रीति एवं उनके वचन में विश्वास करने का श्रीजी महाराज ने भी वच. वड़ताल 11 में बताया है। तो, वच. प्र. 27-अत्यं. 26 वग़ैरह पर विचार करना।

महाराज और मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामी ने 'वचनामृत' तथा 'स्वामी की बातें' एवं 'वेदरस' में निर्वासनिक होने के अतिशय बड़े चार उपाय बताए हैं। प.पू. सद्गुरु शास्त्रीजी महाराज तथा प्रगट गुरुवर्य योगीजी महाराज ने सर्वाधिक सरल पाँचवां मार्ग बताया है, जिसे सभी को सोच-समझ कर ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिए;

क्योंकि प्रगट संत के वचन से ही विषयों के अव्यक्त राग टलते हैं (वच. प्र. 60) और निर्वासनिक हो पाते हैं। फलस्वरूप, ब्रह्मरूप होकर भक्ति करनी आ जाती है और शिक्षापत्री श्लोक 121 के मुताबिक़ जीतेजी आत्यांतिक मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

मुख्य पाँच उपाय :–

(1) आत्मनिष्ठा और भगवान का अतिशय माहात्म्य : वच. प्र. 73, प्र. 60, 11, अंत्य. 18 पर विचार करना।

(2) पंचविषय में अत्यंत अरुचि, आत्मनिष्ठा की अतिशय दृढ़ता और भगवान की अपार महिमा को समझना।

यहां पर सर्वोपरि उपासना को समझ कर, आज्ञा पालने की बात प्रमुख है। सावधानी से सत्पुरुष की आज्ञा में रहकर दृढ़ निष्ठा रखते हुए भजन करें तो विषय निर्मूल हो जाते हैं।

(3) ध्यान और वचन : वच. कारियाणी 12 व अंत्य. 39 के मुताबिक़ अव्यक्त राग टालने के लिए संत की स्मृति सहित स्वामिश्रीजी का ध्यान व उनके वचन को धारण करना अत्यावश्यक है, जिससे कारण शरीर उड़ जाएगा। वच. मध्य 31 तथा अंत्य. 39 के अनुसार, ब्रह्म का मनन द्वारा संग, अंतर्दृष्टि और सोच को पाकर आत्मा-परमात्मा की लगन लगा लें और उनके वचन में सम्पूर्ण विश्वास रखकर वर्तने लगें, तो तत्काल ही निर्वासनिक हो जाएंगे, इसमें तनिक भी संदेह नहीं।

(4) यदि प्रगट संत की क्रिया पसंद आए, उसका स्वरूप निर्दोष मानें और वे जैसा कहें वैसा करें तब भी वासना को सरलता से जीता जा सकता है। वर्ना, भले ही कितना ही तप, त्याग, व्रत, दान और प्रयत्न करें, निर्विकल्प समाधि भी चाहे होती हो, पर विषयों के अव्यक्त राग टल नहीं पाते और वासना के कारण, जीव पुनः देह धारण करता है। जन्म-मरण के चक्र में फँसा ही रहता है। यदि प्रगट संत प.पू. योगीजी महाराज जैसे स्वरूप को निर्दोष समझें और उनकी प्रत्येक क्रिया को दिव्य मानें व उनका वचन माना जाए, तो जीव वासनारहित होकर, जीतेजी ही ब्रह्मरूप हो जाता है। लेकिन ऐसे संत में अखंडित दिव्यभाव रखना अत्यंत कठिन है। वर्ना तो, सहज में ही, बिना किसी साधन के, वे वासना से मुक्त करा देंगे।

(5) मृत्युलोक में कलियुग में अल्पकाल जीना और निर्वासनिक होकर भजन करना सीखने के लिए प.पू. शास्त्रीजी महाराज और गुरुवर्य योगीजी

महाराज ने हमें 'सत्संग'–सत्पुरुष में आत्मबुद्धि रखते हुए निर्दोषबुद्धि और हरिभक्तों में दिव्यभाव रखने का सरलतम मार्ग बताया है। यह सभी के लिए आसान पड़े–ऐसा है।

केवल श्रीजी का आसरा रखकर प्रगट संत में अखंड निर्दोषबुद्धि रखकर, अतिशय सेवा करते रहें और उनके निष्ठावान हरिभक्तों में दिव्यभाव रखकर केवल उनके गुण ही गाया करें, तो जीव निर्वासनिक होकर ब्रह्मरूप हो जाता है।

उपरोक्त उपायों में से यदि एक भी उपाय हमें सुगम न हो, तो आख़िरकार एक अन्य मार्ग शेष है – वह अपनाना। वच. प्र. 58, मध्य 7 के अनुसार 'मैं आपका ही हूँ' और 'आप मेरे हैं' इस बात को दृढ़तापूर्वक मानकर, अपने स्वयं के ही दोषों को देखते रहकर, गुलाम की भाँति सेवा किया करें तो भी जीव निर्वासनिक हो जाता है।

अतः इन सरल उपायों को सत्पुरुष द्वारा सभी को सिद्ध करना चाहिए और जीतेजी ही ब्रह्मरूप होकर सर्वोपरि उपासना दृढ़ करके स्वधर्मयुक्त जीवन जीना चाहिए, ताकि निर्गुण सुख की अनुभूति हो सके और प्राप्त कर सकें। सभी प्रसन्न रहना, भूलचूक माफ़ करना।

–दिसंबर, 1955

20

सत्संग का बॅरोमीटर

वेदों, उपनिषदों और अन्य कई धर्मशास्त्रों में भगवान के स्वरूप का वर्णन आता है और कसनी सहने वाले, मर्जी के मुताबिक़ चलने वाले उनके संतों, हरिभक्तों एवं मुक्तों के बारे में भी खूब अलंकारों और विशेषणों से भरपूर भाषाओं में लिखा हुआ है। कई ऐसी धार्मिक पुस्तकों, जैसे–गीता व भागवत का श्रावण मास में पाठ भी करते हैं, किन्तु तब भी कल्याण की प्रतीति और अंतःकरण की शाश्वत् शुद्धि नहीं होती व जीतेजी ही वासना टलकर, प्रकृति बदल कर, ब्रह्मरूप होकर जीव को भगवान का साक्षात्कार भी हुआ लगता नहीं। कई बार कथा, भजन, कीर्तन करने पर भी भगवान के स्वरूप का सुख, शांति या आनंद की अनुभूति नहीं होती। ऊपरी-ऊपरी सात्त्विक सुख या मन, प्राण, अन्न, विज्ञान या आनंदमय कोशों की शांति को सच्ची शांति मान कर, अपरिमित अनंतगुणा, ऐश्वर्ययुक्त ऐसे सर्वोपरि भगवान की झांकी तक नहीं हो पाती। इन सब का मूल कारण है सच्चा ज्ञान और सच्चे सत्संग का अभाव। भगवान को धारे हुए निर्वासनिक संत द्वारा ही सत्शास्त्र का सेवन करने पर सच्चा सत्संग दृढ़ होता है और जीतेजी कीड़े की भौंरी बन कर, आज्ञा और उपासनारूप दो पंख दृढ़कर, अक्षरधाम का अलौकिक सुख प्राप्त हो पाता है और नम्रभाव से समग्र सत्संग को दिव्य मानकर, निर्दोषबुद्धि रखकर सेवा हो पाती है। हमें तो प.पू. योगीजी महाराज के रूप में साक्षात् दिव्यमूर्ति संत मिले हैं, तब भी दिव्यसुख-आनंद प्राप्त नहीं कर पाते; सो अंतर्दृष्टि करके सत्संग का बॅरोमिटर हम सभी को नापना चाहिए, जिससे हमारी आध्यात्मिक भूमिका और जीतेजी ही, धाम का निर्गुण सुख लेने की स्थिति का भान हो सके एवं जाग्रतता रहती जाए। भीतर के शुद्धभाव से तलाश करने वाले को स्वामिश्रीजी और संत प्रगट प्रमाण द्वारा प्रतीति करा देते ही हैं, यह पक्का समझना और गुरुमुखी होकर वे जैसा कहें, वैसा करने लग पड़ना।

कल्याण तो-प्रगट संत और स्वामिश्रीजी का आसरा हुआ है, सो निश्चित है ही। लेकिन सुख लेने की बात आए या स्थिति प्राप्त करने की बात आए, वहां तो जैसा

कि श्रीजी महाराज ने सद्‌गुरु प्रेमानंदस्वामी द्वारा मूर्ति का वर्णन सुनने के बाद आख़िर में कहा था, 'अंतर की प्रसन्नता' पानी हो, इसके लिए तो सच्चे संत का सेवन करके अलग साधन करने पड़ते हैं। तब ही दिव्यमूर्ति सिद्ध होगी, अखंडित रहेगी व जाग्रतता निरंतर बनी रहकर हमेशा सुख और अहोहोभाव रहेगा। सो, हम सभी को ऐसे महान गुरु मिलने के बाद, हमारे निश्चय में, आसरे में, सत्पुरुष की आज्ञा में या अखंड अनुसंधान में कितनी बढ़ोतरी होती है, जाग्रतता कितनी चूक जाते हैं और संतों व निष्ठा वाले हरिभक्तों में कितना मनुष्यभाव आ जाता है वह ढूंढ लेना अवश्य ज़रूरी है। इससे प्रगट सत्पुरुष से निष्कपट होकर, निर्दोषबुद्धि और दिव्यभाव दृढ़ करने में तथा प्रगट संत में सर्वोपरिभाव से, असाधारण लगाव व प्रीति से, जुड़ जाने की कसर दूर करने में आसानी होगी और जीव बल को पा जायेगा। जैसे बनिया साफ़-सुथरे अक्षरों से बही खाता रखता है, वैसे छोटी से छोटी भावनाएं, प्रेरणा, भाव, वृत्ति या वेग की तीव्रता को सभी तरह से तलाश कर लेनी चाहिए। इससे मध्य 45 के मुताबिक़, 51 भूतों या मायिकभावों को दूर करने की कला साधु से सरलता से प्राप्त हो सकती है।

विषय के सुख दुःखरूप ही हैं, यह जानने के बावजूद भी अव्यक्त रागों से हम उनमें खीचें जाते हैं। ऐसी तीव्र वासना या प्रकृति को सर्वथा के लिए दूर करने हेतु ही स्वामिश्रीजी और गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज ने, परोसी हुई थाली के रूप में, गुणातीत ज्ञान की बातें बहुत ही सरल व आसान ढंग से हमारे अंतर में रख दी हैं और अतिशय लगाव व निजी संबंध बना करके हमें संभाला है। फलस्वरूप ऐसे सबीज ज्ञान के पेड़ बने और सुहृद्‌भाव से सभी उसका अमृत रस, सबरस के रूप में, भोगें व दूसरों को दे सकें।

ऐसी सर्वोपरि प्रकृति-पुरुष से पर के सबीज ज्ञान की जो बातें बड़े-बड़े पंडित, शास्त्रज्ञ भी समझ नहीं पाए, उन्हें गांव के भोले-भाले हरिभक्तों ने सहज ही पचा लिया और स्वरूपनिष्ठा परिपक्व करके अब संघनिष्ठा, सुहृद्‌भाव और निर्दोषबुद्धि के रूप में ऐसे ज्ञान की सौरभ हर एक को प्राप्त करवाने में समर्थ हुए हैं। यह हमारा बहुत बड़ा अहोभाग्य ही माना जाए। यह सब प्रगट गुरुवर्य योगीजी महाराज की कृपादृष्टि से ही हो रहा है और होता जा रहा है, इतना ही समझना है। इसमें ज़रा भी गफ़लत न हो-यही जाँच लेने की सभी से विनती है। इस ज्ञान की आखिरी कक्षा में आत्मा और परमात्मा ही रहते हैं और धाम, धामी तथा मुक्तों की, दिव्यभाव से-निर्दोषभाव से-ही सेवा

हुआ करती है, जहां अखंड अलौकिक आनंद, सुख और शांति दिखाई पड़ती है और परमपद-परम कल्याण की देह रहते ही प्रतीति होती है।

अहो हो! कैसे महान संत मिले हैं, जिनके सच्चे प्रसंग से ही वासना का क्षय और प्रकृति के परिवर्तन का जीतेजी ही अनुभव होता है! सभी शास्त्रों का और धर्मों का अंतिम रहस्य और फल ऐसे सत्संग से ही प्राप्त होता है। सो, प.पू. योगीजी महाराज और संतों का समागम कर लेने की ही लगन रखना। उनकी बातों के ऊपर मनन करना और एकांत में बैठकर भीतर में धारना और गहराई में जाकर निरीक्षण करना, तो जवाब तुरंत ही मिल जाएगा। हमारी वासना, स्वभाव या प्रकृति तुरंत ही दिखाई भी देगी। देखना, हम किस कक्षा की ओर जा रहे हैं और प्रगट संत द्वारा अंतिम ब्राह्मीस्थिति प्राप्त करने में क्या आड़े आता है। इन्हें नोट करके दूर करने का प्रयत्न करना।

(1) पहली कक्षा मुमुक्षु की है और **आसरा** ही प्रधानतत्त्व है। जैसे जगत में, वैसे ही मंदिर की क्रिया में और सत्संग में! स्वभावों का पोषण हो तब तक निभते हैं, वर्ना तो दुःखी हो जाते हैं।

(2) **आज्ञा–**मध्य 51 के मुताबिक़ गुरु आज्ञा को अविलंब पालें, तो विपरीत माहौल हावी नहीं होंगे और विषय के संकल्प आड़े नहीं आएँगे। इसमें धर्म, नियम और स्वरूपनिष्ठा समा जाते हैं। लेकिन, अखंड वृत्ति नहीं रहती।

(3) **अनुसंधान–**अखंड ध्यान और भजन जीव में हुआ करता है। जैसे-जैसे अव्यक्त राग टलते जाते हैं, वैसे-वैसे मूर्ति का दिव्य सुख मिलता जाता है। एकांतिकभाव सिद्ध होता है और किसी के भी अभाव-अवगुण या द्रोह में फिर वे जाते नहीं।
या तो प्रीति द्वारा ऐसा अखंड अनुसंधान प्राप्त करना पड़ता है, जिससे दोष नड़ ही नहीं पाते। अपार प्रीति वाले भक्त देह का चूरा करके भी गुरु की आज्ञा महिमा सहित पालते हैं। सो, ऐसे भक्त को निश्चय या निष्ठा द्वारा भी 'कृपा' से अखंड अनुसंधान सिद्ध हो जाता है।

(4) **एकता–**साधर्म्य: केवल आत्मा और परमात्मा दो ही रहें–वह आखिरी ब्राह्मीस्थिति कहलाती है। इसमें अखंड जाग्रतता रहती है। दासभाव से, निष्कामभाव से समग्र सत्संग की सेवा हुआ करती है। ऐसे भक्तों में अहंता या ममता का भार, कर्तव्य का भार, ऐश्वर्य का राग या ज्ञान, भक्ति,

वैराग्य का जरा भी अभिमान दिखाई नहीं देता। सभी क्रियाएँ निर्गुण बन जाती हैं। वच. मध्य-66, मध्य-30, अमदावाद-2, अत्यं, 11-39 वगैरा के मुताबिक़ की 'ज्ञान समाधि' वच. प्रथम 24 के मुताबिक़ अखंड रहती है।

ऐसी अलौकिक स्थिति स्वामिश्रीजी सभी हरिभक्तों को जीतेजी ही प्राप्त कराएं और निर्दोषबुद्धि दृढ़ कराके, समग्र सत्संग दिव्य माना जाए – ऐसी कृपादृष्टि करें, यही प्रार्थना है।

पल-पल, प्रसंग-प्रसंग पर परिस्थिति बदलते, चारों युग के धर्म एक दिन में ही दिखाई देते हैं और खूब समागम करने पर भी मन का, अहम् का बॅरोमिटर स्वयंमेव ही ऊपर-नीचे होता जाता है और सत्पुरुष व स्वामिश्रीजी के प्रति स्थितप्रज्ञता या स्थिरता का भाव दृढ़ नहीं रह पाता, यही खोट है। तो, गुरुजी से प्रार्थना करके वह दूर हो जाए, ऐसा सभी प्रयत्न करना और अखंड जाग्रतता सिद्ध हो जाए, ऐसी वे कृपा करें यही विनती है।

–जनवरी, 1956

21

अंतर का कुरुक्षेत्र एवं सुलगते घर

श्रीजी महाराज ने सभी शास्त्रों का रहस्य एवं सार बहुत ही संक्षेप में सरलता से वचनामृतों, शिक्षापत्री और भक्तचिंतामणि जैसे ग्रंथों में रख दिया है, जिसे प्रगट सत्पुरुष की सेवा और समागम द्वारा जीवन में साकार कर सकते हैं। अतः हर एक व्यक्ति को सच्चाई से सत्संग करके, शीघ्र ही बाह्य और अंतर के कुरुक्षेत्र की लड़ाई का अंत कर देना चाहिए, ताकि अंतर में सुख-शांति और आनंद सदैव रहा करे।

पुरुष और प्रकृति के बवंडर हर एक के जीवन में उपस्थित होते ही हैं। इसीलिए, स्वामिश्रीजी ने इंद्रियों-अंतःकरण की सीमाओं को ढूँढ कर, निर्वासनिक होने के सरल उपाय बताए हैं, ताकि विक्षेपों, क्लेशों, रागों और स्वभाव टल जाकर साक्षात् ज्ञान प्राप्त हो और धाम का सुख ले सकें।

अनादि काल से विषयों के बाह्य सुख और खोटे रमणीय विषयों के अव्यक्त रागों के प्रति आकर्षण के कारण, अंतर में सदैव संग्राम चलता ही रहता है। सत्संग करने से ऐसे कुरुक्षेत्र टलते जाते हैं और जीव शुद्ध होते, प्रकाश रूप बन कर, सजग रहता है और निर्मानीभाव से सेवा-भक्ति करने लगता है।

सुख-दुःख, मान-अपमान, हर्ष-शोक, जीवन-मृत्यु, अहंता-ममता एवं अनेक मनमानी क्रियाओं के क्लेश का अंत सच्चे सत्पुरुष ही ला सकते हैं। अतः ऐसे संत को प्रगट रूप में सर्वोपरि मान कर, गीता के अर्जुन की भाँति उनमें श्रद्धा रख कर, उनसे जुड़े रहना, ताकि अंतर की सनातन लड़ाई का शीघ्र अंत आ जाए। आधि, व्याधि, उपाधि और आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक आपत्तियों में घिरे सुलगते हुए, अनेक जीवनरूपी घरों के अंतर की होली को बुझा कर, सच्ची शांति प्रदान करने वाले गुरुजी (प.पू. योगीजी महाराज) हमें साक्षात् मिले हैं। सच्चे संत प्रकृति-पुरुष से पर का ऐसा 'गुणातीतज्ञान' बख़्शिश में देकर, अंतर को शांत करके, दीप से दीप प्रगटाते हैं। प.पू. प्र.ब्र. योगीजी महाराज एवं संत ऐसे ही जाग्रत मंदिर-चैतन्य मंदिर तैयार कर रहे हैं। सो,

उनकी आज्ञानुसार हम वर्त सकें, ऐसी सभी शुद्धभाव से प्रार्थना करें तो प्रगटभाव की प्रतीति अवश्य हो जाएगी; दिव्यानंद का अनुभव होगा और 'कारण शरीर' की भट्ठी में से शुद्ध होकर सफलतापूर्वक बाहर निकल जाएंगे। जन्म-मरण का फेरा भी टल जाएगा और चौदह इंद्रियों के सुलगते घर जो जीव को मिले हैं, उन सभी के कुरुक्षेत्र की लड़ाई टल जाएगी। अतः प्रकट संत की महिमा को पूर्ण रूप से समझ कर संत समागम और सेवा सभी कर लें व किसी का भी अभाव-अवगुण मन में न लाएं, जिससे वैसी 'स्थिति' अखंड बनी रहे।

– फरवरी, 1956

22

ध्यान की समझ

शास्त्रों, अनुभव में एवं वर्णन में अनंत प्रकार के ध्यानों का उल्लेख है। लेकिन, महाभारत में मोक्षधर्म के विषय में जो बताया है, उस चमत्कारिक ध्यान की बात श्रीजी महाराज ने समझाई है। परोक्ष की भक्ति करने वालों के लिए वह उत्तम गिनी गई है, क्योंकि उसके द्वारा 'सिद्धदशा' तत्काल प्राप्त होती है। योगमार्ग की एक भूमिका को 'ध्यान' माना गया है जिसमें एकाग्रता, (प्राण का निरोध) प्राण को वश में करना, वृत्ति का एकीकरण इत्यादि को समाविष्ट किया गया है। पातंजल के योग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि अर्थात् किसी सद्‌गुण, सद्‌प्रवृत्ति, प्रतिमा या स्वरूप में लय-लीन होने पर ज़ोर दिया है; जबकि गीता के कर्मयोग और राजयोग दिव्य स्वरूप के चिंतन द्वारा चित्तवृत्ति के शुद्धिकरण को प्रकाशित करते हैं और कर्मयोगी द्वारा कुशलता से, विधिपूर्वक कर्म पूर्ण किए जाने पर, उसमें 'ब्रह्म जिज्ञासा' उत्पन्न होती है। तब चित्त की शुद्धि होने के कारण प्रकाश में भगवान की मूर्ति दिखाई देती है और दिव्य सुख का अनुभव होता है। प्राण के निरोध से या चिंतन से गुण, शक्ति या स्वरूप के साथ एकता स्थापित करने के सर्वश्रेष्ठ साधन के रूप में 'ध्यान' का उपयोग किया जाता है। ऐसे ध्यान के फलरूप आत्मा का दर्शन और अव्यक्त राग टाल कर भगवान में जुड़ना सुगम बनता है।

संक्षिप्त में, 'ध्यान' अर्थात् एकाग्रता, सतत मनन और चिंतन; फिर वह चाहे किसी गुण का हो या किसी प्रतिमा, स्वरूप या अपने मनपसंद पदार्थ या शक्ति का। वृत्ति के एकीकरण से अंतर्दृष्टि करके जो किया जाता है, उसे 'ध्यान' कहा जाता है। ऐसे ध्यान के अनंत प्रकार हैं और उनकी अलग-अलग पद्धतियाँ बताई गई हैं।

सांख्य-शास्त्र में ध्यान की रीति तत्त्वदर्शन के रूप में वर्णित है, जिसमें तत्त्वचिंतन का स्थान प्रमुख है। निर्गुण ब्रह्म का चिंतन करने से चित्त की लयावस्था प्राप्त होती है और आनंदमय कोष सुलभता से दृढ़ होता है। फलस्वरूप, सात्त्विक शांति, आनंद और सुख का अनुभव होता है। लेकिन, विपरीत माहौल में अव्यक्त राग उभर आते हैं। अतः साकार ब्रह्म की ज़रूरत पड़ती है। ताकि, राजा जनक की भाँति योग व सांख्य द्वारा, भगवान या

उनके अवतार या उनके स्वरूप का ध्यान व वचन सिद्ध करके अखंड 'स्थितप्रज्ञ' रह सकें और जीवनमुक्त दशा में जीतेजी ही माया से परे जलकमलवत् रह पाएं। इसमें सनातन तत्त्वों के चिंतन को गुण के ध्यान से अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। मायिक आकार के दोषाध्यान से निरोधावस्था प्राप्त करके निर्गुणभाव में जाया जाता है। योग में वृत्ति 'स्वरूप' के साथ जुड़ती है, किन्तु सांख्य ध्यान से जीव की तीनों देह (स्थूल, सूक्ष्म, कारण), तीनों अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) तथा तीनों गुण (सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण) की वृत्ति का निरोध होने पर, पृथक् होकर, आत्मारूप से भगवान या उनके स्वरूप का चिंतन करता है और 'निर्विकल्प समाधि' प्राप्त करता है। फलस्वरूप जीव निर्वासनिक होकर सौ जन्म की कसर एक ही जन्म में पूरी कर लेता है। इन सब में परोक्ष रीति से वृत्ति या तत्त्वों का ध्यान करने पर अधिक ज़ोर दिया गया है, जबकि वच. मध्य 17 के अनुसार, 'स्वरूप का स्थितप्रज्ञ' होने से जीतेजी ही जीव के अनंत जन्मों के पाश टल जाते हैं और जीव 'निर्विकल्प स्थिति' सरलता से प्राप्त कर लेता है।

ध्यान के लिए वड़ताल 8, 4, 5, प्रथम 5, अंत्य. 31, अमदावाद 1 पढ़ना। हमें तो भगवान और उनके स्वरूप की पहचान करके, उनकी अखंड स्मृति करते हुए श्रीजी महाराज का ध्यान करने की मुख्य रीत रखनी है। वच. प्रथम 5 में महाराज ने भक्त सहित भगवान का ध्यान करने की जो बात कही है, वह – अनादि मूल अक्षरब्रह्म गुणातीत के साथ एकता करके, ब्रह्मरूप होकर, परब्रह्म का ध्यान करना है। इसलिए ब्रह्म का मनन द्वारा संग करना पड़ेगा। वच. मध्य 31, 30, अमदावाद 2, प्रथम 21, 23 के अनुसार अलग-अलग अंगों में मूर्ति या स्वरूप को धारने की कठिन क्रिया के बजाय, प्रत्यक्ष स्वरूप में दिव्यभाव दृढ़ करने का जो ज्ञान प्राप्त करना, वह 'ज्ञानसमाधि' सर्वोत्तम मानी जाती है। महाराज ने वृत्ति के साक्षात्कार वाले संतदासजी, सिद्धानंदस्वामी और स्वरूपानंदस्वामी की अपेक्षा मुक्तानंदस्वामी, कृपानंदस्वामी तथा गोपालानंदस्वामी की समझ को अधिक बखाना है और संत समागम द्वारा परोक्ष की भाँति प्रत्यक्ष-प्रगट की निष्ठा दृढ़ करने पर अधिक ज़ोर दिया है। इससे निर्विकल्प समाधि से जैसा सुख प्राप्त होता है, प्रगट संत से आत्मबुद्धि और प्रीति करने से वैसा ही सुख प्राप्त होता है। संत की सेवा द्वारा ही स्वरूप का साक्षात्कार होता है, ऐसी रीति वच. वड़ताल 11, अंत्य. 2 में बताई है। श्रीजी महाराज ने स्वयं अपने श्रीमुख से वच. प्रथम 60 में ध्याननिष्ठा, योगनिष्ठा, सांख्यनिष्ठा, अष्टांगयोग आदि की अपेक्षा 'स्वरूपनिष्ठा' को प्रथम अंक बता कर, संत द्वारा निर्वासनिकभाव एवं एकांतिकभाव सिद्ध करने का सिद्धांत बताया है।

फिर भी, जिसे ध्यान करने की प्रधानता हो, उसे चार प्रकार के मुख्य ध्यानों में से एक को मुख्य रख अखंड अंतर्दृष्टि करनी चाहिए, ताकि मूति विस्मृत न हो और वृत्ति अखंड रहे। फिर भी, श्रीजी महाराज ने लीलाचरित्र सुनने का आग्रह किया है, जिससे वृत्ति और उसका वेग समाप्त हो जाता है; पर प्रतिकूल माहौल की चपेट में आने से मूर्ति जरूर विस्मृत हो सकती है। इसलिए ज्ञानमार्ग को सर्वोत्तम गिना गया है और प्रगट संत से आत्मबुद्धि करने को इस मार्ग का प्रथम सोपान माना गया है। संतदासजी जैसे सिद्ध की अपेक्षा मुक्तानंदस्वामी जैसे को खेड़ा जिल्ले के कॅम्प की भाँति अत्यधिक श्रेष्ठ माना गया है। सो, ध्यान के चार प्रकारों

(1) लीला चरित्रों समेत का

(2) केवल मूर्ति का

(3) भक्त सहित भगवान का

(4) दिव्य स्वरूप को सांगोपांग धारण करना

में से जो भी प्रकार जमे, उसके अनुरूप मूर्ति सिद्ध कर लेना।

भजन से ध्यान अधिक है, ध्यान से अधिक उपशम है और उपशम से अधिक श्रेष्ठ बढ़ कर स्मृति है, लेकिन इन सभी कठिन रीत की अपेक्षा 'अनुवृत्ति' सरल और अधिक बलशाली है। अतः प्रगट संत से जुड़ जाना चाहिए, ताकि श्रीजी महाराज के स्वरूप को यथावत् पहचाना जा सके और योग से बंधने में उसकी जो कॉन्सियसनेस या चेतन तत्त्व का भाव हमारे भीतर रह जाता है, वह भय नहीं रहता। वच. वड़ताल 11, अंत्य. 2, 18, 38 के अनुसार, प्रत्यक्ष संत से असाधारण प्रीति करने से, वच. मध्य 63 के अनुसार जीतेजी श्रीजी महाराज का दर्शन होता है और धाम का सुख अखंड अनुभव होता है। अतः वृत्ति का साक्षात्कार करना कठिन है, जबकि ज्ञानदशा सिद्ध करके स्वरूप का साक्षात्कार करना श्रेष्ठ है।

वृत्ति का साक्षात्कार :

(1) वच. वड़ताल 4, 8, अमदावाद 1 में कहे अनुसार, जिस प्रकार योगी मूर्ति को पतंग की भाँति बाहर और अंदर धारण करता है, वैसे-वैसे वृत्तियों का शुद्धिकरण भी होता जाता है। एकाग्रता युक्त ऐसे ध्यान और वृत्ति की ऐसी स्थिरता को 'धारणा' कहा जाता है। धारणा के बाद, वृत्ति का लय मूर्ति में, गुण में या अपनी इच्छित कल्पना के आकार में हो, उसे योग मार्ग में 'समाधि' कहा जाता है और निरोधावस्था से चित्त का लय होने पर **'निर्विकल्प समाधि'** का अनुभव होता है। यूं अलग-अलग अंगों जैसे चौदह इंद्रियों, आँख में, कंठ,

नासिका, भ्रकुटि के बीच या हृदय में या ब्रह्मरंध्र में मूर्ति को धारते-धारते सभी अंगों का अर्पण होता जाता है और वृत्तियों का शुद्धिकरण होने पर, अंतर शांत हो जाता है व भगवान की मूर्ति के साथ एकता का अनुभव होता है व दिव्यानंद की अनुभूति होने लगती है।

(2) इसमें अंतिम दशा 'निर्विकल्प समाधि' कही जाती है और वच. मध्य 14, वड़ताल 1, प्रथम 25, 26 के अनुसार, प्रगट (सत्पुरुष) के निश्चय के बल से, प्रगट स्वरूप के चिंतन और स्मृति से, यह स्थिति सहजता से प्राप्त हो सकती है और अष्टांग योग साधने की ज़रूरत नहीं पड़ती। वच. प्रथम 54, मध्य 54, अंत्य. 2, 11, 39, वड़ताल 5, 11 के मुताबिक़, यह मार्ग प्रारंभ से अंत तक आत्मबुद्धि और प्रीति का मार्ग है। प्रगट में ही निर्दोषभाव से जुड़ कर श्रीजी का ध्यान करने का यह मार्ग है, जो 'कृपासाध्य' है। वृत्ति का मार्ग 'क्रियासाध्य' है और अति कठिन है।

ध्यान करने की भिन्न रीतियों में से दो प्रमुख रीति अपनाना, जिसे बड़े-बड़े मुक्तों और महाराज ने भी वच. अंत्य. 31, प्र. 5 में आग्रहपूर्वक बताया है। प्रथम, तात्त्विक ध्यान सिद्ध करने के लिए संकल्परहित, इच्छारहित और निर्वासनिक होना अनिवार्य है। तभी मूर्ति अखंड रहती है और विपरीत हालात हम पर हावी नहीं होंगे। पर, संकल्परहित होने के लिए या आत्मसत्ता रूप से ध्यान करने के लिए सत्पुरुष की जरूरत पड़ती है। वच. प्रथम 60 के अनुसार जो निर्वासनिक और भगवान का धारक होगा, वही अन्यों को निर्वासनिक कर सकेगा। इसलिए अनादि मुक्तराज गोपालानंदस्वामी कहते हैं–संकल्परहित होकर ध्यान करने के लिए प्रगट संत की ज़रूरत पड़ेगी और उनकी सेवा या उनसे प्रीति करने से जीव के दोष टलते जाएंगे एवं उनके वचन से वच. कारियाणी 11 के मुताबिक़ 'कारण शरीर' टलने पर मूर्ति सिद्ध होगी। सो, सत्संगी में ऐसी आत्मबुद्धि करने के ज्ञानमार्ग को सभी को अपनाना चाहिए। भक्तसहित ही भगवान का ध्यान करना चाहिए, जैसे कि श्रीजी महाराज कहते हैं–राधासहित कृष्ण का ध्यान करना चाहिए और इस भाव को दृढ़ रखना चाहिए। वच. प्रथम 5 के अनुसार सांगोपांग मूर्ति धारण करने के लिए यह प्रथम चरण है।

(3) फिर, अक्षरब्रह्म के साथ एकता करके, 'स्वरूप' बन कर, 'स्वरूपी' में अखंड जुड़े रहने को 'ज्ञानसमाधि' गिनी है। जीतेजी ही मुक्तदशा होने पर 'जहाँ देखें, वहाँ रामजी ही प्रतीत होंगे' एवं समता, सुहृद्‌भाव इत्यादि की प्रतीति अन्यों को भी होगी।

सो, नामी सहित नाम लेना – यानि संत की स्मृति और वचन पकड़ रख करके, उन्हें अपना स्वरूप मान कर, श्रीजी महाराज का ध्यान करना। हर प्रकार से 'स्व' का - अपनेपन और ममत्व के सभी भावों को पूर्ण रूप से भूल कर, श्रीजी महाराज की दिव्य मूर्ति में संत के माध्यम से जुड़ जाना। राधारूप बन कर कृष्ण को धारण करना। वच. लोया 11 और सारंगपुर 11 के अनुसार गुणातीत बन कर - ब्रह्मरुप होकर, परब्रह्म को धारण करना और स्वामीसेवक भाव से उपासना दृढ़ करना।

सत्पुरुष में आत्मबुद्धि और प्रीति दृढ़ करने की ही लगन लगाना। वच. अंत्य. 31 के अनुसार जिन प्रत्यक्ष स्वरूप द्वारा वच. पंचाला 7 के मुताबिक़, माया के कपटरूप सर्ग (सत्त्व, रज, तम गुण) मर्दन किया गया है, उस स्वरूप की पहचान करके, उसकी स्मृति करके श्रीजी महाराज का ध्यान करना। राधारूप बन कर श्रीकृष्ण को अखंड धारना। सारंगपुर 11 तथा लोया 11 के अनुसार, हमें भगवान या वच. वड़ताल 10 में बताए तीस लक्षण युक्त उनके साधुरुप अवतार का ध्यान करना बताया है तथा शास्त्रों में दत्तात्रय, कपिलजी इत्यादि साधुरुप अवतारों का ध्यान करने के लिए भी कहा गया है। श्रीकृष्ण या उनके अवतारों का ध्यान किया जाता है, लेकिन मनुष्य या देव या ब्रह्मवेत्ता संतदासजी जैसे सिद्ध संत का ध्यान नहीं होता। जबकि वच. अंत्य. 26, प्रथम 27 के अनुसार अवतारों को साधु रूप में भगवान को अखंड धारण करने वाले निष्कामी संत को अवतार माना जाए, ऐसा श्रीजी स्वयं प्रतिपादन करते हैं और निष्कुलानंदस्वामी ने तो ऐसे संत को 'स्वयं हरि' की उपमा दी है और वच. अंत्य. 2 में उनके समागम को ही 'परमपद' बताया है तथा मृत्यु उपरांत मिलने वाले, हमें जीतेजी प्राप्त हुए हैं, ऐसी प्रतीति इस समागम से हो जाती है। अतः अवतार साधुरूप या राजारूप में धरा पर अवश्य विचरण करते रहते हैं। वड़ताल 19 के अनुसार उस स्वरूप को पहचान कर, ब्रह्मरूप होकर, स्वरूपी श्रीजी महाराज को अखंड धारण करके निरंतर सेवा में रहना चाहिए। यूं, भक्तसहित ही भगवान का ध्यान करने की रीति सर्वोत्तम है, सर्वश्रेष्ठ है और ऐसे संत को अपना स्वरूप मान कर अक्षररूप, ब्रह्मरूप, आत्मारूप रह कर परमात्मा को ही धारण करना है और इसी को 'ज्ञानदशा' कहा जाता है। प्रगट बड़े संत से ही ध्यान की रीति समझ कर, निष्काम भक्त बनकर, आत्मा - परमात्मा दोनों को ही मुख्य रखेंगे, तभी सत्संग पूर्ण हुआ माना जाएगा और नम्रभाव से समग्र सत्संग की दिव्यता मानी जाएगी और निर्दोषभाव से ही सेवा होती रहेगी।

–अप्रैल, 1956

***

23

दैवीय और आसुरी बुद्धि

विभिन्न प्रकार की बुद्धि प्रत्येक व्यक्ति के कर्ताभाव में दिखाई देती है और जीवन के प्रवाह में उसका अनोखा प्रभाव पड़ता है। यह सभी की जानकारी में आता भी है। जैसा कि भगवद्गीता में कहा गया है, अनादिकाल से दैवीय और आसुरी सम्पत्ति का आधार अपनी-अपनी बुद्धि ही है। संस्कार के मुताबिक़ संतों से शुभाशीष प्राप्त होते हैं और निर्दोषबुद्धि दृढ़ होते, संत की कृपा से, स्वयं के दोषों, विकारों, सूक्ष्म अहंता भरे रवैये, हठ, मान, ईर्ष्यारूपी आसुरीभाव मूर्तिमान दिखाई देने पर, उन्हें दूर करने का बल मिलता है। **सच्चे संत केवल करुणा करके हमारे द्वारा बबूल बोए जाने पर भी, हमें आम का रस पिलाते हैं और सभी अनर्थ को-सूली का दुःख कांटे से टाले यूं इसी जीवन में ही सौ-सौ जन्मों की कसर जीतेजी ही, भक्तसहित भगवान की भक्ति करवा कर टाल देते हैं।**

इसमें मूलतत्त्व 'निर्दोषबुद्धि' ही है; क्योंकि कल्पना ही संपूर्ण जीवन का मूल है, जिसका आधार प्राणवायु के योग से चेतनतत्त्व पर आश्रित है और वह चेतना बुद्धि में व्यापकरूप से सदैव रही है। इस तथ्य का श्रीजी महाराज ने जीव के स्वरूप और अस्मिता की समझ देकर, बुद्धि की जाग्रति में जीव की भी जाग्रति आ गई, ऐसा अनुभवज्ञान दिया है। इसे संत द्वारा सब को प्राप्त कर लेना है।

हमारी बुद्धि में ही कल्पना विद्यमान रही है। हमारे निर्णयों और स्मृति में ही सभी दोष-काम, क्रोध, ईर्ष्या, कपट वग़ैरह एक रस हो गए हैं। सो, भिन्न-भिन्न प्रसंगों व परिस्थितियों में हमारी मान्यता की दृढ़ता के मुताबिक़ ही प्रकृति, स्वभाव काम करते हैं और बुद्धितत्त्व के विभिन्न स्वरुपों का आधार कर्ताभाव में दिखाई पड़ता है। जैसे कि निश्चयात्मकता, व्यवसायात्मक बुद्धि, शापितबुद्धि, गुणबुद्धि, निर्दोषबुद्धि, दिव्यबुद्धि, व्यवहारिकबुद्धि, कुशाग्रबुद्धि वग़ैरह अनेक प्रकार की बुद्धि का उनके कार्यों द्वारा पता चलता है।

श्रीजी महाराज ने ब्रह्म की जिज्ञासा वाले और उसके स्वरूप को पहचानने वाले या संत की सेवा करने वाले को ही 'कुशाग्रबुद्धि' वाला बताया है।

व्यावहारिक बुद्धि चाहे कितना भी बड़प्पन, मान, सत्ता, सामर्थ्य बख़्शने वाली हो, किन्तु मोक्ष मार्ग में, **संत की सेवा में जो निर्णय, ज्ञान काम में नहीं आता, वह निरर्थक ही है** ऐसा स्पष्टरूप से सभी शास्त्रों में कहा गया है। इसलिए संस्कार कैसे भी क्यों न हों, किन्तु महाराज के आसरे रहकर प्रगट संतों की सेवा तथा श्रीजी की भक्ति स्वधर्मयुक्त करने की आदत डालनी चाहिए, जिससे कि जीव सत्संगी हो जाए!

सूक्ष्म ज्ञानमार्ग में श्रीमहाराज ने एक बहुत बड़ी बात यह कही है कि भजन तो सभी करते हैं, लेकिन भगवान जिससे वश हो जाएं–सरलता से प्राप्त हो जाएं, ऐसा 'सच्चा समागम' या सत्पुरुष का संग या 'सत्संग' निर्दोषबुद्धि से नहीं होता; फलस्वरूप अंतःकरण जीता नहीं जा सकता। ऐसी दिव्य भावना के बगैर की गई 'भक्ति' भी सगुण कहलाती है और वह भक्ति अंतर में सुख-शांति या आनंद की प्राप्ति नहीं करा सकती। सत्पुरुष का प्रसंग तो खूब करते हैं, सेवा भी की जाती है, किन्तु देहात्मबुद्धियुक्त सत्संग, दूसरों के दोष एवं दूसरों की क्रिया के भले-बुरे में हमारा सिर खपाता रहता है–जिससे अंतर में रहते अंतर्यामी हमसे दूर हो जाते हैं। फलस्वरूप, असंतोष, अतृप्ति, सूक्ष्म आसक्तियाँ, दृढ़ हुई मान्यताएं क्लेश खड़ा करती हैं। सो, **अति सच्चे भाव से ही सत्पुरुष का समागम करना ताकि माहात्म्यज्ञान से युक्त भक्ति द्वारा बुद्धि में फर्क पड़ जाएगा और केवल शुभ संकल्प ही उठेंगे तथा सत्कर्म ही हुआ करेंगे, जो अंततः अंतर को निरंतर शांति प्रदान करेंगे।**

संक्षेप में, सभी विचार, भावनाओं और वृत्तियों के स्थूल आकार भी होते हैं, सो उनके हाथ-पांव होने के कारण वे अन्य व्यक्तिओं के हृदय को प्रभावित करते हैं। बुरे विचार व संकल्प हमारे अपने लिए, अन्यों के लिए तथा भावि पीढ़ी के लिए भी दुःखरूप होते हैं; क्योंकि ऐसी सम्पत्ति हमारे बालकों में, वारसे में, आसुरीभाव के **'संस्कार'** उत्पन्न करती है और बुरी आदतें डलती जाती हैं, जो बाद में जड़ बन जाती हैं और खूब प्रयास करने पर भी छूटती नहीं। अतः **सत्संग करते-करते शुभ ही भावना और विचार दृढ़ करने की लगन रखनी।** भीतर की गहराई में उतर कर ऐसे शब्द को विचारना, धारना और अमल में लाने का प्रयत्न करना। केवल तभी मन-बुद्धि और चित्त का आमूल रुपांतर हो पाएगा। अच्छी आदतों और शुभ भावनाओं के रूप में इसका एहसास अन्यों को भी होगा ही। **समता और सुहृद्‌भाव युक्त ऐसा सत्संग ही सच्चा 'गुणातीतज्ञान' दृढ़ करा कर श्रीजी महाराज की मूर्ति का दिव्य सुख प्राप्त करा सकेगा।**

परम भागवत् प्रगट संतवर्य श्री योगीजी महाराज द्वारा सभी सत्संगियों में ऐसी दिव्यबुद्धि दृढ़ हो, यही अभ्यर्थना है। सच्चे संत का गुणगान करना और हरिभक्त के गुण देखना तथा सेवा किया करना; जिससे दिव्यबुद्धि, निर्दोषबुद्धि दृढ़ होगी। स्वयं का ही दोष देखकर, सतत अंर्तदृष्टि रखकर, जाग्रति से ही भजन किया करना, जिससे धाम का निर्गुण सुख जीतेजी प्राप्त होगा। **संतों और हरिभक्तों के गुणगान करने मात्र से ही जीव ब्रह्मरूप हो जाता है।** तो, सरलता से एकांतिकभाव की ऐसी बड़ी पदवी प्रगट संत द्वारा सभी प्राप्त कर लें, ऐसी नम्र प्रार्थना है। शिक्षापत्री - श्लोक 121 के मुताबिक़ ब्रह्मरूप होकर स्वामिजी का भजन करना, इसे ही भक्ति गिना है। ऐसा आत्यांतिक कल्याण प्रगट संत द्वारा जीतेजी सभी दृढ़ कर लें।

– मई, 1956

24

साधु का ज्ञान

तत्त्व से स्वामिश्रीजी के स्वरूपों का ज्ञान प्राप्त हो, तब ही आत्यंतिक मुक्ति को पा सकते हैं, ऐसा श्रीजी महाराज ने ज़ोर देकर कहा है। सबसे परे अक्षर हैं और वे मूर्तिमान हैं एवं उससे पर पुरुषोत्तम हैं। यूं पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, महत्तत्त्व, प्रधान पुरुष, प्रकृति और अक्षर से पर ऐसे परात्पर श्रीजी महाराज की अपरम्पार महिमा समझने, धारने और अखंडित करने के लिए साधु के ज्ञान की अनिवार्यता गिनी जाती है। वच. प्रथम 63 या लोया 7-11, का. 1-7 वग़ैरह के मुताबिक़, जब तत्त्व से प्रत्यक्ष स्वरूप के प्रति सर्वोपरि भाव दृढ़ हो, तब ही प्रकृति के भाव टलकर आत्यंतिक प्रलय सिद्ध होता है। यह बात महाराज ने मध्य 30, अमदावाद-2, वग़ैरह में प्रतिपादित की है। वड़वानल अग्नि के समान सच्चे संतवर्य, वरताल 19 के मुताबिक़, इस भरतखंड में सदैव विचरण करते रहते हैं, ऐसा महाराज का वचन है। ऐसे संत को पहचान कर, प्रकृति-पुरुष, शक्ति और संकल्प से पर का, प्रथम 24 के मुताबिक़ का ज्ञान प्राप्त कर लेना; तो ही धाम के सुख का जीतेजी अनुभव होगा और मूर्ति सिद्ध होगी।

ऐसे प्रगट संत फिलहाल पूज्यपाद श्री योगीजी महाराज हैं, जिनमें निष्कुळानंदस्वामी ने जो वर्णन किया है, वे संत के सभी लक्षण दिखाई देते हैं और वड़ताल 10 एवं प्र. 27 के मुताबिक़ ऐसे संत में श्रीजी अखंड विराजमान रहते हैं। अनंत ब्रह्मांडों का कार्यभार उनके द्वारा श्रीजी चलाते हुए दिखाई पड़ते हैं। सो, ऐसे सत्पुरुष में असाधारण प्रीति या मन, कर्म, वचन से उनकी असाधारण सेवा कर लेनी, जिससे साधु का सच्चा ज्ञान प्राप्त हो और अहंता, ममता के भाव टलकर जीतेजी इयल की भ्रमरी बन जाए। योगमूर्ति गोपाळानंदस्वामी ने 40 साधुओं को स्वरूपज्ञान दिया, जिनमें से सिर्फ छः साधु ही मुक्त दशा प्राप्त कर सके और उनमें से भी केवल तीन ही 'साधु का ज्ञान' पा सके। सो, महाराज को जैसे हैं वैसा ही पहचानने के लिए, निष्कामी, निर्मानी संतवर्य का आश्रय लेना ही होगा और ऐसे संत द्वारा ही निर्वासनिक हो सकेंगे। तब जाकर जीतेजी ब्रह्मरूप होकर भगवान में जुड़ पाएंगे। तो, सभी मुमुक्षुओं को यह प्राप्त कर लेना चाहिए।

'साधु का ज्ञान' हो तो धाम, धामी और मुक्त ही सत्य माने जाएंगे और प्रकृतिपुरुष का कार्य मन से निर्माल्य ही माना जाए। जीतेजी ही माया से पर वर्ता जा सकेगा तथा दोष टल जाएंगे और अंतर में अखंड शांति की प्राप्ति हो पाएगी। और, प्रत्यक्ष कल्याणकरी तत्त्व जिनमें प्रगट हों, ऐसे संत की मर्जी के मुताबिक़ ही वर्ता जाए तथा अखंड गुरुमुखी रहकर, संकल्परहित होकर, समग्र सत्संग को दिव्य समझ कर निर्मानीभाव से सेवा हुआ करती है। प.पू. शास्त्रीजी महाराज के प्रताप से ऐसे कई सच्चे सेवक तैयार हुए हैं और 'साधु का ज्ञान' पू. योगीजी महाराज दे रहे हैं। फलस्वरूप निर्दोषबुद्धि दृढ़ होकर, एकांतिकभाव सरलता से सिद्ध होता जाता है और संप, सुहृद्‌भाव व एकता बढ़ती हुई दिखाई देती है। सो, पू. योगीजी महाराज की मर्जी, रुचि और अभिप्राय के मुताबिक़ ही चलना है व महाराज की आज्ञा में रहकर सेवा करनी है, ताकि गुण से परे का-साधु का 'गुणातीत ज्ञान' जीतेजी ही सिद्ध हो जाएगा।

–जुलाई, 1956

25

आवरण एवं विक्षेप

सभी को ऐसा लगता है और अनुभव में भी आता है कि मानव जीवन के विकासक्रम में अनादि काल से ही अनंत प्रकार के दुःख, क्लेश, व्याधियाँ, आवरण तथा अतंर के विक्षेप विद्यमान रहे हैं। इसके साथ-साथ वेद व उपनिषद् काल से ही इन सभी आवरण व विक्षेपों के निवारण हेतु अनेक प्रकार के उपाय, उपचार तथा उपासनाएँ भी गतिशील रही हैं। किन्तु इन आधि-व्याधि एवं उपाधियों का मूर्तिमान रीति से रामबाण इलाज करने, जैसा सरल, सुगम और सर्वोपरि मार्ग पूर्ण पुरुषोत्तमनारायण श्री स्वामिनारायण भगवान ने प्रशस्त किया है, वैसा अभी तक अन्य किसी ने नहीं किया। फलस्वरूप, काठी, कोली, कणबी, दरजी, सोनी, मोची या भील जैसे निम्न श्रेणी के व राजपूत एवं लुटेरी जातियों के जीवन में से भी, राग, द्वेष, क्लेश और विक्षेप निर्मूल होते देखे गए हैं, उनका रुपांतर होता दिखाई दिया है। कई प्रसंग तो इतने चौंकाने वाले हैं कि मानो केक्टस पर केले लगे हों।

यूँ, स्वामिश्रीजी ने प्रत्यक्ष संतों एवं एकांतिक सत्पुरुषों के माध्यम से छोटे-बड़े, साक्षर-निरक्षर, धनी-निर्धन–सभी को स्पर्श करती सरल, सुगम व सर्वोपयोगी रीति इस भरतखंड में सदैव के लिए खोल कर जारी रखी है। इन प्रत्यक्ष संतों एवं एकांतिक सत्पुरुषों के प्रताप और अनन्य आश्रय से जीतेजी ही, जीव के हर प्रकार के आवरण, क्लेश या विक्षेप क्षीण होकर स्वमेव ही समाप्त एवं विलीन होते जाते हैं और जीव सदैव के लिए सुखी हो जाता है। साथ ही, जीतेजी ही ब्रह्मरूप होकर धाम का निर्गुण सुख प्राप्त करता है।

वर्तमान में ऐसे प्रगट संत, प.पू. गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज के ही सर्वोत्तम शिष्य, संतवर्य योगीजी महाराज के रूप में, धरा पर विचर रहे हैं। वच. वड़ताल 5, 11, 10, 19 के अनुसार, उन्हें भगवान का साक्षात्कार किया साधु मान कर, समझ कर, उनकी महिमा जान करके, मुमुक्षुओं को अपने अंतर का आवरण और विक्षेप टालने का निर्गुण मार्ग सिद्ध करना चाहिए; ताकि, शिक्षापत्री के 116 एवं 121 श्लोक के मुताबिक़, जीतेजी ही आत्यंतिक मुक्ति को पा सकेंगे और निरंतर समागम करने से यह प्राप्त होने की

प्रतीति होती जाएगी। अतः ऐसे आवरणों और विक्षेपों के स्वरूप को जानें, ताकि साक्षात् ज्ञान प्राप्त हो और विपरीत माहौल हावी न हों।

अनादि मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामी ने तो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, देहाभिमान, पक्ष और प्रकृति को विक्षेप एवं आवरण का मुख्य कारण बताया है और जीवात्मा तथा परमात्मा के स्वरूप के अज्ञान व अविद्या को इन आवरणों एवं विक्षेपों का स्रोत बताया है।

जब पंचविषय के राग, भोग तथा आसक्ति (स्त्री, धन तथा कीर्ति की) अपूर्ण हों, तब उनसे उत्पन्न क्लेश, दोष तथा विक्षेप का निवारण प्रगट संत की कृपा से ही कर सकते हैं। शास्त्रों में भी उल्लेख हैं कि अनेक साधन करने पर भी अव्यक्त राग या आसक्तियाँ टल नहीं सकतीं। यदि देखें तो बड़े-बड़े ऋषि-मुनि जंगल में रहे, किन्तु काम, क्रोध, मान, ईर्ष्या इत्यादि जैसे बवंडरों की चपेट में आ ही गए।

संक्षिप्त में कहें तो–

(1) **आवरण : –** अर्थात् अज्ञान और अविद्या - जिसके कारण शुद्ध जीव, ईश्वर, माया और ब्रह्म तथा परब्रह्म के स्वरूप का साक्षात् ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता और प्रकृति-पुरुष के चक्कर में फंस ही जाते हैं। चूंकि सच्चे संत द्वारा ही आवरण दूर होता है, सो उस दिशा में प्रयत्न करते हुए उनकी आज्ञा में रह कर निर्दोषबुद्धि दृढ़ करके, स्वामीसेवकभाव से भजन करते रहना, ताकि वच. मध्य 7, 63 के मुताबिक़ जीव अतिशय बल को पाएगा।

(2) **विक्षेप : –** फिर भी, अंतर के विक्षेप मिटते नहीं, इसीलिए वच. मध्य 60 एवं अंत्य. 33 के अनुसार, प्रगट स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके अखंड अनुसंधान रहे, ऐसी सोच को दृढ़ करना ज़रूरी है। यदि अपने स्वरूप और जगत के स्वरूप का और भगवान के माहात्म्य का विचार सदैव बना रहे, तो हम जगत के पदार्थ, व्यक्ति और आकांक्षाओं को अपने आप ही हमारे स्वरूप से पृथक् महसूस करेंगे। स्वरूप की सच्ची पहचान तथा दृढ़ शुद्ध उपासना से उनकी आज्ञा का पालन करते हुए, सत्य व असत्य की पहचान होगी और असत्य के नरक की नालियों में ही हम अब तक सड़ते रहे हैं, ऐसा प्रतीत होगा, माना जाएगा और अनुभव में आ जाएगा। वास्तव में अंतर के दोष और आसक्तियाँ तो उपासना की दृढ़ता

तथा स्वरूप की पहचान से ही टाल पाएंगे। ऐसे संत का सेवन करके जीतेजी निर्वासनिक होकर भगवान के स्वरूप में जुड़ जाना, जिससे कि वच. मध्य 63 के अनुसार, जीव में तत्काल अपने आप बल आने से, सभी आवरण तथा अशुभ संकल्प, कामादिक दोष तथा आसुरी प्रकृतिरूपी विक्षेप टल जाएं।

स्वामिश्रीजी ने एकांतिक पुरुष के प्राकट्य द्वारा ऐसा सरल, सुगम तथा सर्वोपयोगी मार्ग सभी के लिए खुला रख दिया है। उनकी पहचान हो जाए, यही 'परमपद' और 'परम कल्याण' तथा यही आवरण और विक्षेप के अंत का सर्वोत्तम इलाज है।

– अक्तुबर, 1956

26

श्रुति व स्मृति

मानवजीवन में सन्मार्ग की ओर प्रगति सिर्फ धर्म-भावना का अनुशीलन करने से ही होती है – जिसकी पुष्टि शास्त्रों, संतों के जीवनचरित्रों एवं आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा भी हुई है। यह सत्धर्म मूलतः 'श्रुति व स्मृति' पर रचित सदाचार पर आधारित है। वाक़ई, जहाँ भी श्रुति-स्मृति द्वारा प्रतिपादित सदाचाररूपी धर्म का पालन होता है, वहीं सच्ची भक्ति के स्वरूप का दर्शन होता है। यह सनातन विधान सभी धर्मों और सभी प्रकार के शास्त्रों व सत्पुरूषों के वचनों में सदैव दिखाई पड़ता है। इस विषय में बुद्धिजीवियों को तटस्थ होकर विचार कर लेना चाहिए। आइए, इसका अर्थ स्पष्ट रूप से समझें :–

'श्रुति' अर्थात् परावाणी - परमात्मा के वचन; वेदों इत्यादि में उल्लेखित और भगवान द्वारा स्वयं उद्‌बोधित सूत्र - वचन।

'स्मृति' अर्थात् परमात्मा के वचन तथा वेदों व परावाणी के सूत्रों का निचोड़, अभिप्राय तथा सिद्धांत, जिनके आधार पर मानवजीवन का, उससे संबंधित भावनाओं, नियमों तथा रचना का गठन होता है।

ऐसा सदाचार ही सच्चा धर्म है व ऐसे स्वधर्मयुक्त जीवन को श्रीजी महाराज ने एकांतिक धर्म की नींव के रूप में 'स्वधर्म' की संज्ञा दी है। सत्पुरुष के वचन से वर्तन करने वाले मुक्तों के लिए अंत में वही 'एकांतिक धर्म' का रूप ले लेता है। उसके प्रताप से विपरीत माहौल में भी आत्मसत्ता रूप से जीना आ जाता है और संसार में रहते हुए ही अनासक्तियोग सिद्ध करके, शुद्ध स्वरूप में निष्काम कर्मयोग करते-करते, सच्चिदानंद का अनुभव करते हुए, जीवन व्यतीत करने लगता है। संत-समागम से धर्म के साथ ही ज्ञान, वैराग्य और भक्ति स्वयं ही आ जाते हैं और जीवन अतिशय समृद्ध बन कर, जीतेजी भगवान का सुख प्राप्त करने योग्य बन जाता है। श्रुति-स्मृति के वचनों का उल्लंघन करने वालों को अनेक कष्ट भोगने पड़े हैं, दुःख झेले हैं; जिनका निवारण करने हेतु अवतारों ने भी कितने परिश्रम किए, वह सभी जानते हैं।

प्रगट के उपासकों के लिए 'श्रुति-स्मृति' का स्वरूप अलग ही है, क्योंकि पुष्टिमार्ग में संशय और शंकाओं को टालने वाले 'स्वरूप' मौजूद होते हैं। ऐसे स्वरूप में ही

स्वामिश्रीजी प्रगट विराजमान रहते हैं ही; इसलिए केवल उनके वचन व आज्ञा परावाणी रूप ही होते हैं। श्रीजी महाराज ने ऐसी 'स्वरूपनिष्ठा' वालों से भी स्वधर्मयुक्त जीवन जीने का आग्रह किया है। क्योंकि वह अधिक समय तक स्थिर रहती है, जो अन्यों के लिए आदर्श रूप बनती है। ऐसे भक्त भगवान की अतिशय प्रसन्नता प्राप्त करके दिव्यानंद अखंड बढ़ाते ही रहते हैं; जबकि केवल 'स्वरूपनिष्ठा' वाले का स्वयं का कल्याण तो होगा, लेकिन भगवान का सुख लेने के इच्छुक अन्यों के लिए बाधा उत्पन्न करेगा। और तो और, वह तो उन मुमुक्षुओं को - जो प्रगट में जुड़ने के इच्छुक हों, उन्हें (सत्संग के प्रति) अभाव की बातों में डाल कर सत्संग छोड़ देने के लिए विवश कर देता है। अतः प्रकृति-पुरुष से परे का सच्चा 'गुणातीतज्ञान' जो परावाणी के रूप में मूर्तिमान होकर, जीतेजी ही अन्यों को भी उसकी प्रतीति करवा सकता है। ऐसा 'स्वरूपज्ञान' केवल प्रगट संत की निश्रा में 'स्वधर्मयुक्त' वर्तन करने से ही प्राप्त हो सकेगा और टिक सकेगा, ऐसा स्वामिश्रीजी आग्रहपूर्वक बताते हैं।

शिक्षापत्री के श्लोक 97-103 में, ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्य की स्मृति इत्यादि के ऐसे सदाचार को धर्म बता कर, अनंत जीवों के आचार, व्यवहार और प्रायश्चित के निर्णय को स्पष्ट कर दिया है। महाराज ने अपनी परावाणी में 'एक नारी सदा ब्रह्मचारी' का ऐसा सत्य ज़ाहिर करके, राजा जनक व अंबरीष का ज्ञान, जो श्रुति-स्मृति में भी वर्णित नहीं है, उसे गृहस्थ हरिभक्तों के लिए बता कर, पर्वतभाई, दादाखाचर इत्यादि मुक्तों के जीवन में सरल कर दिया; ताकि वच. मध्य 24 में योग और सांख्य द्वारा दर्शाई साफ़-सुथरी समझ सहज रीति से संसार में रहते हुए, त्यागी की भाँति सरलता से सिद्ध होती जाए और अक्षरधाम का निर्गुण सुख हिमालय में गए बिना भी प्राप्त हो सके।

संक्षिप्त में—प्रगट संत की प्राप्ति हो या उनकी पहचान हो, तब शास्त्रों का श्रवण या श्रुति-स्मृति का अर्थ उनसे समझ कर, उन्हीं के वचन में संपूर्ण विश्वास रख कर, उस पर आचरण करना आरंभ कर देना, जिससे एकांतिक धर्म सरलता से सिद्ध हो जाए। प.पू. योगीजी महाराज 'निर्दोषबुद्धि और अनुवृत्ति' रूपी वचन समग्र सत्संग में बार-बार दोहराते हैं। तो, जो भी इन वचनों को आत्मसात् करेगा, ग्रहण करके जीव में उतारेगा, उसे (योगीजी महाराज के) बल, कृपा से आसानी से एकांतिक धर्म सिद्ध होगा ही; इसमें कोई शंका नहीं। अतः सभी हरिभक्त उनके वचन में अत्यंत दिव्यभाव दृढ़ करके, स्वधर्म सिद्ध करके जीतेजी अक्षरधाम का सुख प्राप्त कर लें—यही विनती।

—अक्तुबर, 1956

***

27

स्वधर्म और सर्वोपरिता

'श्रीजी महाराज सर्व अवतारों के अवतारी हैं, सभी कारणों के कारण हैं तथा अनंत कल्याणकारी व मंगलकारी गुणों, ऐश्वर्यों के धारक, अन्यथाकर्तुं शक्तियों के नियंता व प्रेरक हैं' – यह उन्होंने 'स्वरूपनिष्ठा' कहो या 'तत्त्वनिष्ठा' कहो के आधार पर एवं उनके शास्त्रों द्वारा प्रवर्ताया है। सच्चे सत्पुरुष के माध्यम से ही श्रेयार्थी मुमुक्षु ऐसे ज्ञान मार्ग की गहराई को जान व समझ सकता है। फिर भी अधिकांश मनुष्य, भक्त और परोक्ष के उपासक केवल सच्चे संत के वचन में सिर्फ श्रद्धा व विश्वास रख कर ही सर्वोपरिभाव की - स्वरूपनिष्ठा की प्रतीति कर सकते हैं और ऐसी तीव्र श्रद्धा से उत्पन्न 'ब्रह्मजिज्ञासा' स्वधर्म दृढ़ करा के उन्हें सच्चे ज्ञानमार्ग की 'स्वरूपनिष्ठा' की ओर प्रेरित कर सकती है। श्रीजी महाराज और उनके सनातन धाम मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामिजी के अनेक चरित्रों, भूमिकाओं, प्रसंगों और 500 परमहंसों के जीवनचरित्रों को सुन कर ही सभी कक्षा वालों को ऐसी सर्वोपरिता की पुष्टि करवाई जा सकती है। यदि कोई विद्वान शोधकर्ता ढंग से गुणातीत ज्ञान पाए हुए संतों के जीवन-प्रसंगों की विशिष्टता, एकांतिक धर्म की स्थापना, मुक्तों के अद्भुत चरित्रों, ऐश्वर्यों एवं गुरुपरंपरा के एकांतिक धर्म धारक साक्षात् सत्पुरुषों के चरित्रों को क्रम-बद्ध रूप में व्यवस्थित ढंग से समाज के समक्ष प्रस्तुत करे, तो अति बुद्धिमान व तर्कशील, प्रतिवाद करने वाले एवं श्रद्धालु अनेक भक्त परोक्ष के ज्ञानमार्ग को छोड़ कर, साक्षात् प्रगट के सर्वोपरि 'ज्ञानमार्ग' को अपना कर जीवन परिवर्तन-स्वभाव बदलने तथा वासना जीतने का 'निर्गुण मार्ग' जीतेजी हासिल कर लेंगे। इन भक्तों को तर्क-वितर्कों से मुक्त होकर, अनुभव ज्ञानजन्य सच्चा 'अर्चिमार्ग' जीतेजी दिखाई देने लगेगा, उसकी प्रतीति होगी, प्राप्ति होगी तथा संत समागम करने पर निश्चित रूप से अन्यों को इस गुणातीतज्ञान की सर्वोपरिता की विशिष्टता सरलता से ज्ञात होगी।

श्रीजी महाराज ने गीता के 'स्वधर्म' के ऐसे ही एक प्रसंग को महत्त्व देते हुए, अर्जुन के सर्वमान्य सर्वोपरि निष्काम कर्मयोगरूपी स्वधर्म को, अपने धाम और मुक्तों के चरित्रों के माध्यम से सामान्य से सामान्य अनपढ़ मुमुक्षु के लिए भी, कैसा सुगम एवं सरल 'एकांतिक धर्म' बना दिया है और अत्यधिक करुणा करके आत्यंतिक

कल्याण की अंतिम परमावस्था का मार्ग सदैव के लिए प्रशस्त कर दिया। जब यह समझ में आ जाएगा, तभी प्रगट सत्पुरुष प.पू. योगीजी महाराज जैसे संतवर्य के कार्य, विचरण व समागम की महिमा का कुछ ख्याल पड़ेगा। वर्ना, ऐसे संतों की तो सभी से छुपे रह कर वर्तने की ही फ़ितरत होती है, इसलिए तुरंत पहचाने नहीं जाते। इससे भी अधिक, कभी-कभार उनके पत्रों में लिखी दिव्य सूचनाओं या शब्दों के अंतर्निहित या अभिप्राय का तो ख्याल पड़ता ही नहीं। इसलिए स्वधर्म और स्वरूपनिष्ठा दोनों की दृढ़ता करनी अनिवार्य है। सो ही वच. वड़ताल 19, 10, 11 तथा अंत्य. 2, 27 के अनुसार ऐसे संत ही प्रथम चरण हैं, यह निश्चय प्रत्येक को अपने जीव में कर रखना चाहिए।

गीता के मूल **'स्वधर्म'** में ही श्री कृष्ण भगवान ने मंत्र रूप में जीवन का सार बता कर अर्जुन को समझाया है और उसके क्षत्रियभाव (धर्म) को केवल निमित्त मात्र बना कर अपने उपयोग में लेकर, अंत में तो **'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** को ही सर्वोत्तम या सर्वश्रेष्ठ बताया है। जब तक अर्जुन भ्रातृभाव से जकड़ा रहा, तब तक उसका मोहजन्य अज्ञान टल नहीं सका और उसे भगवान कृष्ण के विराट रूप का दर्शन भी नहीं हो पाया। सो, श्री कृष्ण ने अपनी मरज़ी के अनुसार वर्ता कर, क्षत्रिय अर्जुन में निजी मूल प्रकृति या स्वभाव के कारण भाई के रूप में जो 'स्व' और 'स्वधर्म' का भाव निहित था, उस भाव को दिव्य कर दिया, अर्जुन को निर्गुण बना दिया और उसका संपूर्ण रुपांतर होने पर, अंत में प्रकाश पड़ा, बल आया और 'नर-नारायण' के रूप में अपने साथ अर्जुन को भजवाया, जिसे भागवत् और गीता के उपदेशों का अध्ययन करके समझा जा सकता है।

'स्वधर्म' में 'स्व' अर्थात् अपना और 'धर्म' अर्थात् कर्म का विधान, नियम, जीवनशैली। श्रुति या स्मृति में से संतों द्वारा संशोधित करके, निर्धारित किए सदाचार और वर्णाश्रम धर्म के मुताबिक़ जो अपना कर्मयोग करते हैं, वही भक्त के लिए उसका 'स्वधर्म' बन जाता है। प्रत्येक व्यक्ति में 'स्व का भाव' जो सहजरूप से मुख्य बन गया है, उसका मूल कारण है – 'कारण शरीर' में बस गई हमारा **मूल प्रकृति - 'असली स्वभाव'** ही है। वही अव्यक्त रूप में ही बाहर दिखती है। मूलब्रह्म के समागम के बिना उसका दर्शन ही हो नहीं सकता या फिर प्रगट भगवान बताएं, तो ही होता है। सो, सुनार, दरजी, काठी, कोळी, मिस्त्री, व्यापारी, विद्यार्थी, मास्टर, सिपाही, इंजिनियर, डॉक्टर या किसी भी क्षेत्र के ज्ञान या गुण की दृढ़ता से कर्म करते जाना। लेकिन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिए गीता में वर्णित धर्म तो हमारा 'स्वधर्म' बना रहता ही है। वच. अत्यं. 21 में श्रीजी महाराज ने तो दृढ़तापूर्वक कहा

है कि भगवान के अवतार ऐसे वर्णाश्रम धर्म की स्थापना करने के लिए नहीं आते हैं। इसके द्वारा लोक में केवल ख्याति मिलती है, जो कि नाशवान है। उनका अवतरण तो 'एकांतिक धर्म' का स्थापन करने के लिए है। सो, अट्ठारहवीं सदी के युगधर्म की प्रणालिकाओं द्वारा स्थापित वर्ण व्यवस्था - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि के चैतन्य में बसे हुए तीव्र भावों, हितों और मान्यताओं का तनिक भी खंडन किए या बदले बिना, वे अतिशय गौण होने के बावजूद, उन्हें स्वरूपनिष्ठा के समकक्ष मान कर, श्रीजी महाराज ने तनिक भी शिथिलता नहीं आने दी और वच. सारंगपुर 11 में तो प्रतिपादन करते हुए कहा भी कि अक्षरधाम की प्राप्ति के लिए शुद्ध 'वर्णाश्रम धर्म' का पालन भी करना पड़ेगा ही। इस प्रकार, उस समय के सभी युगधर्मों या वर्ण और आश्रम के समूह या लोक व्यवहार को मान्य रख कर, सभी के लिए 'एकांतिक धर्म' की स्थापना सुगम बना कर, सच्चे संत द्वारा 'स्वरूपनिष्ठा' को ही आगे रख कर, सदैव के लिए 'एकांतिक धर्म' खुला रखा। 'प्रगट' की आज्ञा पाल कर, उनकी महत्ता समझ कर, सभी अपने 'स्वधर्म' का - स्वभावों के अनुसार करने कर्मयोग का रूपांतर 'एकांतिक धर्म' में करें यही उनकी सर्वोपरिता का भाव है। प्रथाओं को तोड़ कर, खंडन करके गौण बना कर कार्य करना या बनाना सरल है, लेकिन अच्छे या बुरे प्रवाहों को तनिक भी छेड़े बिना, उनमें हस्तक्षेप किए बिना, उनका ही रुपांतर करके असंभव - सा व जटिल कार्य का सम्पादन करना केवल एक अवतारी पुरुष द्वारा ही संभव है। लेकिन, प्रगट स्वरूप की निष्ठा दृढ़ करने में 'वर्णाश्रम धर्म' आड़े न आए, इस बात का अवश्य ध्यान रखना है, ताकि कल्याणदाता संतवर्य में मनुष्यभाव न आ जाए। फिर भी सभी बड़े संतों के वचन परमपद हैं, सो वर्णाश्रम धर्मरूपी 'स्वधर्म' को दृढ़ रख कर प्रगति करना। वच. मध्य 16 के अनुसार 'स्वरूपनिष्ठा' प्रथम चरण है, वह दृढ़ होगी तो 'स्वधर्म' अपने आप आ जाएगा और 'धर्मनिष्ठा' दृढ़ होगी। केवल 'धर्मनिष्ठा' यदि बलवान हो, तो उसके द्वारा कल्याण मान लेने से 'स्वरूपनिष्ठा' का मुद्दा तो रह ही जाएगा – स्वरूप और उन्हें पाए हुए पुरूष गौण बन जाएंगे और अंत में देवलोक का सुख भोगते हुए प्रकृति-पुरूष के चक्कर में घिरे रहेंगे।

अतः श्रीजी महाराज ने अपनी सर्वोपरिता जो कि 'एकांतिक धर्म' द्वारा दिखाई है, उसके अनुरूप सभी स्वधर्म युक्त ही भक्ति करके, प्रगट संत में अत्यंत दिव्यभाव दृढ़ करें और ऐसे प्रगट संत को राज़ी रखें, क्योंकि उसमें ही सब निहित हैं – कुछ भी करना शेष नहीं रहता।

– दिसंबर, 1956

***

28

स्वधर्म और स्वभाव

खूब स्पष्ट है कि स्वधर्म के बिना एकांतिक धर्म सिद्ध नहीं हो सकता। श्रीजी महाराज, मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामिजी तथा अन्य सभी अनादि भक्तों एवं संतों ने स्वधर्म को ही प्रथम चरण के रूप स्थान दिया है और प्रेम, प्रीति एवं भाव से सभी की अपनी-अपनी मान्यता बरकरार रखवा कर स्वरूपनिष्ठा दृढ़ कराई है। सत्संग में सभी को ज्ञात है कि यद्यपि सभी देवों और अवतारों के प्रति आदर-नमनभाव रखते हुए, उन्होंने दृढ़ता केवल सेवन करने योग्य अवतारी मूर्ति की ही कराई है। अतः स्वधर्म का पालन करते हुए ही पराभक्ति सिद्ध करनी है- इस मान्यता में अब दो मत हैं ही नहीं, क्योंकि कर्मयोग ही स्वधर्म होता है और उसके छोर को पाने से सच्ची 'ब्रह्मजिज्ञासा' प्रगट होती है और तभी कर्म, ज्ञान और भक्ति एकरूप होते हैं और दृष्टा, दृष्य और दर्शन भी एक ही स्वरूप में दृढ़ होकर श्रीजी में लीन होते हैं।

ऐसा स्वधर्म व्यक्त और अव्यक्त रूप से जीव से जुड़ा ही होता है और उसका मूल 'कारण' और 'महाकारण' है , जो कि जीवन में सभी को अपने स्वभाव या मूलप्रकृति के रूप में दिखाई देता है, जिसे केवल सच्चे संत ही टाल सकते हैं।

महाराज के स्वरूप में जुड़ने में जो आड़े आए (बाधारूप हो) वह स्वभाव कहा जाए। जब मूर्ति का ध्यान करने बैठें या एकचित्त से भजन में मन पिरोने का प्रयत्न करें, किन्तु मन भजन में टिके नहीं, स्थिर न हो, इधर -उधर भटकता रहे तथा संकल्प-विकल्पों में तीव्रता से खींचा जाएँ, तब समझना कि वही हमारा 'मूल स्वभाव' है या 'मूल प्रकृति' है, जो अनादि काल से अविद्या, अज्ञान या अस्मिता के कारण जीव के साथ जम गई है और वह दूर होनी अतिशय कठिन है। वासना जो कि इच्छाएँ, कामनाएँ या विषयों को भोगने की लालसा के रूप में बाहर दिखती है, उन्हें तो तप, ध्यान, व्रत, दान, यज्ञ द्वारा या अष्टांगयोग साध कर भी जीत सकते हैं, लेकिन तीव्र वासना जो कि स्वभाव के रूप में जीव के साथ जुड़ गई होती है, वह तो केवल प्रत्यक्ष वड़वानल अग्नि के समान- प.पू. योगीजी महाराज जैसे संतवर्य ही टाल सकते हैं और वृत्तियाँ निर्गुण होने पर धाम का निर्गुण सुख प्राप्त होता है। स्वभाव को जीते बिना 'एकांतिक धर्म' टिकता नहीं। सो,

अपनी मूल प्रकृत्ति को पहचान कर उसे टालने के लिए मुमुक्षु को सच्चे संत का समागम करना लाज़िमी है। अंतराय टाल कर संत के साथ वर्तने से जीतेजी अवयव बदल जाता है। काम, क्रोधादिक दोषों के टलने पर बल, प्रकाश और ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है।

स्वधर्म स्वभाव पर आधारित है। इसलिए सभी अपने मूल स्वभाव के अनुसार ही कर्मयोग घड़ते या रचते हैं। ऐसी स्थिति में गुरु की कृपादृष्टि से निष्कामभाव प्रकट होता है, आसक्ति टलने लगती है, जिसके फलस्वरूप ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है तथा निर्दोषबुद्धिरूपी पराभक्ति का उदय होता है। साथ ही, अपने मूल स्वभाव में परिवर्तन होने से 'स्वधर्म' ही 'एकांतिक धर्म' बन जाता है और स्वभाव के टलते ही प्रगट संत व भक्तों के प्रति परभाव व परमभाव उत्पन्न होता है और प्रगट संत की आज्ञा का पालन करने पर परमानंद या दिव्यानंद के सुख की प्राप्ति होती जाती है। अतः प्रगट संत द्वारा कर्म, अकर्म, विकर्म और नैष्कर्म्य की रीति समझ कर, कर्मयोग रूपी स्वधर्म की आड़ में, 'कारण' और 'महाकारण' की गहराई में पड़े हुए 'स्व' के भाव को दृढ़ कराती, जड़तत्त्व के रूप में चिपकी हुई भ्रामिक अस्मिता-प्रकृति को जाँच के, ब्रह्मदृष्टि दृढ़ करें और उसके मुताबिक़ ही नवीन-संत मार्ग के स्वधर्म से संत की आज्ञारूप में आत्मसत्ता से वर्त कर, जीतेजी 'एकांतिक धर्म' सिद्ध करने का प्रयत्न करें। तभी संत की पहचान हुई कही जाएगी, वर्ना तो सब कुछ बेकार गया ही समझा जाए। यदि स्वभाव बदल कर जीतेजी ब्रह्मरूप नहीं हुए, तो अतिसमर्थ गुरुजी मिलने के बावजूद भी कुछ हासिल नहीं हुआ और जिंदगी व्यर्थ ही गई ऐसा माना जाएगा। सो, सभी के लिए प्रकृति का ऐसा परिवर्तन सुलभ हो यही स्वामिजी से प्रार्थना है।

– जनवरी, 1957

29

सिद्धदशा के प्रकार

वेदों, उपनिषदों और मोक्षधर्म में अनेक प्रकार के ऐसे ध्यान और योगमार्ग की क्रियाओं का वर्णन किया गया है, जिनके अनुसार जीवात्मा जीतेजी ही ध्यान और योगकला द्वारा सिद्धदशा को प्राप्त कर सकती है और पंचभूत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकती है। अनेक प्रकार के ध्यानों पर विचार करते हुए, महाराज ने वच. अमदावाद 1 में मोक्षधर्म में वर्णित ध्यान द्वारा तत्काल सिद्धदशा प्राप्त करने की रीति बताई है। वच. मध्य 20 के अनुसार तप, निवृत्ति धर्म और वैराग्य द्वारा इंद्रियों व अंतःकरण की अनेक शक्तियों की वृद्धि होने से, जीतेजी ही नारद, शुक-सनकादिक जैसे सिद्ध हो सकते हैं। सिद्धदशा प्राप्त विभूतियाँ कहीं भी भ्रमण कर सकती हैं और अनेक सिद्धियाँ प्राप्त करके पंचभूतों को अपनी इच्छानुसार वर्ता सकते हैं।

एकांतिक भक्त के लिए सिद्धदशा की परिभाषा भिन्न है। एकांतिक भक्त योग और सांख्यनिष्ठा दृढ़ होने के बाद, जनक तथा अंबरिष राजा की भाँति ज्ञान की सिद्धदशा को प्राप्त कर लेता है और जीतेजी ही निर्विकल्प समाधि का निर्गुण सुख प्राप्त करता है। एकांतिक भक्त के लिए महाराज ने पातंजलि योग की जटिल प्रक्रिया से गुज़रने के स्थान पर भगवान की मूर्ति का ध्यान और उपासना द्वारा तत्काल सिद्धदशा प्राप्त करने का सरल मार्ग बताया है और वड़वानल अग्नि समान प्रत्यक्ष संत के समागम से ऐसे ज्ञानी को अच्छे-बुरे रमणीय पंचविषयों के प्रति राग समाप्त होकर, समभाव रहता है; बाल, युवा व वृद्ध नारी-सभी के प्रति समभाव रखने में सक्षम हो जाता है। प्राण के निरोध से जो अष्टांग योग सिद्ध होता है, वह उसे बिना कोई साधन किए प्राप्त होता है। साथ ही, प्रत्यक्ष भगवान के स्वरूप का अतिस्नेह से चिंतन करते हुए, बहुत ही सरलता से निर्विकल्प समाधि का निर्गुण दिव्य सुख प्राप्त होता है। ऐसे एकांतिक सिद्ध कई तैयार होते हैं, जो श्रीजी महाराज की सर्वोपरि उपासना का प्रवर्तन करते हैं।

वच. मध्य 17 , प्रथम 24 तथा अंत्य. 26 के अनुसार, साक्षात् स्वरूप के मनन, चिंतन और साक्षात्कार द्वारा ज्ञान की जो स्थितप्रज्ञता एकांतिक भक्त प्राप्त करते हैं, वह उपरोक्त दोनों प्रकार की सिद्धदशा से अत्यधिक श्रेष्ठ व अलौकिक है और वही वास्तविक 'मुक्तदशा' है। इस मुक्तदशा को वच. कारियाणी 7 तथा अमदावाद 2 में आत्यंतिक मुक्ति कहा गया है। प्रत्यक्ष स्वरूप का ऐसा स्थितप्रज्ञ, गीता के

गुणातीत स्थितप्रज्ञ से अधिक शक्तिमान और भगवान की अपार, अनिवर्चनीय, दिव्य मूर्ति के सुख का भोक्ता कहलाता है। अपने निजी मायिकभाव मात्र को टाल कर, प्रकट संत द्वारा ही स्वरूप की ऐसी सिद्धदशा प्राप्त होती है, जो अन्यों को भी निर्गुण करके, अंतःकरण और जीवात्मा के सभी भावों को भी शुद्ध करने में सक्षम होती है। ऐसे भगवत् निष्ठावान उत्तम भक्त प्रत्यक्ष संत की केवल कृपा-दृष्टि से ही वच. गढडा प्रथम 27 की अति उत्तम परम एकांतिक स्थिति प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त कर लेते हैं और ब्रह्मरूप हो कर परब्रह्म में ही अखंड जुड़े रह कर, निरंतर स्वामीसेवक भाव रखते हैं।

हमारा यह सद्भाग्य है कि प.पू. संतवर्य योगीजी महाराज ने प्रारंभ से ही, गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज तथा अन्य संतों की अनन्य सेवा एवं पराभक्ति करके, वड़वानल अग्नि समान अति उत्तम-परम एकांतिक संतवर्य की स्थिति कर ली थी। इतना सब कुछ प्राप्त कर लेने के बाद भी उन्होंने गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज की उपस्थिति में स्वयं को कभी प्रकट नहीं किया; ज्ञानगरीबी पकड़े रख कर, उन्होंने अपने स्वरूप को छुपा कर ही रखा। सो, अब निर्दोषभाव रखते हुए उन्हें पहचान लेना अनिवार्य है। ऐसे साक्षात् स्वरूप को पहचानना और वे जैसे हैं वैसे समझ कर, उनकी अनुवृत्ति के मुताबिक़ वर्तना ही ज्ञानदशा की अति उत्तम स्थिति या सिद्धदशा है। ऐसी दिव्य सजगता अखंड बनी रहेगी, तो ही परमात्मा के निर्गुण स्वरूप का जीतेजी साक्षात्कार होगा व परमपद की प्राप्ति हुई-परम कल्याण हुआ माना जाएगा एवं ज्ञानयज्ञ -ब्रह्मयज्ञ की अवधि आई समझी जाएगी व अंतिम जन्म माना जाएगा।

साधु के ऐसे स्वरूप को सर्वोपरि समझ कर, श्रीजी महाराज की दिव्य मूर्ति में जुड़ने को ही महाराज ने वच. गढडा मध्य प्रकरण और कारियाणी 7 तथा मध्य 3, 30 वग़ैरह में आत्यंतिक कल्याण की संज्ञा दी है। वच. अंत्य. 31 तथा कारियाणी 12 के मुताबिक़, ध्यान और संत के वचन से यह प्राप्त हो सकता है या वच. मध्य 63, 7 के अनुसार यदि एकांतिक संत की असाधारण सेवा की जाए या वच. प्रथम 44, कारियाणी 11, वड़ताल 11, 5 तथा लोया 3 इत्यादि के अनुसार ऐसे संत से असाधारण प्रीति की जाए, तो सरलता से प्राप्त हो सकता है। सिद्धदशा के अनेक प्रकार हैं, लेकिन प्रत्यक्ष संत में ही अखंड दिव्यभाव रख कर, श्रीजी महाराज के स्वरूप में जीतेजी ही ब्रह्मरूप होकर जुड़े रहने का ज्ञानमार्ग सरलतम एवं सर्वोत्तम है। सो, उनकी अनुवृत्ति-मरज़ी में रह कर, उनकी रुचि के अनुरूप वर्त कर, सभी सिद्धदशा प्राप्त कर लें, ऐसी विनती है।

–मार्च, 1957

***

30

जीव के रोग

श्रीजी महाराज ने शिक्षापत्री के श्लोक 105 में संपूर्णतया और सरलता से जीव के स्वरूप का वर्णन किया है। वेदों और उपनिषदों के इस ज्ञान को बड़े-बड़े विद्वान भी समझने में असमर्थ रहे हैं। अनादि काल से तत्त्वज्ञों, बड़े-बड़े आचार्यों ने आत्मा और परमात्मा – इन दो तत्त्वों के मूल स्वरूप के लक्षणों का संभवतया कल्पना से ही निरूपण किया है; क्योंकि – जीवात्मा भले ही कितनी भी विकसित क्यों न हो गई हो, किन्तु उससे चिपके हुए अनादि काल से चले आ रहे रोग निर्मूल नहीं हो पाते। जैसे कि स्वर्ग में जय-विजय का सनकादिक के साथ क़ज़िया हुआ, गोलोक धाम में राधिका के साथ श्रीदामा की तकरार हुई तथा वन में सीताजी ने लक्ष्मण से अति कटु वचन कह डाले। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले ऐसे कई बड़े समर्थ भी साम्यावस्थारूप माया में फंसे दिखाई देते हैं। परंतु, वचनामृत में पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीजी महाराज द्वारा वर्णित गुणातीतज्ञान, स्वामी की बातों एवं संतों द्वारा किए गए भ्रमण या विचरण में व्यक्त उनके विचार, और उनके द्वारा बताई गई आध्यात्मिक ऊँचाई प्राप्त करने की रीति से हमें ऐसा अनुभव अवश्य होता है कि जीव के ऐसे अव्यक्त रोग, जो कारण या महाकारण रूप माया के रूप में पहचाने जाते हैं, वे गुणातीतज्ञान द्वारा ही जड़ से निर्मूल हो पाए हैं। अब हम उनके स्वरूप को देखें।

स्थूलभाव से देखा जाए तो जीव के महारोग की जड़ हैं – मान और काम, जो अनादि काल से मुख्यतः हृदय व बुद्धि तत्त्व में चिपके हुए हैं। ऋषि-मुनि तप करने के लिए जंगल में गए, लेकिन देश व काल के प्रभाव से उनकी मति भी भ्रमित हो गई। बड़े-बड़े महाज्ञानी अनन्य भक्त और ऊर्ध्वरेता नैष्ठिक ब्रह्मचारी होने के बावजूद, वे सर्वोपरि उपासना और ब्रह्मरूप होकर प्रभु को भजने की भक्ति करने में पूर्णतः समर्थ न होने के कारण, मान खंडित होने पर या मान पाने की लालसा में छोटी-छोटी सूक्ष्म बातों पर विवादों में फँस जाते। और तो और, चैतन्य में अर्थात् जीवसत्ता में निहित अज्ञान के कारण उनमें निहित हठ, मान, ईर्ष्या, असूया और मत्सर के सूक्ष्म अव्यक्त राग, मूल स्वरूप की यथार्थ पहचान नहीं होने देते और संजोगवश परिस्थिति के बदलने या भयंकर समय और काल उत्पन्न होने पर, वे प्रकट हो जाते हैं, दिखाई देते हैं, जीव को अध्यात्म से

डिगा देते हैं और वृत्तियों का अधोपतन करके, मुख्य मुद्दे से विमुख कर देते हैं। इसीलिए भक्त चिंतामणि प्रकरण 71 में बड़े-बड़े संतों के तप, व्रत इत्यादि साधनों की प्रशंसा करके, फिर महाराज ने उन्हें निम्न अत्यंत गूढ़ बात समझाने का प्रयत्न किया है और उस पर ज़ोर देते हुए कहा है :

'एक बात कहूँ, इसे मानो, हम देह नहीं, आत्मा हैं।
स्वयं को देह, जो कि दुःख रूप है, उससे भिन्न ऐसा चैतन्यरूप मानो।'

यूं, महाराज ने सूक्ष्म रीति से, अतिशय निर्वासनिक, ब्रह्मरूप होकर, आत्मसत्ता रूप से भजन करने का बार-बार आग्रह किया है। प्रगट सत्पुरुष के समागम के बिना जीव को ऐसा अनुभव ज्ञान और आत्मा का सम्यक् दर्शन संभव ही नहीं—यह श्रीजी महाराज ने वच. प्र. 20, मध्य 35 और 36 में स्पष्ट रूप से बताया है।

सांख्यमत के मुनिराज कपिलदेव ने कहा है व भागवत में भी उल्लेख है कि सत्पुरुष के प्रति आत्मबुद्धि-प्रीति द्वारा, बुद्धितत्त्व में घर कर बैठे काम और मानरूपी दोषों का सरलतम निवारण हो सकता है। वर्तमान काल में भी महाराज ने संतवर्य योगीजी महाराज इत्यादि जैसे सच्चे संतों के समागम द्वारा समस्त जीवों—गरीब या अमीर, साक्षर या निरक्षर, बुद्धिमान या बुद्धिहीन के लिए जीव का-अव्यक्त रोगों को टालने का मार्ग अत्यंत सुगम कर दिया है। अतः यदि इस प्रकार से महाराज की दिव्य मूर्ति सिद्ध कर ली जाए, तो अपार सुख का अनुभव हो सकेगा, भोग पाएंगे और प्राप्त करेंगे।

बुद्धितत्त्व पर, व्यापक स्वरूप में मान और काम के हावी होने के कारण, मन और चित्त उसी के अनुरूप विविध प्रकार की क्रियाएँ करते हैं, जिसका असर भगवान की उपासना के बल से, चैतन्य में अव्यक्त रूप से और इंद्रियों में व्यक्त रूप से स्पष्ट दिखाई देता है।

वासना और प्रकृति की पंचभूत रूपी पोटली अर्थात् स्त्री और पुरुष। सांख्यशास्त्र के मुताबिक़ वही प्रकृति और पुरुष, यानि—शक्ति और संकल्प के रूप में जाने जाते हैं। वेदांतशास्त्र के अनुसार प्राणवायु और चेतना का मिश्रण होने से, मनुष्य जीवन प्रवृत्ति में ओतप्रोत होकर, प्रकृति के चक्रवात से घिर जाकर, वृत्तियों का पोषण करता हुआ या जगत के रूप में हमें दिखाई देता है। कामनाओं, इच्छाओं, उर्मियों और भावनाओं द्वारा मन, मूल में दिखते या छुपे लुभावने रमणीय व विषयों के प्रति पलट कर बाहर निकलता

है। उसके पीछे सूक्ष्म मान या अहंकार के आवरण के कारण सत्य को असत्य और असत्य को ही सत्य मान कर तथा देह को अपना रूप मान कर जीवन का व्यवहार चलता रहता है।

किसी संस्कार या पुण्य के प्रताप से सच्चे संत मिलने पर जीव को भव्य सत्यदर्शन होता है और 'विषय खोटे-जगत मिथ्या' यानि भगवान ही सत्य हैं-ऐसी प्रतीति होती है और इसी के अनुरूप वर्तता है। तब ही ऐसे महारोग जीतेजी टलेंगे या बिल्कुल निर्मूल हो पाएंगे। फिलहाल ऐसी अंतर्दृष्टि करते हुए मन और चित्त की भूमिका के रूपांतर होने से, निजी दोषों का हमें साक्षात् स्पष्ट दर्शन होता है और यही प्रभु या सत्पुरुष की महत् कृपा का फल है। बुद्धितत्त्व का ऐसा रूपांतर ही शास्त्र का सिद्धांत है। फिर चाहे कोई भी धर्म, मान्यता या सिद्धांत हो, लेकिन वासना का संपूर्ण क्षय और प्रकृति का परिवर्तन ही आत्यंतिक मोक्ष है और इस वैज्ञानिक युग में ऐसी बात ही स्थायी रूप से टिक सकेगी-मान्य हो सकेगी।

अनादि मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामी के समय से ही यह प्रयोग चला आ रहा है, जो एकांतिकों के तैयार होने पर दिखाई देगा। अतः ऐसा एकांतिकभाव प्राप्त करने के लिए, हमें गुरुमुखी बन कर-अंतर्दृष्टि करके, मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामी, पूर्ण पुरुषोत्तम नारायण सहजानंदस्वामी तथा उनके धारक प्रगट स्वरूप से पूर्ण निष्ठा से दृढ़तापूर्वक जुड़े रहना है।

काठी, कोळी, कणबी जैसे असंख्य निरक्षर मुमुक्षुओं के कल्याण के लिए महाराज ने दोष निवारण के ऐसे सरल उपाय खोल दिए हैं और संत द्वारा प्रगट रखा है। सो, अनुभवी मुक्तों या प.पू. योगीजी महाराज जैसे प्रत्यक्ष संत के समागम से, दृढ़ता करके या फिर निर्मानीभाव से असाधारण सेवा अथवा असाधारण प्रीति बढ़ा कर, जीतेजी ही ऐसी आत्मशुद्धि प्राप्त कर लें, तो वच. मध्य 66, सारंगपुर 10 के अनुसार, जीतेजी धाम का निर्गुण सुख प्राप्त होगा, इसमें संशय नहीं है।

– अप्रैल, 1957

***

उन्हें तो इस ब्रह्मांड की भी नहीं पड़ी, न तो मंदिरों की भी पड़ी है।
जो सब कुछ है, वह सिर्फ एकांतिक भक्तों के लिए है!

प्रत्येक सत्संगी प्रत्यक्ष-प्रगट की निष्ठा जीवन में साकार करके
धाम के दिव्य सुख का अनुभव करे, उसे भोगे व प्राप्त करे।

31

वृत्तियों का गठन

मानस शास्त्र अर्थात् मन एवं चित्त के आवेगों, उर्मियों, भावनाओं, संकल्पों-विकल्पों इत्यादि का बारीकी से विश्लेषण करने वाला शास्त्र। वैज्ञानिक संशोधनों के अनुसार विभिन्न प्रकार की अनेकों वृत्तियों पर ढेर पुस्तकें लिखी गई हैं और फ्रॉईड, एडलर एवं आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भी मनुष्यों की वृत्तियों के मूल को परख कर, ज़ाहिर तौर पर भिन्न भिन्न 'दर्शनों' की ऊपरी तौर पर व्यावहारिक स्वरूप में कल्पना प्रस्तुत की है। परंतु, वे वृत्तियों के वेग, उनके वास्तविक स्वरूप एवं स्थल, काल और वातावरण के कारण उनमें बिल्कुल परिवर्तन हो जाने के बारे में स्पष्ट निर्णयात्मक ख्याल दे नहीं पाए और मन की भूमिका से परे आत्मा के सत्यस्वरूप को जान नहीं पाए। अतः वृत्तियों के गठन का विषय वेदों और उपनिषदों के आधार पर जो महावाक्यों शास्त्रों में से उपलब्ध है, उन्हें समझ कर योगमार्ग के मुख्य शास्त्र में देखना पड़े। पातंजल योग की अपेक्षा राजयोग और सांख्यमत का अनासक्ति योग, वृत्तियों के गठन के जिन विविध स्वरूपों, लक्षणों एवं प्रक्रियाओं का वर्णन करता है, वह सामान्य मनुष्य के लिए अत्यंत कठिन-गहन विषय बन जाता है।

जैसे कि मन की, कामना की, भूख की, जिज्ञासा की, वंशवर्धन की, अहंता और ममता इत्यादि की वृत्तियों का निरोध, क्रियात्मक प्राणायाम या अष्टांग योग की क्रियाओं द्वारा किया जाता है, किन्तु सामान्य जनमानस के लिए यह कार्य अत्यंत कठिन और दुर्लभ जैसा ही रहता है। अतः इन प्रक्रियाओं का अनुसरण करके मन और चित्त की वृत्तियों का शुद्धिकरण सरलता से नहीं हो पाता, बल्कि दुर्लभ ही बना रहता है। सुख, शांति एवं आनंद को बाहर ढूँढने वाले जीव को, अंतर्दृष्टि करके सभी बातें, मान्यता या सिद्धांत को स्वयं पर लेना सरलता से हो नहीं पाता व इस बात को पकड़ ही नहीं पाता। तो फिर, वृत्तियों के निरोध के पश्चात् जो साक्षीभाव उत्पन्न होता है, उसे तो संसार में रहते हुए सुगमता से सिद्ध ही कैसे किया जा सकता है ?

श्रीजी महाराज ने वच. प्रथम 54, मध्यम 7, 54 तथा अंत्य. 2, 11, 39 इत्यादि में 'संत मार्ग' की विशिष्टता बता कर, सच्चे सत्पुरूष के प्रसंग से खूब जटिल

दिखाई देती इस प्रक्रिया को अत्यंत सरल बना दिया है, जो कि कृपासाध्य होने के कारण सभी के लिए सच्चे संत द्वारा सिद्ध होना सुलभ बन जाता है। श्रीजी महाराज ने वचनामृतों में जगह-जगह बताया है कि उनकी सर्वोपरि उपासना को समझने वाले, प्रत्यक्ष स्वरूप का चिंतन-स्मृति करके निर्विकल्प समाधि को अतिशय सरलता से प्राप्त कर सकते हैं।

अतः संकल्पों का महारोग टालने या पिंड और ब्रह्मांड, अल्प और महत् गिनी जाती सभी वृत्तियों का गठन, जिसे करना हो, उसे प्रत्यक्ष सत्पुरुष के चरणारविंद में ही अपने मन को निमग्न रखने का प्रयत्न करना चाहिए। सत्पुरुष के समागम से सहज ही संत की स्मृति करने का अभ्यास हो जाता है और जब वह एकांतिक भक्त चित्त से चिंतन करता है, तो उसकी सभी वृत्तियों का तत्काल निरोध हो जाता है और उसे जीतेजी ही निर्विकल्प समाधि का अखंड सुख प्राप्त होता है। ऐसा साक्षीभाव क़ायम रखने के लिए संत का अखंड प्रसंग रखना ज़रूरी है। प्रगट संत की मरज़ी को समझ कर, उनकी अनुवृत्ति में ही यदि जीवन ढाल दें, तो गृहस्थी होने के बावजूद, वे ऊर्ध्वरेता निष्ठावान ब्रह्मचारी से भी अधिक निष्कामी बन कर, अक्षरधाम का सुख सहज ही भोग सकते हैं।

हमारा सद्भाग्य है कि ऐसे परम पूज्य संतवर्य योगीजी महाराज हमें मिले और हमें उनकी पहचान हुई है। तो, वे जैसे हैं वैसे उन्हें तत्त्व से जान कर, उनका समागम करके, मन, कर्म और वचन से उनकी सेवा करके, उनके अंतर की प्रसन्नता प्राप्त कर लें। किसी का कुछ भी (दोष-त्रुटि) देखे या सुने बिना, अपना और अपने द्वारा खड़े किए अंतर के जगत का गठन करके - कल्पना टाल कर, 'संत और मैं' – ऐसा भाव मन में दृढ़ करके, स्वधर्मयुक्त निर्दोषबुद्धि और दिव्यभाव रखने का ही अभ्यास करें; जिससे महाराज के स्वरूप का चिंतन करके सिद्धदशा तत्काल प्राप्त होगी और प्राण के क्रियात्मक निरोध के बिना या अष्टांगयोग साधे बिना, जीतेजी ही निर्विकल्प समाधि का सुख प्राप्त कर सकेंगे।

ऐसा जोग – ऐसे सत्पुरुष बार-बार नहीं मिलेंगे। अतः उनकी ही मरज़ी के अनुसार वर्तें, ताकि वच. वड़ताल 3, 5, 11 के मुताबिक़, उनकी कृपा से धर्म, ज्ञान, वैराग्य और माहात्म्यज्ञान युक्त भक्ति सुलभ होगी और तत्काल एकांतिकभाव सिद्ध होगा। स्वामिश्रीजी सभी सत्संगीबंधुओं को यह प्राप्ति कराएं यही अभ्यर्थना।

– मई, 1957

***

32

कर्मयोगी के लिए माया

बुद्धितत्त्व के कारण मानवजीवन पशुजीवन से सर्वथा भिन्न है। सिर्फ वृत्तियाँ या भावनायुक्त पशुजीवन विचारहीन होने के कारण मनुष्यत्व के दिव्यतत्त्व व दैवीसंपदा, जो कि चैतन्य के महत् गुणों के रूप में प्रकट होते हैं, वे सच्चे मुमुक्षु के बिना अन्यत्र किसी में दिखाई नहीं पड़ते। दोनों प्रकारों में लगाव व पक्ष पर ही जगत रचित है। सो, कर्मयोगी को चिपकी अहंता-ममता रूप प्राथमिक माया तो सर्वत्र दिखाई पड़ती ही है और जीव-प्राणी मात्र भिन्न-भिन्न भूमिका में, अवस्था में संजोग के मुताबिक़ पंचविषय के आहार लेते दिखते हैं। सभी के अपने-अपने जगत, अपने ही ज्ञान, निजी अनुभव और 'मैं ही सब कुछ करता हूँ' के कतृत्वभाव से कर्मयोग चलता रहता है। अपनी-अपनी मान्यताओं से प्रभावित और ऐसे ही निजी कल्पना के भगवान को मान कर व सुन कर, अपनी ही रीति से ग्रहण किए धर्म के सिद्धांतों के अनुसार ही अज्ञानमय कर्मयोग सतत ही चलते रहते हैं और प्रकृति भरपूर सहयोग देती दिखाई पड़ती है।

ऐसे कर्मयोगी की क्रिया पूरी होते ही, संसार में राग-द्वेष, क्लेश, वैर, अविश्वास, ढोंग, दंभ इत्यादि के रूप में सभी को माया का अनुभव हुआ है। सच्चे संत और सत्शास्त्र उसे सद्विचार देकर निर्गुण करते हैं और कर्मयोग की क्रियाएँ रुपांतरित हो जाती हैं। विशाल दृष्टिकोण रखते हुए कर्मयोग 'मैं और मेरी स्त्री व संतान' तक सीमित न होने पर, वे ही जीव, वही जगत और वही हमारा समाज, सगे-संबंधी, मित्र, सत्संगी भी आनंदमय, सत्यम्, शिवम् और सुदंरम् तत्त्वों की ओर भाव उत्पन्न करता है और सच्चा सत्संग प्राप्त कराता है।

वच. वड़ताल 19, 10, 5, अंत्य. 2, प्रथम 54 इत्यादि के अनुसार, भरतखंड में ऐसे सत्पुरुष अवश्य विचरण करते रहते हैं। यदि उनकी सही पहचान हो जाए, तो समझ लें – कर्मयोगी के लिए माया का अंत आ गया! जीवन में नए ही कर्म, ज्ञान और अनुभव उदय होते दिखेंगे। संत के समागम से वृत्तियों के शुद्ध होने पर, दृष्टि में और

जगत के संबंधों में पूर्णरूप से अंतर दिखाई पड़ेगा। अंतर्दृष्टि होने लगेगी और अपनी भूल-त्रुटियों का ख्याल पड़ेगा। तभी सच्चे सत्संग का आरंभ हुआ माना जाएगा।

वच. मध्य 51 और 63 के अनुसार सत्पुरुष की आज्ञा का जैसे-जैसे पालन करेंगे, वैसे-वैसे जीव बल को पाएगा और जीतेजी वे ही कर्म भक्तिरूप बन जाएंगे। कर्मयोग का अंत होते ही, संत कृपा से सच्चा ज्ञान प्रगटेगा। दु:ख में या ऐन मौके पर जगत, देह के संबंधियों, मित्रों आदि सही पहचाने जाते हैं - यह हमें सच्चे संत तुरंत ही दिखा देते हैं।

यह सत्संग तो दर्पणतुल्य महाविष्णुरूप है। किसी भी क्षेत्र में कार्य करने वाले या उपशम में रह कर संत की जी जान से लगातार सेवा करने वाले को निजी वासनाओं और स्वभावों का प्रतिबिंब तुरंत ही दिखाई देता है। सच्चे संत भक्तों की रक्षा करते हैं और कर्म, ज्ञान तथा भक्ति की त्रिपुटी की प्रवृत्तिओं में परिवर्तन लाकर, निर्गुणभक्ति–जिसे 'पराभक्ति' कहा जाता है–ऐसा एकांतिकभाव जीतेजी प्राप्त करा कर, धाम का सुख, शांति और आनंद अखंड दिलाते हैं। कर्मयोगी को माया जगत में से अहंता-ममता को छुड़ा कर, सत्संग से अहंता-ममता करा देती है। ऐसे माहौल में सच्चे संत अंतर्दृष्टि करवा कर, अपने अंतर को टटोलने का मार्ग बता कर, अन्यों के बारे में अंटशंट बोलने से रोक कर दिव्यदृष्टि देते हैं। फलस्वरूप एकांतिकभाव दृढ़ होता है और प्रगट की महिमा समझ कर संत की मरज़ी के अनुसार हठ, मान, ईर्ष्या छोड़ कर वरत पाते हैं।

फिलहाल ऐसे संतवर्य प.पू. योगीजी महाराज जीव में से ऐसी गुणात्मक माया को निर्मूल करने का परम हितकारी कार्य कर रहे हैं। तो, सभी उनकी ही मरज़ी के मुताबिक़, उनकी पसंद के अनुसार ही वर्त कर 'एकांतिकभाव' दृढ़ कर लें– यही अभ्यर्थना।

–जून, 1957

33

ब्रह्मस्वरूप भगतजी महाराज
एवं
असंख्य मुमुक्षुओं के लिए कल्याण रीति

गीता, भागवत, उपनिषदों एवं अन्य शास्त्रों में
परम भागवत एकांतिक संत के लक्षण
और उनके द्वारा सनातन कल्याण का सरल मार्ग बताया है।
उसी प्रकार श्रीजी महाराज ने मोक्ष का अंतिम द्वार के खुलने का रहस्य
वचनामृत प्रथम 54, मध्य 7-28-54, अत्यं 2, वड़ताल 5-11-53 इत्यादि में
स्पष्ट रूप से बताया है।
इस संदर्भ में भागवत के ग्यारहवें स्कंध के निम्न दो श्लोक मुख्य हैं:

1. **प्रसंगमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः।**
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम्।।

(जीव को अपनी देह के संबंधी से जैसा दृढ़ लगाव है, ठीक वैसा ही संबंध यदि भगवान के एकांतिक साधु से हो, तो उस जीव के मोक्ष का द्वार खुल जाता है।)

2. **यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।**
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः।।

(जिसे वायु (वात), पित्त और कफ़युक्त तीन धातुमय शरीर व स्त्रीपुत्रादिक में आत्मबुद्धि है, पत्थर की प्रतिमा के प्रति देवबुद्धि है तथा जल के प्रति तीर्थबुद्धि है; परंतु यदि उसे भगवान के एकांतिक ज्ञानीभक्त के प्रति वैसी ही आत्मबुद्धि नहीं है, तो उसे पशुओं में गधा जानना।)

इसी बात पर ज़ोर देते हुए–
श्री कृष्ण भगवान ने उद्धव को, कपिलदेव भगवान ने माता देवहुति को
एवं
श्रीजी महाराज ने भक्तिमाता को बताया–

'प्रत्यक्ष भगवान या उनके अवतार या एकांतिक साधु-परम भागवत संत की संगत से ही भागवत धर्म-एकांतिक धर्म का पोषण होता है
व जीव के मोक्ष का द्वार खुलता है।'
श्रीकृष्ण भगवान ने भागवत में
तप, त्याग, वैराग्य अष्टांगयोग, आत्मनिष्ठा, स्वधर्म, ब्रह्मचर्य
एवं
अन्य करोड़ों साधनों से भी अधिक 'सत्पुरुष के समागम' को ही
ब्राह्मीस्थिति प्राप्त करने का प्रमुख स्रोत बताते हुए, इसे महत्त्वपूर्ण गिनवाया है।
सच्चे संत के प्रसंग को ही **'सत्संग'** कहा है, **'एकांतिकी भक्ति'** माना है।
वचनामृत मध्य 59 में ऐसे संत की प्राप्ति को ही **'परमपद'** या **'परम कल्याण'** कहा है।
प्रगट संत के संबंध के बिना इस अंतिम रहस्य को समझा ही नहीं जा सकता
और
जीतेजी ब्रह्मरूप होकर परब्रह्म पुरुषोत्तमनारायण श्री सहजानंदस्वामी के दिव्य स्वरूप में जुड़ा ही नहीं जा सकता
एवं
अंतिम मुक्ति या परमकल्याण अर्थात् 'आत्यंतिक मोक्ष' सिद्ध नहीं होता।
शास्त्रों में अनंत प्रकार के कल्याण, आध्यात्मिक स्थितियाँ और उनके सुखों का वर्णन है।
लेकिन आख़िरी जन्म, कि जब–
प्रकृति-पुरुष का कार्य व्यर्थ-मिथ्या ही है, यह जान कर उसमें कोई दिलचस्पी न रहे
या
जीतेजी सभी वासनाओं का संपूर्ण क्षय होकर, प्रकृति या स्वभाव का परिवर्तन होकर,
ब्रह्मरूप होकर परब्रह्म में जुड़ जाएं–**ऐसा मोक्ष** प्राप्त नहीं हो सकता।
सो, भगवान अथवा प्रत्यक्ष सच्चे संत द्वारा ही
कारण व महाकारण के भाव पूर्णतः टाल दिए जाने पर, जो मोक्ष होता है,
ऐसा **'संतमार्ग'** सरलता-सुगमता से
बिलकुल अनपढ़ व तुच्छ लगते जीव के लिए भी कैसे अत्यंत आसान बना
और
अनादि महामुक्तराज प्रागजी भक्त ने वह कैसे सिद्ध किया, उसे समझें।

परम भागवत एकांतिक संत की कल्याण रीति अपूर्व और अलग ही पड़ जाती है।

युग धर्म को साथ में रख कर,

असंख्य मुमुक्षुओं को केवल अपने 'प्रगट' संबंध से ही सेवा, समागम और प्रसंग द्वारा,

एकांतिक धर्म किस प्रकार हमेशा के लिए खुला रखा गया है,

भगतजी महाराज के जीवन से ही हमें इसका ख्याल पड़ जाता है।

गीता, भागवत और वेदांत के महावाक्यों के जो रहस्य गहन ही बने रहते थे

और

जिन्हें विद्वान ब्राह्मणों या आचार्यों के सिवा अन्य कोई समझ नहीं सकता था,

उन्हें गुजरात और काठियावाड़ के अनपढ़ गिने जाने वाले, सीधे-सादे व भले देहाती भी

भगतजी महाराज के संपर्क में आते ही,

अपने जीवन में बिलकुल सरलता और सुगमता से उतार लेते थे।

आत्मा-परमात्मा के स्वरूप का ऊँचे से ऊँचा साक्षात् ज्ञान व अनुभव

और

उन्हें राज़ी करने की रीति मूर्तिमान करके, तत्त्वज्ञान को जीवंत बना कर,

समता, सुहृद्भाव और निर्मानीभाव जैसे मंगलकारी भाव प्रकटा कर

जीतेजी ही उन्हें सिद्ध करके, दूसरों के लिए वे सबूत रूप उदाहरण बनते थे।

सर्वोपरि संत की अनोखी कल्याण रीति की वजह से यह संभव हुआ है।

अन्य संतों की रीति, जो कि और साधनों पर आधारित है

या

श्रद्धा, तप, योग, इत्यादि करा-करा कर मोक्षप्राप्ति के मार्ग को

गहन (जटिल-कठिन-पेचीदा) बनाती है

और

जीतेजी ही मोक्ष हो जाने की प्रतीति भी कराती नहीं।

ऐसी '**क्रियासाध्य**' रीति की अपेक्षा, यह '**कृपासाध्य**' रीति

लाखों मनुष्यों के लिए सरल रहती है।

भगतजी महाराज के प्रसंगों से-उनके निजी जीवन से–वह सभी के लिए दृष्टांत रूप है।

वाक़ई ऐसी क़ाबिले-तारीफ़ और अद्वितीय यही रीति, परंपरागत प्रगट स्वरूपों द्वारा

अब भी मौजूद और संभव है।
पू. शास्त्रीजी महाराज द्वारा वह रीति प्रचलित हुई
और
प.पू. ब्रह्मस्वरूप योगीजी महाराज भी उसी भाँति अब भी असंख्य मुमुक्षुओं के लिए
आत्यंतिक मुक्ति का - सभी को ब्रह्मरूप करके भगवान में जोड़ने का–
वैसा ही कार्य कर रहे हैं। यह हम सभी के लिए अहोभाग्य की बात है।
यह पल, यह योग और प्रगट का प्रसंग यदि समझ में आ जाए तो
अनंत जन्म के पाप उड़ जाएँ और जीव जीतेजी ही ब्रह्मरूप हो सकता है।
महाविष्णुरूप ऐसा अलौकिक सत्संग
सच्चे संत की कृपा और अंतर की अत्यंत तीव्र अभीप्सा के बिना समझ में ही नहीं आता।
परोक्ष देवों, प्रतिमाओं और मुक्तों में सभी की आस्था है,
लेकिन प्रगट के प्रति होना या टिकना अत्यंत मुश्किल है।
लेकिन, यदि–प्रत्यक्ष भगवान या प्रत्यक्ष सच्चे संत में अनन्यनिष्ठा हो जाए तो,
केवल संबंध से ही जेतलपुर की वेश्या का,
जिस प्रकार सद्‌गुरु मुक्तानंदस्वामिजी जैसा **'कल्याण'** हुआ
या
शुकदेवजी द्वारा जैसे परीक्षित का सात ही दिन में **'मोक्ष'** हुआ,
उसी प्रकार भगतजी महाराज द्वारा अनुभूत व सिद्ध किया गया
'गुणातीत एकांतिक धर्म' सभी के लिए सरल बना है;
हर किसी के लिए जीतेजी ही सुलभ रहा है
और
धर्म, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति एवं महिमारूपी कल्याणकारी गुण जीवन में प्रगट होकर,
अन्यों को भी प्रतीतिरूप बनता है और धाम का निर्गुण सुख प्राप्त करवाता है।
दरजी की देह में रहते हुए, बिलकुल निर्मानीभाव से वर्त कर,
अनादि महामुनिराज गोपाळानंदस्वामी का तेरह वर्ष समागम करके,
उनके वचन से जूनागढ़ में अनादि मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामी की संगत से,
आत्मा और परमात्मा का, ब्रह्म और परब्रह्म का, अक्षर और पुरुषोत्तम के स्वरूपों
का

साक्षात्कार भगतजी महाराज ने किया और संतवर्य शास्त्रीजी महाराज जैसे को,
अपने दाहिने हाथ के समान उत्तम सेवक मान कर, ज्ञानपूँजी सौंप दी
एवं
स्वामिश्रीजी के साक्षात् स्वरूप में जोड़ दिया।
वह विरासत आज असंख्य मनुष्यों के लिए सरल व सुगम है–
यही इस संतमार्ग की विशिष्टता है।
'आसरे से कल्याण' मनवा कर, उन्होंने–
'जीवनमुक्त दशा' प्राप्त करने के लिए **गुणातीत ज्ञान** सभी के लिए सुगम बना दिया है।
उसी दौरान सौराष्ट्र में हमारे अनादि मुक्तराज जागास्वामी भी 'गुणातीत ज्ञान' फैला रहे थे।
उनके द्वारा भी अनेक मुक्तों ने ब्राह्मीस्थिति प्राप्त की है।
यूँ, श्रीजी महाराज के ही दो नेत्रों–प्रागजी भक्त और जागास्वामी ने
असंख्य मनुष्यों के कल्याण के लिए सरल से सरल मार्ग दिखाया है।
आज उसकी पुष्टि संतवर्य योगीजी महाराज अफ्रीका, विलायत
एवं
अपने देश में गाँव-गाँव घूम कर, कर रहे हैं और अखंडित रखी है।
इस प्रकार शिक्षापत्री के श्लोकों 116, 121* के मुताबिक़
(ब्रह्मरूप वर्तते हुए साध्य ऐसी) सच्ची मुक्ति का मार्ग हमें बिना प्रयत्न, बिना परिश्रम या कोई साधन किए, केवल करुणा से ही, संत की कृपा से मिला है।
तो, सभी उसकी पुष्टि करें और ऊँचे से ऊँचे इस तत्त्वज्ञान को सरल बना कर
उन्होंने बताई कल्याण की निम्न रीति, सभी स्थल पर प्रगटाएँ;
जिससे सभी जीतेजी ही निर्गुण सुख प्राप्त कर सकें।
ब्राह्मीस्थिति वाले ऐसे संत में स्वामिश्रीजी समग्ररूप से प्रगट रहते हैं।

---

* *अपनी जीवात्मा को स्थूल, सूक्ष्म और कारण देह से पृथक मान कर, श्री कृष्ण भगवान की **'ब्रह्मभाव'** से ('ब्रह्मरूप' होकर) हमेशा भक्ति करना – 116*
*हमारा **'मत'** विशिष्टाद्वैत है, हमारा प्रिय **'धाम'** गोलोक है और उस धाम में श्रीकृष्ण भगवान की **'ब्रह्मभाव'** से ('ब्रह्मरूप' होकर) सेवा करने को ही हम **'मुक्ति'** मानते हैं – 121*

श्रीजी महाराज उनसे सभी क्रियाएँ करवाते हैं;
सो ही–वे सब क्रियाएँ मंगलकारी और कल्याणकारी ही लगती हैं।
अंतर में शांति, सुख और आनंद का अनुभव होता है
और
अपने दोष का दर्शन होकर, उसे टालने का बल मिलता है।
संत से असाधारण प्रीति द्वारा ब्राह्मीस्थिति प्राप्त करने की
यह रीति सभी को प्राप्त हो, यही अभ्यर्थना है।

1. महाराज और स्वामी को अखंड रखे हुए
   सच्चे संत को **'मोक्ष का द्वार'** दृढ़ता से मान कर,
   उनमें 'सर्वोपरिभाव' लाकर, अनन्यभाव से जुड़ जाना।
   'मैं संत का और ये संत ही मेरे जीवनप्राण'–यूँ मान कर
   श्रीजी महाराज का स्वधर्म युक्त भजन करना।
   ऐसे संत से असाधारण प्रीति या उनकी असाधारण सेवा–
   संत जैसा कहें वैसे और उनकी मरजी के मुताबिक़ मन, कर्म, वचन से करना।
2. **स्वामिनारायण भगवान का नाम मात्र लेने वाले का**
   या
   भगवान को 'साकार' मान कर भजन करने वाला कोई भी हो,
   उन सभी का केवल गुण ही देखना, गुण ही लेना
   और
   उद्धवजी जैसा दिव्यभाव व निर्दोषबुद्धि समग्र सत्संगीबंधुओं के प्रति रखना।
   समता और सुहृद्भाव दृढ़ करना।
   यूँ, नम्रभाव से, दिल की सच्चाई से दो हाथ जोड़ कर,
   संत जैसा कहें वैसा जो किया करे, उसे जीतेजी ही बिना किसी साधन किए,
   सरलता से ही अतिशय दुर्लभ 'एकांतिकभाव' सिद्ध हो जाता है।
   ऐसा 'गुणातीत ज्ञान' भगतजी महाराज ने असंख्य मनुष्यों के लिए सुगम कर दिया;
   इस हेतु उन्हें लाखों वंदन है-धन्यवाद है-धन्यवाद है।

– जुलाई, 1957

***

34

संपत्ति-विपत्ति

पूर्व संस्कार के बल से पशुजीवन में से जब मानवजीवन की प्राप्ति होती है, तब केवल भावना पर आधारित जीवन – यानि अपने पेट की भूख का पोषण करने व वंशवर्धन की ओछी वृत्ति बदल जाकर, बुद्धितत्त्व के निर्णयों, मान्यताओं, अनुभवों और अपने मन की ग्रंथियों के अनुसार धर्म, अर्थ, काम और अंततः मोक्ष के लिए प्रयत्नशील होकर जीवन व्यतीत होता है। लेकिन, एक बात विचारणीय है कि सभी शास्त्र पुकार-पुकार कर कहते हैं और संतगण भी खूब ज़ोर देता है कि आत्मतत्त्व के बल और अपने किसी इष्टेदव या भगवान की उपासना के बिना, उस स्वरूप के यथार्थ ज्ञान और माहात्म्य के बिना बुद्धितत्त्व आत्यंतिक मुक्ति को प्राप्त नहीं करता।

श्रेयार्थी जीव यदि संतमार्ग के वास्तविक स्वरूप को पहचान ले, तो व्यावहारिक प्रेम, भावना, मान्यता, आलंबन, बड़प्पन या कुछ पढ़-सुन कर और अनुभव के आधार पर किए पुरुषार्थ में संपूर्ण रुपांतर आ जाएगा और जीवन के मूल तत्त्वों की परिभाषा, धन, स्त्री, परिवार, बड़प्पन, महत्त्वाकांक्षा, सच्चे सुख, आनंद या प्राप्ति की समझ में बड़ा फ़र्क़ पड़ जाएगा और जीतेजी ही आध्यात्मिक जीवन का आरंभ कर सकेगा। तब पुरानी प्रणालिकाओं, मान्यताओं और दृढ़ हुई आदतों में परिवर्तन होने पर, सच्ची संपत्ति का -दैवी शक्ति का उसे अवश्य एहसास होने लगेगा और नित्य नए अनुभव, अलौकिकताएं उसे दिखाई देने लगेंगी। यूं सच्ची संपत्ति क्या है और प्रत्यक्ष संत के समागम से वह कितनी सुलभ बनी है, वह यदि एकांतिक संत के प्रसंग से समझ में आए, तो जीतेजी ही मन के रोग के राग, क्लेश, उद्वेग-विक्षेपों एवं परेशानी का अंत आ जाकर जीवनमुक्त दशा का अनुभव होता है। तब ही श्रेयार्थी का बुद्धितत्त्व स्वीकार करने के लिए बाध्य होता है कि विपत्ति अच्छी है कई परिस्थितियों में, ज़रूरी व अनिवार्य भी है। कहा जाता है–

बिना दुःख के सुख निस्सार,
बिन आसूँ के जीवन भार।

इसलिए, तब तक सच्चे संत के वचन में श्रद्धा और विश्वास रखना ज़रूरी है। ज्ञान का साक्षात्कार होने पर सभी द्वंद्व अपने आप ही विलीन हो जाएंगे। फिर किसी भी

प्रकार की शंका का स्थान रहेगा नहीं। तब तक वड़वानल अग्नि सरीखे सत्पुरुष, प.पू. योगीजी महाराज का समागम करते रहना चाहिए। तो जीतेजी ही अंतर में शांति, सुख और आनंद प्राप्त होता जाएगा। वो सभी कर लेना।

मनुष्य जीवन की तीन प्रबल वृत्तियों का शुद्धिकरण होने पर (हमारी) दृष्टि बदलती जाएगी। वही का वही जगत, उसके स्वरूप, सगे-संबंधियों और मित्रों इत्यादि अब पृथक् स्वरूप में दिखाई देने लगेंगे। नए बंधन व प्रारब्ध टल जाएंगे। कर्मयोग का अंत आने पर ज्ञान और भक्ति की वृद्धि होती प्रतीत होगी। अंत में कर्म, ज्ञान और भक्ति के एकरूप होने पर, 'संत ही मेरा स्वरूप हैं' – यह माना जाएगा। फलतः स्वरूपी-पुरुषोत्तमनारायण की प्रतीति होते निर्गुण सुख प्राप्त होगा और अन्यों को भी हम यह प्रतीति करवा सकेंगे।

पेट पोषण की, वंशवर्धन की जातीय वृत्ति और जिज्ञासा वृत्तियों का प्रत्यक्ष संत के समागम द्वारा बाह्यदृष्टि से गुण ग्रहण करने से, निर्दोषबुद्धि दृढ़ होने पर सच्ची संपत्ति और विपत्ति की व्याख्या बदल जाएगी। तब मन से खड़े किए गए सभी दुःख, आधि-व्याधि और उपाधियों का अंत आ जाएगा। इसीलिए तो सच्ची दैवी संपत्ति की वृद्धि करने हेतु, राज्य का कार्यभार प्राप्त होने के बाद भी कुंताजी ने दुःख ही मांगा। भले बबूल बोए हों, फिर भी संत सूली का दुःख काँटे से टाल कर, जीव को शुद्ध करते हुए अमृत रस पिलाते हैं। अतः जिस प्रकार चित्रित शेर को देख कर हम भयभीत नहीं होते, वैसे ही दिखाई देते व हमारे ही खड़े किए दुःखों से तनिक भी विचलित हुए बिना अत्यंत धीरज रखें, तो जीवनमुक्त दशा, स्थितप्रज्ञ दशा का अमृत फल सरलता से सिद्ध कर सकते हैं।

किसी भी करोड़पति, मिनिस्टर, राजा, विद्वान, संगीतकार, साहित्यकार, समाजसेवी या चक्रवर्ती सम्राट को देखें, तो पाएंगे कि बाह्य सुख, वैभव या विशाल संपत्ति अर्जित कर लेने के बावजूद उनके अंतर में कुछ अभाव-भय, ग्लानि, अपूर्णता, अस्थिरता या दिखाई देती विपुल संपत्ति तुच्छ व क्षणिक है – यह दर्शन अवश्य होता है। दुन्यवी दृष्टि से जगत के प्रतिष्ठित मांधाता भी अंतर के दुःख, शून्यता, खालीपन को टलवा कर, ब्रह्मरस भरवाने और कृपा प्राप्त करने के लिए प.पू. योगीजी महाराज के समक्ष अरज़, प्रार्थना, विनती करते कइयों को सभी ने सुना होगा।

यूं –

* संत की आज्ञा का पालन नहीं कर सकते,
* (सत्संग) सभा में बैठने की फुर्सत नहीं होती,

* संत-समागम नहीं कर पाते,
* दर्शन हेतु समय पर गोंडल नहीं पहुँच सकते,
* शास्त्र या एकांतिक की आज्ञा का पालन नहीं कर पाते

मायिक एवं क्षणिक पदार्थों में व ऊपरी वैभव के पीछे अपनी देह को घिस-घिस कर फना कर देने की बदौलत संताप करते रहते हैं – यह जाना।

दूसरी ओर, निर्धन और विपत्ति में घिरे हरिभक्त जिन्हें अगले दिन रोटी भी नसीब होगी या नहीं यह चिंता सताती रहती हो – वे संत की सेवा, समागम, दर्शन और मोक्ष हेतु प्रवृत्ति कर सकते हैं।

तो, कुंताजी के वचनों में दम मानने वाले को कितना गौरव लेना चाहिए! जो भी करना है, वह एक दिन करना ही पड़ेगा। विपत्ति में घिरे व्यक्ति को कर पाता देखते हैं, तो सोचें कि विपरीत हालात में अनुभव से प्राप्त दैवी संपत्ति सही या दिखती दुन्यवी संपत्ति – जो जीव के लिए बंधनकारी है वो?

इसीलिए अनादि महामुक्तराज गोपालानंदस्वामी ने मांगा –

'महाराज, यदि दोबारा जन्म देना हो, तो किसी गरीब से गरीब ब्राह्मण के घर देना, जहाँ खाने के लाले पड़ें हों और विवाह के लिए कोई अपनी कन्या देने के लिए राज़ी न हो, ताकि बिना किसी प्रयास के जगत छूट जाए। जगत के बड़प्पन में न झूल कर, केवल भगवान की ही दिव्य मूर्ति का अखंड अनुसंधान रहे। भगवान ही सर्वोपरि-कर्ताहर्ता हैं; 'दास के दुश्मन वे नहीं होते सो, सभी का भला ही करेंगे' – यूँ दृढ़ता से मान कर, महाराज की ही रुचि के अनुसार, आत्मा और परमात्मा को ही रखते हुए, सांख्य से जगत को विस्मृत करके, उत्तम प्रकार का सत्संग कर पाएं।'

इस प्रकार, सच्ची संपत्ति अर्थात् – अच्छे गुण, निर्मानीभाव, निष्कामभाव, सेवकभाव, संप, समता और सुहृद्भाव के बढ़ते निर्गुण सुख प्राप्त होगा। दरअसल तो दुन्यवी समृद्धिवान ही बड़ी विपदा में है या देर-सवेर विपत्ति से घिरा जाएगा ही। दिखाई देती या भगवान और संत द्वारा प्रेरित विपदा या प्रतिकूल मौहाल ही सच्ची संपत्ति है, क्योंकि तभी भगवान को पाया जा सकता है और अखंड सुख प्राप्त किया जा सकता है। इस संपत्ति का सुख, प्रकाश और बल अन्यों को भी मिल सके, ऐसी सच्ची समझ पकड़े रख कर, सभी आनंद में रहें तो महाराज अपना अक्षरधाम बख़्शिश में दे देते हैं। बलिराजा, रतिदेव, हरिशचंद्र, सीताजी, नरसिंह महेता, मीरांबाई, कुंताजी, ध्रुव, प्रह्लाद इत्यादि एवं

पर्वतभाई, जीवुबा, लाडुबा, नाथभक्त, नथु पटेल जैसे कई दृष्टांत हमारे समक्ष हैं। प.पू. स्वामिजी, (गुरुहरि योगीजी महाराज) की कृपा से सभी के हालात सुधर कर, सच्ची संपत्ति बढ़ती जाए ऐसी प्रार्थना है।

संत का सच्चा समागम मिला है। अब अंतर्दृष्टि करके भीतर में जाकर, अपना ही भूतकाल टटोल कर, सच्ची संपत्ति या विपत्ति पर यदि विचार करेंगे, तो प्रकाश अवश्य प्राप्त होगा और सुख, शांति तथा आनंद की वृद्धि होगी। रोटी तो मिलती है और पुरुषार्थ के अंत में जो मिले ऐसे सत्पुरुष का समागम मिलता रहता है, इससे बढ़ कर अन्य दैवी संपत्ति क्या होगी ! यही परमपद है, परम कल्याण है। यह नहीं माना जाता, यही महाअज्ञान है। संत समागम से वह धीरे-धीरे टलता जाएगा। सो, धीरज धर कर, शांति रखना। अंत में सुख ही सुख है। ऐसा अनुभव सभी को हो, यही स्वामिश्रीजी से प्रार्थना है।

– सितंबर, 1957

35

चमत्कार और दिव्य चेतना का अनुभव

धार्मिक इतिहास में आश्चर्यों एवं चमत्कारों को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। व्यावहारिक जीवन में भी हर एक की मंशा होती है कि ऐसे भगवान या संत - जो चमत्कार दिखाएँ या आश्चर्यचकित करें, उनसे जुड़ जाएं और इस लोक व अंतकाल आने पर परलोक में दिव्य सुख प्राप्त कर सकें।

प्रत्येक धर्म या संप्रदाय में ऐसी मान्यताएँ चलती रहती हैं। मन और चित्त की भूमिकाओं में रहते हुए बुद्धिगम्य न हों ऐसे इंद्रियातीत कार्यों से, श्रीजी महाराज ने असंख्य मनुष्यों - निरक्षर भक्तों को भी समाधि प्रकरण द्वारा स्वयं साक्षात् दर्शन देकर, अवतारों के दर्शन करवा कर वेद के गूढ़ व जटिल ज्ञान को समझा दिया।

अन्य धर्मों एवं संप्रदायों में भी ऐसी ही प्रवृत्तियाँ चलती रहती हैं। अतः निर्मल सत्य की परख करना अति कठिन हो जाता है। दिव्य चेतना के अनुभव एवं इंद्रियातीत आश्चर्य सच ही हैं। फिर भी बनावट, दिखावा, ढोंग, दंभ करने वाले बढ़ जाते, सच्चे सत्पुरुषों से भी लोगों की श्रद्धा उठती-सी जा रही है और नास्तिकभाव उत्पन्न होता है। परंतु, 'गुणातीतज्ञान में' आम रिद्धि-सिद्धि वाले ऐसे अनंत सिद्ध संतों की प्रवृत्ति से, बिल्कुल अलग ही प्रकार के चमत्कार दिखने में आते हैं, अनुभव में आते हैं और कइयों को सदैव के लिए आत्मसात् होते हैं। इस सर्वोपरि गुणातीतज्ञान की यही विशिष्टता है, जिसके बारे में सभी को सोचना चाहिए।

प्रभु के उपासकों में से गोपालयोगी जैसे सिद्ध होते हैं; शुकसनकादिक जैसे **'शक्तिओं के सिद्ध'** की अपेक्षा, **'एकांतिक सिद्ध'** को अति बड़े माने जाएं। इससे भी अधिक, वच. गढडा मध्य 1, 2, 20, जेतलपुर 1, अमदावाद 1, कारियाणी 7 के अनुसार, पंचविषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) में समबुद्धि रख कर, आसक्ति छोड़े हुए व रागद्वेष रहित बरतते ऐसे **'एकांतिक सिद्ध'** की अपेक्षा वच. अत्यं. 26, प्र. 27 में दर्शाए वड़वानल अग्नि सरीखे **'परम एकांतिक सिद्ध पुरुष'** तो साक्षात् भगवान का स्वरूप ही कहे जाएँ, जो अनेक एकांतिक सिद्धों को तैयार करके, जीतेजी प्रकृति-पुरुष

तक के कार्य को खाक की पुड़िया के समान मनवाने का अति अलौकिक आश्चर्य और चमत्कार प्रतिदिन करते रहते हैं। लेकिन, ब्रह्मदृष्टि वाला ही इसे देख सकता है। यह श्रेणी ही अलग है।

वर्तमान समय में, गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज के संकल्प के बल से प.पू. योगीजी महाराज अफ्रीका में, अंतर को शीतलता प्रदान करने वाले और कामक्रोधादिक दोषों पर विजय हासिल कराने वाले एकांतिक तैयार करके, दिव्य चेतना का अनुभव और प्रतीति करवा रहे हैं। अनेकों को दर्शन, दोषध्यान, प्रकृति का परिवर्तन तथा चित्त का निरोध व साक्षीवृत्ति अखंड सिद्ध होने पर, निर्दोषबुद्धि के बढ़ते सभी मंडलों में संप, सुहृद्भाव, एकता, समता के प्रवर्तन का दिव्य अनुभव हो रहा है। वास्तव में, **धाम की साक्षात् दिव्य चेतना के** ये **अनुभव** करोड़ों चमत्कारों और शक्तिओं (बच्चे का आशीर्वाद देना, रोग मिटाना, केस जितवाना, नौकरी दिलवाना) से अंनत गुणा दिव्य और सनातन हैं और चिरकाल स्थाई रहेंगे एवं **'आत्यंतिक मुक्ति'** भी वे ही प्रदान करेंगे।

अक्षरमूर्ति प.पू. योगीजी महाराज ने, देश तथा परदेश में, दिव्य चेतना के ऐसे अनुभवों का अखाड़ा आरंभ किया है, जिनके द्वारा मुमुक्षुओं के सभी दोष टलते जाते हैं और उन्हें निर्विकल्प समाधि के निर्गुण सुख का सदैव अनुभव होता है; उनके अवयव व दृष्टि बदल जाने की प्रतीति अन्यों को स्वतः होती है और जीतेजी ही शक्ति, शांति, सुख, प्रकाश और बल की वृद्धि होती प्रतीत होती है। ऐसा दिव्य चमत्कार का अनुभव सभी करें – यही प्रार्थना है।

–अक्तुबर, 1957

ऐसा अनमोल अवसर, मौका हमें मनुष्य देह में फिर कभी नहीं मिलेगा।
इसलिए करोड़ों काम बिगाड़ कर भी, ऐसा आत्यंतिक मोक्ष-कल्याण
पा लेने का हर सत्संगी का फर्ज़ है।

सच्चे संत या साधु की 'कृपादृष्टि' के बिना
माया से अखंड निर्लेप नहीं ही रहा जा सकता।

36

समता और सुहृद्भाव

शास्त्रों में मन को जीतने, चित्त को निर्मल करने और अंत में आत्मा की शुद्धि के लिए अनेक प्रकार के उपाय, विधियाँ और कर्मकाण्ड भिन्न-भिन्न आचार्यों ने बताए हैं – जिन्हें सभी जानते हैं। लेकिन, ऐसा शुद्धिकरण मूर्तिमान हो नहीं पाया और वर्षों की तपस्या के बाद भी ऋषि मुनियों की चित्त-वृत्तियों के निरोध को वह विपरीत देशकाल में टिका नहीं पाया। इस तथ्य की सभी शास्त्र पुष्टि भी करते हैं। इसलिए हम संसार में रहें या न रहें, किन्तु दैविक संपदा स्वयंमेव बढ़ती जाए और आसुरी वासनाएं, स्वभाव और प्रकृति टलकर जीते जी आत्मशुद्धि प्राप्त कर लेने के लिए श्रीजी महाराज ने वड़वानल अग्नि समान सच्चे सत्पुरुष का समागम ही सर्वोपरि, सर्वोत्कृष्ट साधन बताया है। इसे हमें दृढ़ कर लेना है। ऐसे सभी सद्गुणों के राजा को हमारे अनादि गुरु गुणातीतानंदजी ने एक ही लक्षण में रख दिया है। **'सुहृद्भाव'** को सभी जीवात्माओं के, प्राणीमात्र के और सत्संग के भी जीव का जीवन गिना है। चार बातें जीव का जीवन हैं। उपासना, आज्ञा, एकांतिक में प्रीति और सुहृद्भाव। इनमें से यदि सुहृद्भाव रहेगा, तो बाकी तीन अपने आप दृढ़ होते जाएंगे। यह बात प्रगट गुरुजी, पूज्य योगीजी महाराज बार-बार जोर डाल कर कह रहे हैं। सो, हमारे लिए अंतर्दृष्टि करके इस बात पर गंभीरता से सोचने जैसी यह बात है। यह सिद्ध होते ही, जीतेजी ही निर्गुण सुख की प्राप्ति करवा कर, महाराज की दिव्यमूर्ति का सुख सभी को दे सकती है।

जीव का जीवन 'सुहृदभाव' दृढ़ करने के लिए तीन तत्त्वों का विकास करना अनिवार्य बनता है। पहले तो, 'सत्संग' में अर्थात् सच्चे 'सत्पुरुष' में आत्मबुद्धि और प्रीति; दूसरा, प्रगट की निष्ठा वाले सभी हरिभक्तों में और अंततः स्वामिनारायण भगवान का शुद्धभाव से नाम लेने वाले की भी अतिशय महिमा समझ कर निर्दोषभाव, दिव्यभाव दृढ़ करना। इससे समग्र सत्संग में महाराज और स्वामी का कर्ता, साकार और सर्वोपरि प्रगटभाव माना जाएगा। फलस्वरूप **'समता'** रूपी बहुत बड़ा गुण प्राप्त होगा और तभी सच्चा सुहृद्भाव दृढ़ कर पाएंगे। आत्मबुद्धि और निर्दोषभाव को लेकर योग के फलस्वरूप प्राप्त हुई समता-स्थितप्रज्ञता जीव में अपने आप प्रगट होती दिखाई देगी;

एहसास होगा और एकांतिकभाव सिद्ध होगा। सारा सत्संग अपना ही माना जाएगा, एक दूसरे की भूलों को चैतन्य के विकास के लिए, महाराज साधन बना रहे हैं–इस तथ्य का दर्शन होते, वे भूलें–दोष अपने ऊपर ले सकेंगे। विपरीत देशकाल के कारण महाराज की आज्ञा में ढीलापन आ गया हो, तो एक-दूसरे को एकांत में टोक कर कह पायें–ऐसे दिव्य प्रेम की भावना दृढ़ हो, यही कहा जाए सच्चा 'सुहृद्भाव।' समता दृढ़ होने पर, आपसी 'सहिष्णुता' रखकर जीने का अभ्यास करने से, ऐसा भाव सहजरूप से प्राप्त होता है। प.पू. सद्गुरुवर्य योगीजी महाराज भी देह, मन और बुद्धि से ऐसे ही 'समता' और 'सहिष्णुभाव', समग्र सत्संग में दिव्य भावनायुक्त संप और एकता से 'जीव का जीवन', यानि सुहृद्भाव से जीना अपनी बातों में समागम के समय बार-बार प्रदर्शित करते हैं। यही हमें कर लेना है।

'सहिष्णुता' के बिना प्रगट में जुड़ नहीं पाएंगे। कई गरीब, अनपढ़, अज्ञानी प्रकृति वाले जीव हों, लेकिन वे प्रगट के संबंध वाले हैं, सो दिखाई पड़ते उनके दोषों, भावनाओं, मान्यताओं को नज़रअंदाज करते हुए, हमें उनकी प्रत्यक्ष सत्पुरुष के प्रति दिव्य प्रेम और भावना को ही नज़र में रखते हुए, उन्हें सह कर पीछे हठ कर लेनी चाहिए और जिस प्रकार भी उन्हें सत्पुरुष से अतिशय लगाव हो, ऐसे उपाय ढूंढने चाहिए और महिमा गाया करनी चाहिए; जिससे कि सर्व कर्ता स्वामिश्रीजी बाकी का काम अलौकिक ढंग से स्वयं संभाल लेंगे और हमें धाम की दिव्यता का निर्गुण सुख प्राप्त करायेंगे। ऐसी 'सहिष्णुता' दृढ़ होने के बाद ही सच्चा 'सुहृद्भाव' अंतर में प्रगट हो सकता है और बाद में ही मान-अपमान, हर्ष-शोक या विपरीत देशकाल में भी मति पलटेगी नहीं और चित्त की वृत्तियों के निरोध के बिना ही स्वरूप के चिंतन और प्रगट के महिमारूपी ध्यान से, निर्विकल्प समाधि का सुख सहज रूप से मिलता रहेगा। जो ब्रह्मरूप हुआ हो, उसका चित्त अतिशय प्रसन्न रहता है और राग द्वेष रहित बनकर, मूर्ति के सिवा और कोई भी आकांक्षा रहित, निष्काम भक्ति रूपी जीवन जीता है। यही सच्चा 'सुहृद्भाव' सिद्ध करने का फल है। पू. स्वामिजी सभी को सरलता से ऐसा करा रहे हैं। तो, हमें स्वयं का ही गुरु बनकर अंतर्दृष्टि करके, भीतर में टटोल कर, स्वामिश्रीजी से सच्ची प्रार्थना किया करनी है; जिससे कि जीते जी ऐसा दिव्यभाव प्रगट हो जाए और ज्योति प्रगटते ही, अखंड निर्विकल्प समाधि का सुख मिला करे।

–जनवरी, 1958

***

37

वृत्तियों का निरोध एवं संयम

शास्त्रों में एवं बड़े-बड़े आचार्यों द्वारा मोक्ष के लिए विभिन्न प्रकार के जो उपाय बताए गए हैं, उनमें वृत्तियों का निरोध सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। अंतःकरण की शुद्धि के बिना आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। श्रीजी महाराज ने वचनामृत एवं शिक्षापत्री में बार-बार बताया है कि आत्मारूप या ब्रह्मरूप होकर भजन किए बिना, परब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण की दिव्य मूर्ति को सिद्ध नहीं किया जा सकता और आत्यंतिक कल्याण की प्राप्ति भी नहीं हो सकती।

सत्संग में पामर, विषयी, मुमुक्षु और मुक्त–चार प्रकार के मनुष्य होते हैं। उनके शुद्धिकरण में स्वधर्म उसके मुताबिक़ रहता है और अपने अंग के मुताबिक़ सत्पुरुष के वचनों का पालन करने से जीव बल को प्राप्त करता जाता है। हर एक के विकास में वृत्तियों का शुद्धिकरण होना ज़रूरी है। इस हेतु श्रीजी महाराज ने सरल ज्ञानयोग, पूर्णयोग 'संत समागम' द्वारा सदैव के लिए खोल दिया है। यह उनकी हम पर महान कृपा हुई है। फलस्वरूप, असंख्य मुमुक्षु जीतेजी ही सरल रीति से एकांतिक धर्म को सिद्ध करने में सक्षम हो रहे हैं। इसकी प्रतीति भी अनादि मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामी ने कराई है, जो तथ्य हमारे सत्संग में सभी को ज्ञात है।

वृत्तियों के शुद्धिकरण के अनेक मार्ग हैं। पातंजल का योगमार्ग तथा सांख्यमार्ग संसारी जीव के लिए अतिशय कठिन होता है और इस मार्ग पर चल कर साधना करने वाले कई बार विक्षिप्त-से हो जाते हैं या उनका चित्त भ्रमित हो जाता है। ऋषि-मुनियों ने अथक् प्रयत्न से विषयों को छोड़ा, तप किया, लेकिन मूल वृत्तियों (कामना, अहंभाव, ममत्वभाव इत्यादि) को नहीं जीत सके और विषयों के प्रति रस या राग रहने के कारण विपरीत माहौल में वृत्तियाँ अधोगति की ओर चल पड़ीं। पराशर, च्यवन, एकलशृंगी इत्यादि के दृष्टांत से स्पष्ट हो जाता है कि इस युग में संसारी जीवों एवं त्यागी वर्ग के लिए ऐसा तपमार्ग निकम्मा एवं साधना में विघ्नरूप है।

उपरोक्त दृष्टांतों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वृत्तियों के निरोध के मार्ग पर अग्रसर होने पर अव्यक्त भावनाएँ भीतर में डटी रह जाती हैं, जो रमणीय पंचविषयों के योग में या स्त्री सौंदर्य के आकर्षण एवं मान-सम्मान के माहौल में दुगने जोश व वेग

से, मनुष्य को पागल की भाँति, विषयों में लुब्ध कर देती हैं।

अतः केवल निरोध की प्रक्रियाओं पर ही ज़ोर देने की बजाय विचारपूर्वक संयम पर ध्यान दिया जाए, तो साधक को साधना करना अत्यंत सरल एवं सुगम हो जाएगा। प्रगट के उपासक तो प्रत्यक्ष संत की अनन्य निश्रा में रह कर, उनकी आज्ञा के अनुसार वर्तन करते हुए ही, वृत्तियों पर सरलता से संयम सिद्ध कर सकते हैं। प.पू. संतवर्य योगीजी महाराज के समागम से ऐसा अहोभाग्य हमें प्राप्त हुआ है। सो, करोड़ों काम बिगाड़ कर भी हर एक को यह लाभ ले लेने जैसा है, ताकि अव्यक्त राग बाहर निकल जाए, अंतःकरण शुद्ध होकर हम जीतेजी ही ब्रह्मरूप हो जाएं और जीव में अखंड भजन होता रहे। ऐसा संयम ही 'एकांतिकभाव' सिद्ध करने का सर्वोत्तम साधन है। यदि सभी अपने-अपने नियम-धर्म में रह कर, स्वरूपनिष्ठा परिपक्व करके, सेवा किया करें तो अल्प समय में ही निर्वासनिक हो सकते हैं और जो प्राप्ति बड़े-बड़े ऋषियों को तप करने पर भी नहीं हुई, वह प्राप्ति, ऐसे संत के समागम से, गृहस्थी को जीतेजी ही हो सकती है। गुरुमुखी होकर, संत की ही आज्ञानुसार वर्तने वाले को तो (राजा) जनक, अंबरीष, पर्वतभाई तथा गोरधनभाई जैसों की भाँति अलौकिक स्थिति भी प्राप्त होती है। अतः निरोध या निग्रह या ऊपरी तौर से विषयों के त्याग की बजाय, हम स्वरूपनिष्ठा रूपी नींव प्रथम दृढ़ करके, हमें मिले प्रत्यक्ष संत की आज्ञा का पालन करने लगें और स्वधर्म में रहते हुए, व्यवहार (जीवन का कार्य) करें। तो, ज्ञानयज्ञ सुलभ हो जाएगा और धाम का निर्गुण सुख जीतेजी ही प्राप्त होगा।

ऐसा संयम तत्काल सिद्ध करने के लिए **'संजीवनी मंत्र'** है–**'प्रत्यक्ष सत्पुरुष के प्रति अखंड दिव्यभाव!'** मनमानी क्रियाएँ होती रहती हैं और संत की महिमा समझने और उनका गुणगान करने में परेशानी होती है, उसके बारे में अंतर्दृष्टि करके सोचना ज़रूरी है या तो साक्षात् ज्ञान को संपूर्ण सिद्ध कर लेना चाहिए, परंतु वह तो संभव नहीं। अतः यदि समग्र रूप से मन और जीव को वड़वानल अग्नि के समान साक्षात् संत को अर्पित करके उनसे जुड़ जाएं। तो, निर्वासनिक होकर दिव्य मूर्ति में जुड़ पाएँगे और अक्षरधाम का सुख प्राप्त होगा। ऐसे संत के प्रति जिसे दिव्यभाव हो, उसे सत्पुरुष की किसी भी क्रिया में मनुष्यभाव आएगा ही नहीं और ऐसी जाग्रतता रखने से, मूल वृत्तियों पर सरलता से खूब बड़ा संयम दृढ़ हो पाएगा–यह अनुभव सभी कर लें।

–फरवरी, 1958

***

38

सत्संगी का पुरुषार्थ एवं जल में लकीरें

श्रीजी महाराज व मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामी ने आग्रहपूर्वक आज्ञा की है कि सच्चे संत की पहचान होने के बाद, सभी को सावधान रहना चाहिए, ताकि हठ, मान और ईर्ष्या अंतर में प्रवेश न कर सकें। जैसे-जैसे सत्पुरुष का समागम करते जाते हैं, वैसे-वैसे हमारे कर्म, ज्ञान और अनुभवों का रुपांतर होने लगता है। फिर वे ही कर्म एवं अनुभव भिन्न स्वरूप में इस सत्संग की प्रवृत्ति करते दिखाई देते हैं। संत की ही आज्ञानुसार वर्तन करने के फलस्वरूप हमने **अपनी बुद्धि से लिए** निर्णय तथा मान्यताएं बदल जाते हैं और हमारे निजी पुरुषार्थ का अंत आ जाता है व निर्गुणभाव के आसक्ति रहित कार्य होने लगते हैं और वच. अंत्य 11, मध्य 14 के मुताबिक़ जीतेजी निर्विकल्प समाधि का सुख प्राप्त होने लगता है। इसमें जितना फ़र्क़ करेंगे, उतना क्लेश या उद्वेग अंतर में रहेगा। अतः सभी सत्संगियों को **अपनी बुद्धि से करते** पुरुषार्थ को जल्दी ही छोड़ कर, केवल सत्पुरुष को राज़ी करने की क्रियाओं का ही अखंड अनुसंधान रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

जैसे-जैसे सत्पुरुष की ही मरज़ी के अनुसार स्वधर्मयुक्त सत्संग की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे एकांतिकभाव का दिव्य सुख और स्वामिजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) की मूर्ति का अनिर्वचनीय दिव्यानंद प्राप्त होता जाता है। ऐसा पुरुषार्थ करते हुए तीन प्रकार की सावधानी विशेष रूप से रखनी ही पड़ती हैं। इसे आज़मा करके सोच लेना और संत के पास निष्कपट होकर, उसके अनुसार वर्तने का प्रयत्न करना, ताकि निर्गुण सुख सुलभ होता जाए।

(1) **लोहे की लकीर –** हमारी प्रकृति जब जड़ तत्त्वों के संग गुणात्मक होकर हमें सत्संग की प्रवृत्ति कराती है, तब कई प्रसंगों पर जाने-अनजाने में आपस में एक-दूजे का खंडनमंडन होने लगता है और आख़िर जैसे लोहे के दो टुकड़े हो जाने पर वे फिर जुड़ते ही नहीं, ऐसी इनके बीच ग्रंथि पड़ जाती है। सत्पुरुष के समझाने व ज्ञान देने पर भी ऐसी ग्रंथि छूटती नहीं। अंततः ऐसा सत्संग मिलने व सत्पुरुष के कहे मुताबिक़ वर्तने के बावजूद भी, ग्रंथि न छोड़ने के दोष के कारण, वह पीछे हटता जाता है और आख़िर ऐसा अमूल्य सत्संग भी छोड़ देता है।

(2) जैसे **आटे में लकीर** बनाते हैं, वैसे ही यहाँ बाह्य तौर पर जीव क्षणभर वृत्ति के अधीन रह कर, आपस में मनमुटाव से वर्तता दिखाई देते हैं। लेकिन, सत्पुरुष के वचन सुन कर, उन पर मनन करने से उसे अंतर्दृष्टि होती है और अंत में जैसे आटे में बनाई गई लकीर को हथेली से मिटा कर समतल कर देते हैं, उसी प्रकार परस्पर प्रेम से मित्रता का संबंध बनाए रखते हैं और सत्पुरुष भी ऐसे जीव को संभाल लेते हैं, जिससे उनमें जाग्रतता आ जाती है। अभाव-अवगुण की क्रियाएँ ऊपर-ऊपर की होती है – दिखाई देती हैं, लेकिन वे क्षणिक होती हैं और अंत में सुख, शांति और आनंद का ही माहौल खड़ा होता है। **निष्ठा वाले हरिभक्त** आटे में लकीर जैसी इस कक्षा में जाग्रतता रख कर एकांतिकभाव सिद्ध कर लेते हैं।

(3) **जल में लकीर –** सत्पुरुष की ही आज्ञा के अनुसार वर्तन करने वाले **निर्दोषबुद्धि युक्त** भक्त इस कक्षा के होते हैं। वे अपना जीवन स्वधर्मयुक्त जीते हुए, सत्संग की विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ करने के बावजूद भी, अन्य किसी का आकार या उनकी क्रियाओं या स्वभावों को ज़रा भी देखे बिना, केवल संत की ओर ही दृष्टि रख कर श्रीजी महाराज की अपरंपार सर्वोपरि सत्ता को ही दृढ़तापूर्वक मान्य रख कर, उन्हें कर्ता-हर्ता और साकार मान कर प्रगट स्वरूप पर संपूर्ण भार डाल कर दिव्यभाव से वर्तते हैं और महिमा की दृष्टि दृढ़ होने के कारण वे कभी भी किसी भी सत्संगी के प्रति भेदभाव, अविश्वास या अरुचि आपस में रखते नहीं। जल में बनी लकीर की भाँति केवल ऊपर का भेदभाव भले ही दिखाई देता हो, लेकिन उनके अंतर में तनिक भी संशय नहीं होता। 'जो कुछ भी हो रहा है, होता रहता है और होगा – वह सब प्रगट स्वामिश्रीजी ही कर रहे हैं और सत्पुरुष सर्वज्ञ हैं, वे सब कुछ जानते हैं एवं अत्यधिक समर्थ हैं' – इसीलिए ऐसे भक्त सभी को ब्रह्म की ही मूर्ति के समान मान कर वर्तते हैं। परिणाम स्वरूप अपनी प्रत्येक क्रिया में अखंड आनंद, सुख और अपार शांति का अहोनिश एहसास होने लगता है। ऐसे भक्तों को ही मूर्ति का सुख प्राप्त होता है।

हमें हमारे निजी पुरुषार्थ से छुटकारा दिला कर, बुद्धि में दृढ़ की हुई मान्यताओं, कल्पनाओं को छुड़वा कर पू. योगीजी महाराज आत्मीयता का भाव भर कर, दिव्यानंद बख़्शें – यही अभ्यर्थना है।

–मार्च, 1958

***

39

क्षेत्र संन्यास

राग, विराग, त्याग और वैराग्य का सच्चा स्वरूप पहचान कर प्रगट स्वरूप की आज्ञा का पालन करने से ही भगवान की दिव्यमूर्ति को सिद्ध किया जा सकता है। गीता, भागवत एवं श्रीजी महाराज द्वारा 'वचनामृत' में समझाया गया यह रहस्य हमारे लिए दृष्टांत रूप है एवं प्रगट की निष्ठा वाले सभी गृहस्थी या त्यागी वर्ग के लिए दीपस्तंभ के समान है। भक्तचिंतामणि के प्रकरण 71-76 तथा 164 में इस सिद्धांत का स्पष्ट रूप से निरूपण करते हुए श्रीजी महाराज ने स्पष्ट किया है कि यदि साधन का बल, लक्षण, स्वरूप तथा फल को उसके यथावत् रूप में न पहचाना जाए, तो त्याग या तप, वैराग्य या विरक्ति, जीतेजी ही ब्रह्मरूप होकर भगवान के दिव्य स्वरूप में जुड़ने में अंतराय उत्पन्न करते हैं– इस पर सोचना।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विवेक तो सच्चे संत के समागम व सेवा से ही ज्ञात होता है। शास्त्रों में उल्लिखित च्यवन, पराशर, सौभरि ऋषि इत्यादि के दृष्टांतों से यह स्पष्ट है कि ऋषि-मुनियों ने बहुत तप, त्याग तथा वैराग्य दृढ़ करके, आत्मारूप वर्तने का प्रयत्न किया, परंतु माहौल एवं क्रिया में परिवर्तन होने या संगति के दुष्प्रभाव के कारण अधोमार्ग पर चलने लगे। अतः सनातन ब्रह्म अथवा ब्रह्मनिष्ठ तथा सच्चे श्रोत्रिय सद्गुरु से आत्मा-परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान सीखने पर ही जीवात्मा ज्ञानस्वरूपी अविनाशी विचार को मूर्तिमान धारण करके, 'क्षेत्र' अर्थात् जगत और 'क्षेत्रज्ञ' अर्थात् जगत की ज्ञाता 'आत्मा' के विवेक को दृढ़ कर सकती है, क्योंकि रमणीय पंचविषयों में आसक्ति या देहाभिमान से जीव की रक्षा भगवान के बल से ही होती है और अखंड निर्गुण सुख प्राप्त होता है। आत्मा-अनात्मा का विवेक, भगवान या उन्हें अखंड धारण किए हुए संत से असाधारण प्रीति करने से ही स्थापित होता है और तभी सच्चा निर्वासनिकभाव प्राप्त होता है। अन्यथा, वृत्तियाँ अनुलोम होने से नहीं बच सकतीं। सो, इस बात को खूब समझ लें कि सच्चे संत की कृपा या अनुग्रहयुक्त **'क्षेत्र संन्यास'** ही ज्ञानांश का वैराग्य दृढ़ करवा कर दिव्यमूर्ति एवं भगवद्भाव के दिव्य सुख की प्राप्ति करवाते हैं।

'क्षेत्र संन्यास' कर्मों, पदार्थों या प्रसंगों का ऊपरी तौर पर ही त्याग नहीं,

बल्कि यह तो अनासक्ति का योग है, जिसमें सभी क्रियाएँ प्रभु की प्रसन्नता हेतु होती हैं और संसार में रहने के बावजूद राजा जनक, अंबरीष तथा पर्वतभाई जैसी ज्ञानदशा सिद्ध होती है। एकांतिकभाव सिद्ध करने के लिए ऐसा **'क्षेत्र संन्यास'** आवश्यक ही नहीं, बल्कि अनिवार्य है; क्योंकि, व्यवहार और एकांतिकभाव का मेल होना तक़रीबन असंभव है। इसीलिए सभी को अपने-अपने स्वधर्म में रह कर, केवल आवश्यकतानुसार व्यवहार करके, संत की आज्ञा में निरंतर वर्त कर, धीरे-धीरे आंतरिक **'क्षेत्र संन्यास'** लेने के लिए प्रयत्न करना चाहिए, ताकि अंतर का जगत और उसके भाव निर्मूल हो जाएँ और दिव्यभाव प्रगट होने लगे।

यदि जगत के जड़ तत्त्वों के संबंधों से अखंड अरुचि रख कर, धाम, धामी और प्रगट मुक्तों के स्वरूप को ही सच्चे मान कर, हर प्रकार से उनकी सेवा, प्रवृत्ति या पुरुषार्थ करें, तो सरलता से अनासक्ति योग को सिद्ध किया जा सकता है। जीव के अंतर में पड़ी पुरानी आदतों का तुरंत रुपांतर होना संभव नहीं, इसलिए कई बार सत्संग का विकास करने के आवेग में अव्यक्त रीति से हम सूक्ष्म रागों का पोषण करते हुए, सत्पुरुष को विवश करते हैं और कारण शरीर के भाव ही तृप्ति प्राप्त कर लेते हैं। यही प्रवृत्ति यदि गुरुमुखी बन कर, भगवान या संत को राज़ी करने की भावना से की जाए, तो दुर्लभ से दुर्लभ एकांतिकभाव सिद्ध हो जाता है।

प.पू. प्रगट ब्रह्मस्वरूप संतवर्य योगीजी महाराज के समागम में रह कर, चिंतन-अंतर्दृष्टि करके, अपना ही अंतर टटोल कर आज्ञा का पालन करने पर, दर्पण समान निर्मल सत्संग, हमें हमारे वास्तविक स्वरूप का परिचय दे देता है। तब रागात्मक या दोषात्मक क्रियाएँ स्वयंमेव सहज ही बंद होने लगेंगी। दिव्यमुक्ति प्राप्त करने के लिए प्रत्यक्ष स्वरूप को यथार्थ रूप से पहचान कर, सभी अपने यथा-योग्य ऐसा **'क्षेत्र संन्यास'** अपना लें, तो केवल गुरुमुखी क्रियाएँ दृढ़ होने पर सत्यकाम की भाँति, ब्रह्मज्ञान सहज ही प्रगट हो जाएगा।

स्वामिजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) सभी साधकों एवं हरिभक्तों को ऐसी दिव्यभावना दृढ़ करने का बल दें – यही अभ्यर्थना है।

–अप्रैल, 1958

***

40

आध्यात्मिक जड़ता

जड़ता का मूल अज्ञानता है, जिसका हम प्रमाद-आलस्य के रूप में अस्थिरता, अविश्वास तथा गतिहीनता इत्यादि भावों द्वारा दर्शन कर सकते हैं। बाह्य जड़ता में जिस प्रकार अचल पदार्थ जैसे पत्थर, पर्वत आदि में किसी प्रकार की चंचलता या गति आदि करने का कोई प्रयास नहीं दिखाई पड़ता, उसी प्रकार सूक्ष्म जड़ता मानसिक ग्रंथियों के रूप में, उतनी ही क्रियाहीनता और निश्चलता दर्शाती है। इस वास्तविकता को हम अपने नित्यजीवन के प्रसंगों, सामाजिक वातावरण एवं राष्ट्रव्यापी आंदोलनों या महान क्रांतिकारी योजनाओं में प्रत्यक्ष रूप से देख सकते हैं। इसी प्रकार की जड़ता का अनुभव हमें धार्मिक क्षेत्रों में भी तत्त्वज्ञान को समझने और अनादि सनातन तत्त्व का यथार्थ स्वरूप पहचान कर बरतने में स्पष्ट रूप से होता है और इसीलिए हम अंतर में सच्चे सुख, शांति या दिव्यानंद की अनुभूति नहीं कर पाते। अतः सभी को प्रार्थना करनी चाहिए कि सच्चे सत्पुरुष के समागम के फलस्वरूप, सत्संग करते-करते अखंड दिव्यभाव की ही भावना दृढ़ हो।

हमारे संप्रदाय में एवं अन्य धर्मों, पंथों व समाज में आध्यात्मिक जड़ता के निम्न पृथक-पृथक स्वरूप बताए गए हैं। अंतर्दृष्टि करते हुए सभी को इस बारे में स्वयं के लिए सोच लेना चाहिए, जिससे सरलता से जाग्रतता आ सके।

(1) किसी भी धर्म, संस्था या समाज के विकास के लिए दो प्रकार के मुख्य तत्त्व केवल आधारभूत ही नहीं, बल्कि अनिवार्य हैं। जैसे कि एक तो उसका बाह्य स्वरूप– आधारभूत स्वरूप अथवा सांप्रदायिक प्रथा, मान्यताएँ और तत्कालीन समय में व्याप्त हुई युग धर्म की भावनाएँ। श्रीजी महाराज ने, पूर्णरूप से प्रचलित वर्णाश्रम धर्म को मान्य रखते हुए ही 'एकांतिक धर्म' का स्थापन किया है और उसमें किसी का भी खंडनमंडन किए बिना ही स्वयं को सर्वोपरि सिद्ध कर दिया है! मूलभूत सिद्धांतों, तत्त्वों या भावनाओं की उपेक्षा करके, उन्हें भूल कर, गौण करके, केवल बाह्य युगस्वरूप को ही मान्य रखने पर तो सच्चे संत का द्रोह हो जाता है।

महाराज भी अप्रसन्न हो जाते हैं और अंतर में भी अशांति बरतती है। सब कुछ जानने और देखने के बावजूद, यदि ऐसे महान संतों, शास्त्रों या मान्यताओं (उदाहरणार्थ – गुणातीतज्ञान की भावना) की अवहेलना करें, तो फिर हम भले ही आध्यात्मिक क्षेत्र में काम करते हों, मंदिर की सारी सेवा, पूजा, पाठ और भक्ति करते रहें, फिर भी हमें चैतन्य स्वरूप का सुख लेशमात्र भी प्राप्त नहीं होगा और केवल ऊपरी बाह्योपचारों को ही सच्चा धर्म मान लेने से एक प्रकार की जड़ता ही खड़ी होती है और उस जड़ता का पोषण करने हेतु पक्षापक्षी भी खड़ी कर देते हैं। परंतु, थोड़ी अंतर्दृष्टि करके महाराज का शुद्धभाव से भजन-स्मरण करते ही, मुमुक्षु जीव को तो यह अवश्य समझ आ जाता है और प्रगट रूप में दिखाई देता है कि केवल सच्चे सत्पुरुष द्वारा ही मंदिर, आचार्यों एवं कार्यकर्ताओं को प्रेरणा और बल मिलता रहता है और तब सच्चिदानंद का अनुभव और प्रतीति हो जाती है। सभी से विनती है कि प्रगट संतवर्य पूज्य योगीजी महाराज की हाज़िरी में ऐसा अनुभव कर लें।

(2) आध्यात्मिक जड़ता का दूसरा स्वरूप अंतर्गत मान्यताएँ हैं। पुरानी आदतों के कारण जो मानसिक ग्रंथि दृढ़ हो गई होती है, उसे चिपके रहने के कारण सच्चे संत के वचन में अविश्वास उत्पन्न होता है और उनकी आज्ञा पालन करने में भी शिथिलता या गौणता आ जाती है। सेवा, भक्ति, मंदिर की क्रियाओं की आड़ में सच्चे भक्तों और संतों का द्रोह करने लगते हैं और... स्वामिश्रीजी अप्रसन्न होते हैं। अतः, प्रगट सत्पुरुष के सभी वचनों व उनकी हर प्रकार की क्रियाओं में अखंड दिव्यभाव ही रखा जाए – वे जो कुछ करते हैं, कर रहे हैं और करवा रहे हैं, वह सब सत्संग के भले के लिए ही है, ऐसा अखंड माना जाए, तो ही मानसिक जड़ता बिल्कुल टल जाएगी और जीतेजी निर्गुण सुख प्राप्त होगा। अन्यों के उत्कर्ष से हम खुश होंगे, सत्पुरुष कभी भी विवश न हों ऐसा वर्तन करेंगे और सत्पुरुष द्वारा बार-बार आग्रह कराए बिना, एक ही आज्ञा से सेवा या सत्संग के किसी जरूरी कार्य में एवं उत्सव में जाने के लिए अपनेआप शामिल हो जाएंगे, तभी सच्ची आत्मबुद्धि दृढ़ हुई गिनी जाए और निर्विकल्प समाधि का सुख आएगा।

(3) जड़ और चेतन, बंधन और मोक्ष, भय और अभय, सत्य और असत्य के

सभी अन्तर्द्वंद्व खतम हो जाकर, केवल सत्पुरुष ही मेरी आत्मा हैं, केवल वे ही सनातन परम सत्य स्वरूप हैं – श्रीजी स्वरूप हैं व मेरी आत्मा में अखंड विराजमान हैं – ऐसी मान्यता, भावना प्रगटभाव से दृढ़ हो जाए और जैसे मछली का जीवन जल है, वैसे ही सच्चे संत ही मेरे जीवनप्राण, सर्वस्व हैं – ऐसा अंतर में माना जाए और उसी के मुताबिक़ क्रिया करने लगें, तो ही जड़ता संपूर्णरूप से टल गई गिना जाए। वच. मध्य 63 के अनुसार असाधारण सेवा या वच. वड़ताल 11 के अनुसार असाधारण प्रीति या प्रगट स्वरूप का अखंड ध्यान-भजन करने से ऐसी आध्यात्मिक जड़ता तत्काल निर्मूल हो जाती है और जीतेजी ही अखंड चेतना, दिव्यता और प्रभुता का ही क़ैफ और अलमस्ती का अनुभव होता है – यह अनुभव प्रत्येक को कर लेना चाहिए।

–मई, 1958

41

तत्त्वज्ञान, कल्याण के साधन और सत्पुरुष

श्रीजी महाराज ने सत्संग में अनेक बातों का प्रवर्तन किया है, उनमें से सुहृद्‌भाव को जीव का जीवन बता कर, प्रत्यक्ष सत्पुरुष द्वारा उसे सिद्ध करने पर विशेष ज़ोर दिया है। परंतु, अनादि काल से व्यावहारिक बुद्धि के पाश एकदम जा नहीं पाते। इसीलिए कुछ लोगों को तत्त्वज्ञान, तो कुछ को विभिन्न प्रकार के साधनों, तो किसी एक को सत्पुरुष के संग का अनुपम मूल्य समझ आता है। फलतः समझ-समझ में फ़रक़ पड़ जाता है और एकांतिकभाव प्राप्त करने में 'मुक्त की माया' बाधक बनती है।

तत्त्वज्ञानी सेवा से वंचित रहता है, सो वह कसनी सह नहीं पाता और अपनी अपेक्षा बड़ों या गुणी के पास झुक नहीं सकता, स्तब्ध-सा रहता है और देखादेखी यदि सेवा करता भी है, तो भी वह सेवा अंतर से, महिमा समझ कर निर्मानीभाव से नहीं कर पाता। ऐसी सेवा भले ही करोड़ गुणा क्यों न की हो, महाराज उसे कोई मूल्य नहीं देते। हाँ, केवल संस्कार पड़ते हैं, पर स्वभाव नहीं टलते। इसलिए वड़वानल अग्नि के समान सच्चे संत का दिव्यभाव से सर्वोपरि निश्चय जीव में दृढ़ करके, समग्र सत्संग को दिव्य मान कर श्रीजी महाराज की मूर्ति को आत्मसात् करना। तो, अक्षरधाम का सुख जीतेजी ही प्राप्त होगा और अन्यों को भी उसका लाभ मिलेगा।

साधन का आधार लेने वाले साधक को, साधन का अभिमान अधिक होने के कारण, आत्यंतिक कल्याण की साधना–परब्रह्म के परम तत्त्व में ही अखंड निमग्न रह कर, स्वामी सेवकभाव से सेवा करनी व जीतेजी ही परमपद को पाने का एहसास होना–यह सिद्ध नहीं होता। तप, त्याग, व्रत, दान, यज्ञ, ध्यान, भजन, अष्टांगयोग इत्यादि साधनों के फलस्वरूप ही सत्संग अर्थात् ये सत्पुरुष की प्राप्ति हुई है; अतः सभी साधनों का पुरुषार्थ छोड़ कर, सत्पुरुष जैसा कहें वैसा ही करना चाहिए, उनकी ही मरज़ी में बरतना चाहिए। महाराज ने वच. प्रथम 60, वड़ताल 5, 11, 10, 19, अत्यं 2, मध्य 54, 7 इत्यादि में स्पष्ट बताया है कि उनसे ही 'एकांतिक धर्म' सिद्ध कर सकेंगे।

हमारा सद्भाग्य है कि सर्वगुण संपन्न संतवर्य प.पू. योगीजी महाराज मिले हैं, जिन्होंने हमें बताया है कि साधन सुषुप्ति में विलीन हो जाते हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए, अब उनकी निर्दोषभाव से महिमा समझ कर, संबंध पहचान कर, उनकी मरज़ी के अनुसार वर्तते हुए भजन करना चाहिए, ताकि जीतेजी जीव ब्रह्मरूप होकर, परब्रह्म के स्वरूप में जुड़ जाएगा और मुक्तदशा का अनुभव कर सकेंगे। सो, समझदारी युक्त जाग्रत भक्ति सभी को बढ़ानी चाहिए – यही प्रार्थना है।

–जून, 1958

42

पुराने-नए, नए-पुराने और बड़े-छोटे, छोटे-बड़े

जगत की दृष्टि से और आध्यात्मिक दृष्टि से पुराने-नए तथा बड़े-छोटे की व्याख्या अलग-अलग प्रकार से मानी जाती है। अनादि काल से विचारों का द्वंद्व चलता आया है। सूक्ष्म दृष्टि वाले श्रेयार्थी ही स्वरूपनिष्ठा के महान उपासकों को समझ सकते हैं। गृही या त्यागी, उनकी बाह्य क्रियाओं की ओर न देखते हुए, उनके समग्र जीवन को सूक्ष्मता से निहार कर, मूलभूत सिद्धांतों के आधार पर अनुभव करके, उनके जीवनकार्य को परख कर, बड़प्पन की - महत्ता की व्याख्या करते हैं और उसी के अनुसार रुचि रखने वाले मुक्त एकत्र होकर सच्चा सत्संग करते रहते हैं। स्वामिनारायण संप्रदाय में श्री पर्वतभाई ऐसा उदाहरण हैं, जिन्हें सभा में सबसे पीछे बैठने के बावजूद भी श्रीजी महाराज ने, सबसे बड़ा हरिभक्त कह कर नवाज़ा, जबकि आगे बैठने वालों को या व्यावहारिक दृष्टि से प्रतिष्ठित और उम्र से बड़ों अथवा पुरानों को छोटा या नया ही बताया। इसलिए पुराने-नए या नए-पुराने या बड़े-छोटे या छोटे-बड़े का मापदंड बाह्यदृष्टि से नहीं किया जाना चाहिए। स्वयं उनके साथ रह कर, उनकी जीवनशैली, नित्य प्रति की कार्यप्रणाली को परख कर निर्णय करना चाहिए और प्रगट संतवर्य गुरु की आज्ञा से उनका समागम करना चाहिए, ताकि जीव का आध्यात्मिक विकास हो।

कई पुराने अर्थात् उम्र में बड़े व बाह्यदृष्टि से सत्संग में से जुड़े जीवों की अपेक्षा नए, कम उम्र के युवक आज प्रगट सत्पुरुष को पहचान कर, शुद्ध उपासना दृढ़ करके समागम करते हैं और निष्ठापूर्वक उनकी आज्ञा में वर्तते हैं। वे सच में नए होने के बावजूद भी पुराने ही हैं; वे तो महाराज के समय की योगभ्रष्ट आत्माएं हैं, जो पूर्व जन्म की अपनी कसर टालने के लिए ऐसे साधु का जोग करके तीव्रता से सत्संग करने में लगी हुई हैं। इस दृष्टि से छोटे, लेकिन अनादि मुक्तराज पर्वतभाई की भाँति भले ही वे सभा में पीछे बैठते हैं, लेकिन बड़े ही हैं और उनका सच्चा बड़प्पन एकांतिक धर्म के पालन में, संत

की ही आज्ञा व मरज़ी में निरंतर वर्तने से है। निर्दोषबुद्धि से सत्संग करने का उनमें जो भाव है, वही उनका बड़प्पन है। उससे सत्पुरुष की कृपादृष्टि होगी; तभी अनुग्रह से, उनकी सभी पुरानी विकारी वृत्तियाँ निर्मूल हो पाएंगी।

श्रीजी महाराज भी बार-बार कहते–अहोहो ! इन छोटे लड़कों को देखता हूँ, तो ऐसा प्रतीत होता है मानो वे बड़े-बड़े ऋषियों और अवतारों से अधिक सामर्थ्यशाली हैं। पूर्व के महान संस्कारों के कारण उन्हें यह जोग, अक्षरधाम की ये बातें, यह दर्शन, यह लाभ और समागम सरलता से प्राप्त हुआ है। प्रकृति-पुरुष के भीतर के सभी धामों और उन धामों के मुक्तों को भी जो प्राप्ति नहीं हुई, वह प्राप्ति इन सभाजनों एवं हरिभक्तों को सहजता से हुई है, इसीलिए वे सर्वोपरि भगवान के दर्शन, बातें और समागम का लाभ ले सकते हैं। सो, बिना साधन किए आत्यंतिक कल्याण उन्हें सुलभ हो गया है।

कोटि तप, कोटि दान, कोटि यज्ञ, कोटि ध्यान, कोटि जप करके भी जो जोग नहीं मिल पाता, वह महाराज एवं इस गुणातीत साधु या उन्हें अखंड धारण करके स्वामिश्रीजी को आत्मसात् किए, वड़वानल अग्नि सरीखे परम एकांतिक सत्पुरुष के संबंध व करुणा से प्राप्त हो गया है, जिससे आत्यंतिक मुक्ति की प्राप्ति हो रही है। अपूर्णता एवं कल्पना टल गई है और जीतेजी ही अक्षरधाम की प्राप्ति की प्रतीति हो गई है एवं उसका निर्गुण सुख भी प्राप्त हुआ है।

अतः श्रेयार्थी मुमुक्षुओं को सच्चा बड़प्पन प्राप्त करने के लिए ऐसे गुणातीत स्वरूप परम पूज्य योगीजी महाराज के समागम में रह कर प्रयास करना चाहिए, ताकि एकांतिकभाव दृढ़ हो जाए और समग्र सत्संग के प्रति अखंड दिव्यभाव ही रहे। गुणातीत गुरु का समागम करके पू. भगतजी महाराज तथा पू. जागास्वामी ने ऐसा सच्चा बड़प्पन प्राप्त किया था और उन्होंने अनेक जीवों को माया से परे करके, ब्रह्मरूप करके, भगवान में जोड़ दिया था व इस लोक व परलोक का सुख प्रदान किया था। वे सच में बड़े थे।

जनलोक, तपलोक, सूर्यलोक, चंद्रलोक, स्वर्ग, वैकुंठ, गोलोक, बद्रिकाश्रम, श्वेतद्वीप या अन्य अनंत भूमिकाओं तथा धामों को तत्त्व से परखेंगे, तो स्पष्ट हो जाएगा कि वहाँ केवल एक ही विशिष्ट तत्त्व प्रधान होता है और लिंगदेह की वासना नष्ट नहीं होती। शास्त्रों के दृष्टांतों से स्पष्ट है कि कालांतर में वृत्तियों का अनुलोम होने लगता है और बड़े-बड़े मुक्तों में भी तमोगुणी क्रियाएँ व माया प्रवेश कर जाती हैं। केवल एकांतिक के पास या अक्षरधाम में संकल्परहित, आत्मसत्ता रूप से, ब्रह्मरूप से, चैतन्यभाव से भजन

करने की रीति है। सूक्ष्मभाव से वासनामय लिंगदेह जो कि आसक्तिरूप में, संकल्प उठने की क्रिया रूप में अन्य धामों में दिखाई देती है, वह यहाँ पूर्णतः विलीन हो चुकी होती है और भागवती तनु से, ब्रह्ममय तनु से आत्मसत्ता रूप से परमतत्व पूर्ण पुरुषोत्तम नारायण में दृढ़ता से जुड़ जाते हैं एवं गुणातीत स्वरूप में महाराज को अखंड धारण करके, समग्र सत्संग को दिव्य मान कर, स्वामी सेवकभाव से श्रीजी महाराज की मरज़ी के अनुसार सेवा किया करते हैं।

वच. लोया 12 या प्रथम 51 के अनुसार,ऐसे मुक्त स्वयं का पूर्णरूपेण रूपांतरण पाकर, अति उत्तम निर्विकल्प निश्चय से प्रत्यक्ष स्वरूप में जुड़ कर, अन्यों को भी निर्विकल्पभाव से भगवान में जोड़ने के लिए विचरण करते होते हैं। सर्वोपरि निश्चय और निर्दोषभाव से प्रत्यक्ष स्वरूप की आज्ञा का पालन करने वाला ही पुराना है और सच में बड़ा है। अतः उनका समागम कर लेना।

ऐसा बड़प्पन पू. स्वामिजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) प्रदान करें, जिससे सयानापन या भोलापन बाधारूप न बने और गृहस्थी-त्यागी– सभी को स्वरूप में जुड़ना सुलभ हो जाए – यही अभ्यर्थना !

–जुलाई, 1958

43

श्रीजी महाराज द्वारा परमहंसों से की गई अति रहस्य की बात

कल्याण के सभी साधनों में से केवल एक ही साधन को महत्ता देते हुए, श्रीजी महाराज ने अनंत मुमुक्षुओं के लिए एकांतिक धर्म खुला कर दिया है। वह साधन है–समझदारीपूर्ण अनन्य आसरा करना। शास्त्रों में कई जगह उल्लेख है कि अनंत काल से जीवात्माएँ कल्याण प्राप्त करने के लिए अलग-अलग मार्ग ढूँढती रही हैं और साधन एवं यौगिक क्रियाएँ करती रही हैं और जीवसत्ता, ब्रह्मसत्ता और परब्रह्म सत्ता की पहचान होते-होते, उपासना के बल से ही परमपद को प्राप्त किया। लेकिन, महाराज ने बड़े-बड़े सिद्ध संतों को 'भक्त चिंतामणि' के प्रकरण 64, 7, 1-76 और 101 तथा 164 में जो एक अतिशय रहस्य की एकांत की बात बताई है, वह सभी के लिए मननीय है। परिपक्व निष्ठा कर लेने के लिए, भगवान को सदा साकार, दिव्य, सर्वोपरि तथा दृढ़ता से प्रगट मान कर, प्रत्यक्ष दिव्य स्वरूप में ही जुड़ जाने के लिए, श्रीजी महाराज ने अनंत बातें, विचरण, पर्यटन तथा उत्सव करके, कई तरीके बदले हैं। फलतः इंद्रियों के आहार प्रभुमय बन कर, प्रगट (सत्पुरुष) के योग से ही मन अमन होकर, दृढ़ निर्णय, मान्यताओं में बिल्कुल बदलाव लाकर, सभी को एकांतिक बना दिया है। यह बात हमें भी अपने जीव में उतार लेनी चाहिए, क्योंकि तभी आत्यंतिक कल्याण या आख़िरी जन्म हो पाएगा।

सभी के लिए एकांतिक धर्म सुलभ कराने हेतु, महाराज ने बड़े-बड़े परमहंसों को गाँव-गाँव भेजा। अति उत्तम निर्विकल्प निश्चय कराने के लिए, इन परमहंसों ने वच. लोया 12, मध्य 30 इत्यादि के मुताबिक़, ब्रह्मरूप होकर भगवान में जुड़ जाने की अति रहस्य की स्पष्ट सैद्धांतिक बातें की, जो कुछ ही लोग समझ पाए; अन्यों को महाराज ने अपने बल से मूल अक्षरब्रह्म द्वारा रहस्य की यह परम कल्याण की बात सिद्ध करवाई। मुक्तानंदस्वामी, व्यापकानंदस्वामी जैसों के दर्शनमात्र से मुमुक्षुओं का कल्याण कह दिया! लेकिन, इन परमहंसों को आख़िरी जन्म सिद्ध करने के लिए आत्मारूप-

ब्रह्मरूप वर्तने पर महाराज ने ज़ोर दिया। भक्त चिंतामणि के प्रकरण 71 की बात –'मानो चैतन्यरूप तुम्हारा, मैं आत्मा हूँ, नहीं देह' – सभी तुरंत नहीं समझ सके थे। वच. गढडा मध्य 62 में महाराज ने कहा है – जब तीन अंग सिद्ध करेंगे, तभी अति उत्तम निर्विकल्प निश्चय दृढ़ होगा। मुक्तानंदस्वामी के लिए यह बात प्रगट स्वरूप का सर्वोपरिभाव से निश्चय करा कर समझा दी और भक्त चिंतामणि के प्रकरण 64, 68 और 164 में उल्लेखित प्रगट स्वरूप की ही महत्ता बता दी। जीवात्मा अपने आप तीन देह से परे हो ही नहीं सकती, क्योंकि महाकारण के अव्यक्त भाव या रमणीय विषय और शुभ संकल्परूपी साम्यावस्था रूप महामाया, बड़े-बड़े परमहंसों को भी भगवान की मूर्ति को भूला कर, घटिया सोच की ओर इस हद्द तक धकेल देती है कि वे त्यागाश्रम तक छोड़ने को भी तैयार हो जाते हैं।

इसका मूल कारण यह है कि जब तक जीव को ब्रह्म के साकार स्वरूप का निरंतर संग नहीं मिलता, तब तक उसमें ब्रह्म के गुण आएंगे ही नहीं और वच. लोया 7 के मुताबिक़ ब्रह्मरूप हुए बिना, आत्मारूप ही वर्ते बिना किसी भी मुक्त का श्रीजी महाराज की सेवा में रहना संभव ही नहीं और इसीलिए परमपद की प्राप्ति नहीं हो सकती।

अतः 'मानो चैतन्यरूप तुम्हारा' –यह बात मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामी ने चरितार्थ करके स्वामीसेवक भाव से वर्त कर गुणबुद्धि वाले भक्तों को दृढ़ कराई और उन्हें जीतेजी ही 'पिल्लु से भ्रमरी' बनाया। शिक्षापत्री के श्लोक 116 के अनुसार उन्होंने भक्तों को सर्वोपरि उपासना और आत्मारूप से वर्तन करने के लिए आज्ञारूपी दो पंख दिए और उनके लिए अर्चिमार्ग खोल दिया। इस प्रकार भगवान या उन्हें अखंड रखे अर्थात् ब्रह्मस्वरूप होकर महाराज में ही जुड़े, वड़वानल अग्नि सरीखे परम भागवत प्रत्यक्ष संतवर्य द्वारा ही चैतन्यरूप से वर्तने का सनातन कल्याणकारी मार्ग – अति रहस्य व एकांत की बात महाराज ने अपने प्रति लगाव वाले एवं विश्वसनीयों को समझा दी। वच. गढडा प्रथम 40, 24 में उल्लेख है कि शुभ संकल्प भी प्रकृति-पुरुष के भीतर की भूमिका ही हैं और वच. गढडा मध्य 30 में केवल सनातन शुद्ध चैतन्यब्रह्म को ही सत्य बता कर, परब्रह्म में जुड़ जाने की सैद्धांतिक आज्ञा की व इसी एकांतिक धर्म को दृढ़ कराने हेतु ही, अतिशय करुणा करके, अवतारी के रूप में महाराज का प्राकट्य था, यह साबित किया। आज भी परम भागवत निर्वासनिक संत द्वारा यही गुरु परंपरा जारी ही

रखी है। वचनामृत वड़ताल 5, 10, 11 और 19 तथा अंत्य. 26 तथा प्रथम 27 में महाराज ने ऐसे प्रत्यक्ष ब्रह्मस्वरूप संत का समागम करके, ब्रह्म का गुण प्राप्त करने पर स्पष्ट रूप से ज़ोर दिया है। इन्हें पढ़ कर सभी सत्संगीबंधुओं को मनन करके, समझ लेना चाहिए।

सद्भाग्य से हमें ऐसे संतवर्य प.पू. योगीजी महाराज की पहचान हुई है, जो गाँव-गाँव विचरण करके, किस प्रकार जीव ब्रह्म के गुण सरलता से प्राप्त कर सकता है, इसी रहस्य की बात दृढ़ करवा रहे हैं। इसी में उनकी रुचि है और यही उन्हें पसंद है। तो, उनकी आज्ञानुसार खूब वर्त कर, मनमुखी सभी संकल्प छोड़ कर, आत्मारूप वर्तने की अब सभी को आदत डालनी है। इस हेतु मंडलों की सत्संग सभाएँ होती हैं। महाराज ने वचनामृत मध्य 51 में सत्पुरुष की आज्ञा से वर्तने को ही हम आत्मसत्ता रूप रहे हैं – ऐसा गिनाया है। अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामी ने अपनी बातों में कहा है कि ऐसे साधु के समागम से कुछ नहीं तो, स्वरूपानंदस्वामी जैसा तो ज़रूर बना देंगे।

ऐसे ही साधु प्रत्यक्ष मिले हैं, सो अखंड दिव्यभाव रख कर, निर्दोषभाव से सत्संग की सेवा करते हुए गुरुमुखी क्रियाएँ ही करनी चाहिए। सभी के अंतर में तो ऐसा भाव रहता है कि संत राज़ी हों ऐसी क्रिया करनी है ही, परंतु भीतर में दृढ़ हुए पुराने संकल्पों और मान्यताओं के शिकंजे में रहते, अति रहस्य की यह बात फासले पर ही रहती है और भगवान का धाम भी दूर लगता है। अतः प्रत्यक्ष स्वरूप के प्रति दिव्यभाव का निश्चय दृढ़ करके, सभी को परमपद प्राप्त कर लेना चाहिए।

–अगस्त, 1958

44

सचमुच बुद्धिशाली

भगवान ने जीवों के कल्याण हेतु ही इंद्रियों, अंतःकरण एवं जीवसत्ता के कार्यों का सर्जन किया है। केवल बुद्धितत्त्व स्वभावतः तो जड़ है। लेकिन आत्मा व परमात्मा जैसे चैतन्य स्वरूपों के संबंध से ही वह जड़बुद्धि चैतन्यबुद्धि बनती है, दिव्य रूपांतर को पाकर ब्रह्मदृष्टि की तालीम लेती है ! अक्षर व पुरुषोत्तम, आत्मा व परमात्मा, ब्रह्म व परब्रह्म, भक्त व भगवान के सनातन दिव्य स्वरूप का मूल ज्ञान से ही जीव, जगत में रहते हुए भी, ब्रह्मरूप होकर, निर्गुण ही कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग करता रहता है।

भगवान या उनके अवतार या वचनामृत गढडा प्रथम 27 के अनुसार जिस काल में जो परम भागवत संतवर्य में महाराज अखंड निवास करते हैं, उन्हें राज़ी करने के लिए, केवल सनातन तत्त्वों के ज्ञान से जो जाग्रतता दृढ़ हुई होती है, उसी भावना के अनुसार सभी पुरुषार्थ किए जाते हैं और जिस प्रकार वे (संत) राज़ी हों, वे ही उपाय ढूँढ़ते रहते हैं। साथ ही उनकी आज्ञा में निरंतर वर्तते हुए, कैसे भी प्रसंग पर-दूसरों के आकार, दोष या क्रियाओं की ओर दृष्टि उसकी जाए ही नहीं, ऐसी दिव्यभावना भगवान की सर्वोपरि सत्ता को ही मान कर दृढ़ करता रहता है। यही सच्चा सत्संग है और यही संत-समागम का सच्चा फल प्राप्त करा कहा जाए, जिससे ब्रह्म के गुण जीव में आते हैं और जीतेजी ही सर्वोपरि परब्रह्म में जुड़ना आ जाता है।

हमें प.पू. योगीजी महाराज के रूप में ऐसे ही परम भागवत संत मिले हैं। सच्ची तत्त्वनिष्ठा, ब्रह्म और परब्रह्म के तत्त्व की सच्ची समझ उसी ने करी माना जाएगा, जो सोच-समझ कर ऐसे प्रत्यक्ष सत्पुरुष के प्रति दिव्यबुद्धि दृढ़ करते हुए, समग्र सत्संग के प्रति श्रीजी के अपरंपार माहात्म्य व उनकी सर्वोपरि सत्ता के लक्षणों को समझ कर, अपना ही दोष दूर करने का प्रयास करता रहेगा।

बाह्य जगत की अपेक्षा प्रकृति-पुरुष तक का आंतरिक जगत हमें अधिक बाधारूप होता है। केवल ऐसे परम भागवत संत के असाधारण समागम एवं सेवा द्वारा ही वह जीतेजी नष्ट होता है, जिससे धाम के दिव्य सुख का अनुभव होकर, अखंड प्राप्ति होने लगती है।

बुद्धिमान के लिए एकांतिकभाव का यह सारा बड़प्पन सच में सुगम कर दिया है और सच्चा बुद्धिशाली उसी को कहा जाए, जिसे सत्संग में प्रतीति हुई हो, विश्वास आया हो और जो दूसरों के दोष, क्रिया को कभी भी न देख कर, अखंड अंतर्दृष्टि करते हुए, सत्पुरुष जैसे राज़ी हों वे उपाय करता रहे। फलस्वरूप, बड़े संत की दृष्टि उस पर पड़ने से उसके विकार तत्काल दूर हो जाएं और वह जीतेजी ही दिव्य मूर्ति का निर्गुण सुख प्राप्त करने लगे।

इसलिए श्रीजी महाराज ने दिवानजी को मूर्ख एवं नाथाभक्त को बुद्धिशाली बताया है। इसी प्रकार जिसे अपने ही दोष दिखाई देते हों, उन दोषों को दूर करने के ही संकल्प उठते हों, सत्पुरुष से बल प्राप्त करके, उनकी मरज़ी के अनुसार ही वर्तने का दृढ़ निर्णय करके जीतेजी ही अति उत्तम निर्विकल्प दृढ़ कर ले – यही उसके जन्म लेने का प्रयोजन होता है।

प्रत्यक्ष संतवर्य प.पू. योगीजी महाराज की निश्रा में आकर समागम करके यह दृढ़ कर लेने की विनती है।

–सितंबर, 1958

45

मन का अमन व संकल्प के स्वरूप

प्राण और चेतना के मिश्रित रूप जीवात्मा के स्वरूप से शास्त्रों द्वारा सभी अवगत हैं, परंतु अनादि काल से जीव सत्ता के अधीन, मूल प्रकृति पर आधारित, अज्ञानमय, अविद्यामय अव्यक्त भाव, आदत, मान्यताएँ और अच्छे-बुरे पंचविषयों से चिपकने के भाव, सच्चे सत्पुरुष के संग के बिना, पहचाने नहीं जाते और शुद्ध ब्रह्मज्ञान भी प्राप्त नहीं हो सकता। गीता, भागवत, उपनिषदों एवं श्रीजी महाराज के वचनामृत और अन्य ग्रंथ बार-बार इस तथ्य को मर्म में समझाते हैं।

विभिन्न धर्म, संप्रदाय अथवा आश्रम और उसके महंत अथवा गुरु भी इस मूल प्रकृति की पहचान देकर, अंतःकरण को शुद्ध करवा कर, समग्र वासनाओं का क्षय करके, चेतना को परमचेतना के दिव्य स्वरूप – भगवान से जोड़ने की बात करते हैं, इस लक्ष्य को प्राप्त करने का मार्ग बताते हैं, उपाय सुझाते हैं और भजन करने के तरीके बताते हैं। इन तत्त्वज्ञान व तप, त्याग-वैराग्य, यज्ञ, व्रत, अष्टांगयोग, श्रद्धा, तितिक्षा जैसे कल्याण के विभिन्न साधनों के विषय में स्पष्ट रूप से सभी जानते तो हैं और अपने-अपने ढंग से प्रयत्न भी करते हैं। फिर भी, सरलता से मन का अमन नहीं होता और संगत या परिस्थिति बदलने पर संकल्प-विकल्प, विकारी तत्त्व साधक को अपनी कक्षा से नीचे गिरा देते हैं तथा वृत्तियों को कामना, अहंकार तथा जगत प्रधान प्रवृत्ति में प्रवृत्त करके, भगवान के चरणकमल का सेवन करने की निष्काम भक्ति को भुला देते हैं। ऋषि-मुनियों ने ऐसे ही प्रयत्न आरंभ किए थे; इस हेतु जंगल में जाकर रहे और प्राण तथा प्रकृति को तब अपने वश में भी रखा था। परंतु, हालात, क्रिया तथा संग की प्रबलता से च्यवन, पराशर, एकलश्रृंगी इत्यादि ऋषियों की वृत्तियों के समस्त निरोध तक उड़ गए और वे बड़ी-बड़ी संसारी प्रवृत्तियों में उलझ कर, ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के मार्ग को भूल गए थे। यूं, सभी मन का अमन करने की ज़रूरत को जानने के बावजूद भी, सरल मार्ग जो किसी के लिए सुगम नहीं बना, वह श्रीजी ने कृपा करके, भगवान या उन्हें प्रकटाए साक्षात् सत्पुरुष के द्वारा सदैव के लिए सरल बना दिया। हम अपनी साधना से निर्वासनिक नहीं हो सकते; यह केवल सत्पुरुष की कृपा से ही संभव है। श्रीजी ने हम पर

सद्भाग्य से यही महान कृपा की है कि ऐसे प.पू. योगीजी महाराज की संगत द्वारा एकांतिक के वचन से वचनामृच गढडा प्रथम 60, वड़ताल 11, गढडा मध्य 51 के मुताबिक़ ब्रह्मरूप होने का मार्ग हमारे लिए खोल दिया।

दिव्य स्वरूप की ऐसी बड़ी प्राप्ति और उनके संग से निर्वासनिकभाव सरलता से सिद्ध कर लेने का मौका मिलने के बावजूद भी हम में गफ़लत रहती है, ऐसे संत के प्रति मनुष्यभाव आता है, उनकी क्रियाओं, विचरण में चौधराहट करने का मन होता है, यही हमारी अतिशय बड़ी कमी है। हर कोई ऐसा मान लेता है कि हम तो संत को राज़ी करने के लिए, सत्संग के विकास के लिए, संस्था की ख़ातिर यह प्रवृत्ति या सेवा कर रहे हैं, परंतु सूक्ष्म में तो हम अपनी निजी मान्यताओं, अपने अस्तित्व से उत्पन्न अंहप्रेरित संकल्पों एवं अव्यक्त छुपी भावनाओं का ही पोषण कर रहे होते हैं और वे भाव संतुष्ट होने पर आनंद महसूस करते हैं।

संतवर्य योगीजी महाराज तो हमारे ऐसे संकल्पों को पूर्ण करते हैं और भक्तों को खुश रखते हैं, लेकिन इससे हमारा आंतरिक जगत नहीं झड़ता और मन अमन होकर निर्दोषबुद्धि दृढ़ नहीं कर पाता। इसीलिए ब्रह्म का गुण जीव में आता नहीं। अतः, ऐसे संत की सभी क्रियाओं में दिव्यभाव रख कर, उन्हें तनिक भी विवश किए बिना, उनके पास मन की ज़रा भी हठ या इच्छा का आग्रह रखे बिना, उनकी ही मरज़ी के मुताबिक़ अपने आपको मोड़ कर, उन्हीं की आज्ञा में सतत वर्तेंगे, तो जीव सरलता से ब्रह्मरूप होकर जीतेजी भगवान में जुड़ कर, निर्गुण सुख प्राप्त कर सकेगा।

सो, हमारे संकल्पों के निम्न चार स्वरूपों को पहचान कर, केवल शुभ और सत्य संकल्पों के अनुसार वर्तन करने का प्रयत्न करें, जिससे अंतर में दिव्यानंद प्रगटेगा और विकारी भावनाएँ दूर होने पर ब्रह्मस्थिति प्राप्त होगी। प्रथम दृष्टि से –

(1) प्रारंभ में तो जगत के ही संकल्प उठने लगते हैं, पर फिर संत का समागम करते-करते

(2) जगत प्रधान सत्संग, मंदिर, महत् प्रवृत्तियों के सांस्कारिक सत्त्वगुणात्मक संकल्प प्रधान बन जाते हैं।

यूँ संत के समागम व सत्संग की कसनी सहते गुणग्राही बनने पर वचनामृत गढडा प्रथम 40 के अनुसार केवल शुभ संकल्प –

(3) आत्मा-परमात्मा का ज्ञान सिद्ध करना, तप करना व निर्वासनिक होने का

उठता है और अंत में

(4) वचनामृत लोया 12 के अनुसार ब्रह्म के साधर्म्य को पाकर अति उत्तम निर्विकल्प निश्चय दृढ़ करने के होते हैं; अर्थात् प्रत्यक्ष सत्पुरुष ही मेरी आत्मा है, वचनामृत गढडा मध्य 30 के अनुसार, प्रत्यक्ष सत्पुरुष ही सत्य संकल्प हैं और उनकी ही मरज़ी के अनुसार, उनकी ही आज्ञा के मुताबिक़ जीवन बिताने का दृढ़ निर्णय होता है, जिससे जीव ब्रह्मरूप होकर, उनकी कृपा व दृष्टि द्वारा, परब्रह्म के स्वरूप में वह मुक्त जीतेजी ही जुड़ सकता है और भगवान के सुख का अनुभव अखंड प्राप्त करता है।

ज्ञानसमाधि के रूप में महाराज की दिव्यमूर्ति, उसकी आत्मा में अखंड ही रह कर, अखंड आनंद और परम कल्याण की प्रतीति करवा देती है।

सभी ऐसी कृपा के अधिकारी बनें यही प्रार्थना है।

–अक्तुबर, 1958

46

प्रगटपन का भाव और बुद्धि की जड़ता

जीवसत्ता एवं ईश्वरसत्ता पर चलती आ रही प्रणालिकाएँ और दृढ़ हो चुकी मान्यताएँ तथा परोक्षभाव की पूजा, सेवा, भजन, कीर्तन और व्यावहारिक क्रियाएँ, प्रकृति-पुरुष तक के महान क्षेत्र में प्रत्येक जीव के ज्ञान, अनुभव और उस पर आधारित कर्मयोग पर चलती रहती हैं। अनादि काल से ऐसी जड़ प्रकृति वाली क्रियाएँ, प्रगट भगवान या उनसे मिले साक्षात् भगवत्स्वरूप संत के पास भी सब अपनी-अपनी दृढ़ हो चुकी ग्रंथियों में रहकर यदि चला करें, उनमें बदलाव नहीं ला सकते या ऐसा सच्चा प्रयत्न करके प्रगट स्वरूप को पहचान कर, अंतर्दृष्टि करके निष्कपटभाव से वर्तने का प्रयास नहीं किया जाता, तो– प्रगटपन के भाव को पहचाना ही नहीं; ऐसा स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है। श्रीजी महाराज ऐसे प्रगट स्वरूपों को पांच सौ परमहंसों के रूप में 'साक्षात् दिव्य शक्तियाँ' सहित लाए और खूब विचरण करके, अनेक प्रसंगों को योजित करके, उत्सवों, पारायणों का आयोजन करवा कर, लाखों मुमुक्षुओं को प्रगट दिव्य स्वरूपों का महायोग करवा दिया। फिर भी, केवल बुद्धि की जड़ता के कारण उन स्वरूपों से शुद्धभाव से जुड़ने में कसर रह गई, जिसके परिणामस्वरूप दिव्य स्वरूपों के सान्निध्य में रहने और अनेक चमत्कारों–शक्तियों का अनुभव होने के बावजूद हठ, मान, ईर्ष्या और कपट जीवन के अंत तक रह गए; जिसका दर्शन अंतर्दृष्टि करने पर सभी को होगा। बुद्धि की जड़ता के कारण ही ऐसी मायिकभाव की दृष्टि टलती नहीं और प्रत्यक्ष संत के समागम का दिव्य सुख अनुभव नहीं कर पाते।

श्रीजी महाराज ने कई प्रकरण बदले और जहाँ बुद्धि तत्त्व काम करना बंद कर देती, जहाँ कोई मार्ग दिखाई नहीं देता और कोई उपाय भी नहीं सूझता, ऐसे प्रसंगों में कठिन से कठिन कार्य चुटकी में सरलता से करके दिखाए, प्रतीतियाँ कराईं; फिर भी प्रत्यक्ष दिव्य स्वरूपों के प्रति का मायिकभाव पूर्ण रूप से टल नहीं सका। इसीलिए महाराज ने संत समागम पर विशेष बल देकर 'ब्रह्म' के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान सुलभ बनाया और

(वड़ताल 5, 3, 11, अंत्य. 2 के मुताबिक़) प्रत्यक्ष संत के असाधारण प्रसंग द्वारा एकांतिक धर्म की प्राप्ति का मार्ग सभी के लिए सुगम व सुलभ बनाया। हमारे सद्भाग्य से भगवत्स्वरूप संतवर्य प.पू. योगीजी महाराज की पहचान हुई है। अतः अब प्रत्येक (जीव) को यही उद्यम करना है कि अक्षरधाम का निर्गुण सुख प्राप्त कर ले। और, यही प्रयत्न करना है कि आत्यंतिक कल्याण के दाता ऐसे संत में अखंड दिव्यभाव दृढ़ रहे; जिससे जीव ब्रह्मरूप होकर स्वामिश्रीजी के स्वरूप में जीतेजी जुड़ सके और भगवान का दिव्य सुख सरलता से प्राप्त कर सके। हमने ऐसे संत की महिमा, उनके अनेक दिव्य मंगलकारी गुण, चरित्र, करिश्मे और भावनाओं को देखा है तथा जहाँ बुद्धि काम ही न कर सके, मन उद्विग्न हो जाए, वहां उनके सान्निध्य में केवल दृष्टिमात्र से ही अनेक कठिन कार्य हल होते देखे हैं। सो अब अति उत्तम मुक्त दशा प्राप्त कर लेने का यह अनमोल अवसर है। तो, प्रत्येक क्षण इस संत की आज्ञा में रहकर सभी दृढ़ ठहराव कर लें। और, उसके मुताबिक़ वर्तने का प्रयत्न करें। तो ही प्रगट को पहचाना माना जाए और तभी कुशाग्र बुद्धिवाला गिना जाए और 'ब्रह्मज्ञान' आसानी से जीतेजी प्राप्त हो सके।

सभी को ऐसी दिव्य बुद्धि प्राप्त हो, यही नम्र प्रार्थना है।

–दिसंबर, 1958

47

अति बड़े पुरुष का अभिप्राय जानने की शर्तें

प्रगट के सभी उपासक अपनी-अपनी समझ के अनुसार भजन करते हैं और कल्याण के विभिन्न साधनों द्वारा सत्पुरुष को राज़ी करने का प्रयत्न करते हैं और उसी प्रकार से अन्यों को भी आग्रह करके सत्संग में जोड़ते हैं। ऐसे भजन, भक्ति तथा सेवा से उन्हें सात्त्विक सुख और चित्त की प्रसन्नता का भी अनुभव होता है और स्वयं मान लेते हैं कि 'उनका तो कल्याण हो चुका है और सत्संग की जो भी प्रवृत्तियाँ वे कर रहे हैं, वे ठीक हैं।'

फिर भी, कई प्रसंग पर बेचैनी, परेशानी और अंतर के विक्षेप आड़े आते हैं और कई विपरीत हालात व विपरीत माहौल से उत्पन्न परिस्थितियाँ हमें इतना निर्बल बनाती हैं कि सत्संग छोड़ देने के या अकेले रह कर ही सत्संग की क्रियाएँ करते हुए, बड़े-बड़े हरिभक्तों के अभाव-अवगुण देखने के बुरे विचार भी उठने लगते हैं।

इन सब के मूल में एक ही बात प्रमुख प्रतीत होती है कि सत्पुरुष की रुचि और अभिप्राय को जाने बिना, हम कितना ही भजन-भक्ति, सेवा या कसनी सहन कर सत्संग की क्रियाएँ करें, लेकिन एकांतिकभाव सिद्ध नहीं कर पाएंगे। हम सभी को आसरा भी अनन्य है, भगवान और प्रत्यक्ष सत्पुरुष के प्रति हमें लगाव भी है, परंतु उनके वचन में अतिशय दृढ़ विश्वास से स्वयं अंतर्दृष्टि करके, प्रत्यक्ष सत्पुरुष से निष्कपटभाव से जुड़े नहीं हैं, इसलिए अंतर में उद्वेग रहता है, अपूर्णता का अहसास होता है व कल्पना रहती है और विपरीत हालात एवं गलत संगत में, निष्ठारूपी अचल मति में भी शंका व संशय पैदा होने से, सत्संग के प्रति लापरवाही-गफ़लत आ जाती है। मन डगमगा जाने से, आपस में पर्दा रहते फ़र्क़ आने लगता है। फलस्वरूप, सूक्ष्म रूप से हठ, मान और ईर्ष्या बढ़ने लगते हैं।

इसी मर्म को दृष्टिगत करके मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामिजी ने आग्रहपूर्वक कहा है –

'हेत की निष्ठा होने के बाद ज्ञाननिष्ठा परिपक्व कर लेनी चाहिए और भगवान

मिलने के बाद सतत सावधान रह कर, ऐसे अलौकिक सत्संग में किसी भी प्रकार के हठ, मान, ईर्ष्या को स्थान नहीं देना है।'

सत्संग यानि सत्पुरुष। सच्ची ज्ञाननिष्ठा सिद्ध करने के लिए भगवान और प्रत्यक्ष संत की अतिशय महिमा समझ कर, उन्हें पाए, उनके अल्प आसरे वाले छोटे से छोटे हरिभक्त के प्रति भी दिव्यभाव रखना पड़ता है। इस हेतु मनमुखी क्रियाएँ छोड़ कर, गुरुमुखी बनना पड़ता है और अंतर के किसी कोने में यदि अव्यक्त राग या स्वभाव बाधा उत्पन्न कर रहा है, तो सत्पुरुष के सन्मुख दृष्टि रख कर, उसे ढूँढ निकालना पड़ता है। अपनी प्रकृति के दोषों का निवारण करने के लिए, अन्यों के गुणों का अवलोकन करके सत्पुरुष से गद्‌गद् कंठ से प्रार्थना करनी पड़ती है और अपने निर्णय, हठ, इच्छा या मान्यताएँ बिलकुल छोड़ कर, संत की ही मरज़ी के अनुसार वर्तने की आदत डालनी पड़ती है। तभी धाम, धामी और मुक्त की महिमा समझते, साक्षात् ज्ञान की ऐसी निष्ठा दृढ़ करते, श्रेयार्थियों के लिए अक्षरधाम का निर्गुण सुख प्रत्यक्षरूप से सुलभ होकर प्राप्त हो पाता है। जीव के ब्रह्मरूप होते भगवान उसके वश में हो जाते हैं। ऐसी अलौकिक ब्राह्मीस्थिति सत्पुरुष थोड़े ही समय में जीतेजी ही सिद्ध करवा देते हैं।

सो, जीतेजी ही सदैव के लिए दिव्यानंद प्राप्त करने के लिए, सत्पुरुष की रुचि, रहस्य और अभिप्राय को समझना पड़ता है। महाराज भी विशेष आग्रहपूर्वक सचोट रूप से कहते हैं –

'प्रेमानंदस्वामी जैसे हेत के अंग वाले को मेरी मूर्ति का सुख जो मिलता, उसकी अपेक्षा सैद्धांतिक प्रसन्नता वाले पर उनकी दिव्य मूर्ति का सुख, प्रताप और ऐश्वर्य बिल्कुल भिन्न प्रकार का ही होता है।'

और ऐसी सैद्धांतिक प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए, अति बड़े पुरुष का अभिप्राय जानना अनिवार्य है। क्योंकि वचनामृत लोया 8 के अनुसार ब्रह्मरूप हुए बिना पुरुषोत्तमनारायण की सेवा के अधिकारी हो नहीं बन सकते।

बड़े पुरुष की रुचि के अनुसार वर्तने से अधिक, उनके अंर्तनिहित अभिप्राय को जानने के लिए निम्न तीन शर्तें अनिवार्य हैं; जिन पर विचार कर, उन्हें आचरण में लाकर, जीतेजी ही सैद्धांतिक प्रसन्नता प्राप्त करके, जीव ब्रह्मरूप होकर, भगवान के स्वरूप में जुड़ जाएगा और महाराज की मूर्ति का दिव्य सुख प्राप्त कर पाएगा।

(1) **प्रत्यक्ष सत्पुरुष के प्रति अखंड दिव्यभाव की सतत सावधानी** और सभी क्रियाओं में उस स्वरूप का ही अनुसंधान और उन्हें पाए हुए व संबंध वालों के प्रति दिव्यभाव।

(2) **अत्यंत शांतिमय समता –** संसार की व सत्संग की क्रियाओं तथा प्रवृत्तियों में पल-पल सत्त्व, रज और तम के वेग तथा अहंता, ममतायुक्त भाव दिखाई देंगे। इससे भी अधिक, हमारी बुद्धि द्वारा मान्य मत भी एक-दूजे के साथ टकराते दिखेंगे। तब, सत्पुरुष के सन्मुख ही दृष्टि रख कर, मन और चित्त की स्थिरता को बनाए रख कर, बाहरी माहौल से तनिक भी विचलित हुए बिना, संपूर्ण धीरज बनाए रख कर, भगवान ने जो तय करा हो वैसा होने देना। ऐसे समय में किसी के भी गुण-दोष, अभाव आदि को मन में लाए बिना, शांतिमय समता रख कर अंतर्मुख रहना चाहिए, ताकि प्रकृति का बाह्य आविर्भाव शम जाए। तब, महाराज वही करवाएंगे, जो हमारे लिए सर्वोत्तम होगा। इस तथ्य का हमें भविष्य में ख्याल पड़ेगा और अंतर में सुख, शांति तथा आनंद का अनुभव होगा।

(3) **निष्ठा की दृढ़ता रख कर कर्तव्य-कर्म करना –** 'सर्व कर्ता-हर्ता एक भगवान ही हैं और वे जो कुछ कर रहे हैं, वह मेरे अच्छे के लिए ही है'–
यह दृढ़तापूर्वक मान कर, प्रत्यक्ष सत्पुरुष के वचन में अतिशय विश्वास रख कर, स्वधर्म युक्त कर्तव्य-कर्म करने चाहिएँ। इससे सूली का कष्ट भी काँटे की चुभन से भुगता प्रतीत होगा और प्रारब्ध कर्म भुगतने के बाद, भगवान और बड़े पुरुष की मरज़ी और अभिप्राय के अनुसार, निर्वासनिकभाव से, कर्तव्य कर्म होते जाएंगे। वचनामृत अत्यं. 18 तथा प्रथम 60 व अत्यं. 11 और मध्य 51 के अनुसार, ज्ञान-युक्त कर्मयोग होता जाएगा, जिसके प्रताप से एकांतिकभाव सिद्ध होगा और सैद्धांतिक प्रसन्नता प्राप्त होगी।

सभी श्रेयार्थी हरिभक्तों को उपरोक्त प्रकार से, धाम, धामी और मुक्तों के प्रति दिव्यभाव व शांतिमय समता और निष्ठा से युक्त कर्तव्य-कर्मों की आदत डाल कर, बड़े संत का अंर्तनिहित अभिप्राय समझ लेना चाहिए, ताकि जीतेजी ही ज्ञाननिष्ठा दृढ़ हो सके और महाराज की मूर्ति का दिव्य सुख प्राप्त हो।

सद्भाग्य से हमें ऐसे अतिशय बड़े महापुरुष प.पू. योगीजी महाराज प्राप्त हुए हैं। तो, महाराज तथा उनके इस साधु के प्रति सर्वोपरी भाव दृढ़ करके साक्षात् स्वरूप

में निर्विकल्पभाव से जुड़ने का प्रयत्न करना। फलस्वरूप, असाधारण संग से सत्पुरुष के साथ का अंतराय टल जाएगा और जीव में तादात्म्य स्थापित हो जाएगा। 'सत्पुरुष ही मेरी आत्मा है'–ऐसा माना जाएगा और भगवान अखंड मेरे साथ हैं, यूं समझ कर वर्ता जाएगा और अन्यों की आत्मा में भी भगवान विराजमान हैं, यह दिखाई देगा। स्वामी सेवकभाव से जीतेजी महात्म्यज्ञान से युक्त पराभक्ति सिद्ध हो जाएगी और परमपद की प्राप्ति होगी। नैष्कर्म्यरूप ऐसी ज्ञाननिष्ठा में कर्म, भक्ति और उपासना एकरूप हो जाते हैं तथा असाधारण प्रीति ही ज्ञान बन जाती है तथा अनन्य आसरा, हेत व विश्वास साक्षात् ज्ञान की दृढ़ता से एक हो जाते हैं।

स्वामिश्रीजी सभी को अपनी रुचि, रहस्य, अभिप्राय और सिद्धांत सरलता से समझाएँ और साक्षात् स्वरूपज्ञान दृढ़ कराएं यही नम्र प्रार्थना।

–फरवरी, 1959

48

कर्मयोग और स्वरूपज्ञान युक्त कर्मयोग

गीता का सर्वजीवहितावह महान संदेश प्रथम कक्षा में कर्मयोग के लिए है। प्रवृत्ति के इस मार्ग पर चलते हुए, भगवान के साक्षात् संबंध के प्रताप से आत्मा-परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान सहज ही उदय होने लगता है, जिससे जीवात्मा परमभक्ति का अधिकारी बनती है। शास्त्र में प्रतिपादित उसी मत को श्रीजी महाराज ने भी अपनाया है जिसे वचनामृत के अभ्यास से समझा जा सकता है।

फिर भी, कर्मयोग की ऐसी प्रवृत्ति करते हुए एवं सांसारिक क्रिया कलापों व जगत के कार्यों में जिस प्रकार अहंता-ममता युक्त पोषित शक्ति का उपयोग होता है, ठीक उसी प्रकार सत्संग के कार्यों में भी सेवा, भक्ति, जप, तप, सांख्य, दान इत्यादि साधन करने के बावजूद अंतर में अखंड आनंद, सुख और शांति होती नहीं और प्रतिपल विघ्न, विक्षेप और बेचैनी रहा करती है और जीव सत्संग से हटता जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि (भगवान के) स्वरूप का ज्ञान जैसा होना चाहिए, वैसा उसे हुआ नहीं और सत्संग करते हुए वह कुछ अव्यक्त राग या स्वभाव का पोषण साथ-साथ करता रहता है। सच्चे संत के सतत समागम से इसे समझ लेना अनिवार्य है और तभी कर्मयोग भक्तिरूप बन कर, सच्चे ज्ञान की भावना से युक्त प्रतीत होता है। इस हेतु समझदार मुमुक्षुओं को स्वरूपज्ञान से युक्त कर्मयोग करने की आदत डालना अनिवार्य है।

कर्मयोग पद्धति में भगवान को ही कर्ता मान कर, उनके चरणों में मन निमग्न रख कर, स्वधर्मयुक्त प्रवृत्ति करनी चाहिए। ऐसा करने के बावजूद भी कई जीव भगवान के चरणारविंद की अखंड स्मृति में नहीं रह पाते। सो, उन सभी को अपने-अपने स्वधर्मयुक्त क्रियाएँ करने का आदेश दिया गया है और सभी कर्म भगवान को अर्पण करके, फल-प्राप्ति के प्रति आसक्ति बिल्कुल छोड़ कर, स्थितप्रज्ञ दशा में वर्तने का आग्रह किया गया है।

इन दोनों स्थितियों में कई जीव परेशान रहते हैं। इसलिए श्रीजी महाराज ने असंख्य मुमुक्षुओं के कल्याण हेतु एकदम सरल मार्ग प्रशस्त किया है। इस मार्ग को

अपनाने के लिए प्रत्यक्ष भगवान या उन्हें आत्मसात् किए, अर्थात्– भगवान का साक्षात्कार किए वड़वानल अग्नि सरीखे अति बड़े पुरुष का समागम करना होता है। ऐसे सत्पुरुष गुणातीत होते हैं- निर्गुण मूर्ति हैं। गीता-भागवत आदि ग्रंथों में श्री कृष्ण भगवान ने उद्धवजी को तथा कपिलजी ने अपनी माता को एवं महाराज ने भक्ति माता को यही सरल, सुगम सर्वजीवहितावह मार्ग बताया है। ऐसे सत्पुरुष का समागम करते हुए जाने-अनजाने में, समझदारी या नासमझी में जो भी क्रियाएँ होती जाती हैं, **उन सभी में प्रगट भगवान का संबंध होने के कारण**, कर्मयोग का संदेश और साधन करने से भी सिद्ध न हो, उसका सहज ही अनुभव होता है। धीरे-धीरे संस्कार बदलने से जीवात्मा को ब्रह्म का साक्षात् दर्शन सुलभ होता है और परब्रह्म की सर्वोपरि उपासना दृढ़ करके, आत्यंतिक मुक्ति का अधिकारी बनता है।

ऐसे ज्ञानमार्ग में सत्पुरुष के प्रति निर्गुणभाव तो रहता है, लेकिन अखंड दिव्यभाव, निर्दोषभाव नहीं रहता; इसलिए अंतर में आए दिन विघ्न, बेचैनी, विक्षेप आते रहते हैं, परंतु वृत्तियों का शुद्धिकरण होने से अंततः अंतर्दृष्टि होती है। तत्पश्चात् बड़े पुरुष की रुचि, अभिप्राय और सिद्धांत समझा जाता है और देहासक्ति व विषय के राग नष्ट होते हैं।

हमारे सद्भाग्य से, ऐसे अति बड़े पुरुष प्रगट संतवर्य योगीजी महाराज हमें मिले हैं। उनका समागम करके जीव में उनके प्रति दिव्यभाव की दृढ़ता सिद्ध होने पर, उनकी कृपा होती है और प्रसन्नता मिलती है, जिससे सभी कर्म भक्ति रूप बनते हैं और जीव अतिशय बल प्राप्त करता है। तब, प्रत्यक्ष स्वरूप के स्वरूपज्ञान के प्रताप से अहंता, ममता और सत्त्व, रज तथा तम के वेग जीव के लिए बाधक नहीं बनते। साथ ही साथ, अव्यक्त भाव, ग्रंथियाँ, स्वभाव-प्रकृति आदि द्वारा उत्पन्न हुई बाधाएँ भी नष्ट हो जाती हैं। सद्गुणों की वृद्धि होती है। स्वरूपज्ञान से युक्त कर्मयोग ही नैष्कर्म्यरूप माना जाता है या जिसे पराभक्ति कही जाती है उस महान फल की सिद्धि जीतेजी ही प्राप्त होती है और अक्षरधाम का निर्गुण सुख भोगा जाता है।

अतः धर्म, ज्ञान, वैराग्य इत्यादि कल्याण के साधन बढ़ाने की निजी वृत्तियों को गौण करके, हम यदि अपनी सभी प्रवृत्तियाँ केवल आत्मा रूप से वर्त कर, निवृत्ति पकड़ें और प्रत्यक्ष सत्पुरुष को ही आगे रख कर, उनके सन्मुख ही दृष्टि रख कर, उनकी मरज़ी के अनुसार साधनों की वृद्धि करते जाएं, तो अल्प समय में ही अतिशय बल पाकर हमारा जीव साक्षात् स्वरूपज्ञान दृढ़ कर सकेगा। अन्यथा भगवान या प्रत्यक्ष सत्पुरुष के

बिना सभी प्रवृत्तियों-साधनों को तो शास्त्रों ने अभद्र कहा है, क्योंकि उनसे कल्याण तो नहीं होता और जीव ब्रह्मरूप नहीं हो सकता। इसलिए केवल प्रत्यक्ष स्वरूप के ज्ञान से युक्त ही अखंड स्मृति रख कर स्वधर्म युक्त कर्मयोग करते रहना। इसके फलस्वरूप संत के प्रताप से, बड़े दोषों पर विजय प्राप्त कर ली जाएगी और भगवान की मूर्ति के दिव्य सुख की जीतेजी ही अनुभूति व प्रतीति और प्राप्ति होगी।

हम यदि अपनी मान्यता, समझ और निर्णय छोड़ कर, सत्पुरुष की आज्ञा के अनुसार ही जीवन का मार्ग दृढ़ कर लें, तो इस लोक और परलोक में सदैव के लिए सुखी रह सकेंगे और अंततः आत्यंतिक मुक्ति के अधिकारी बनेंगे।

बुद्धि की जड़ता छोड़ कर, यह रहस्य-यह बात सरलता से समझ आए–ऐसी प्रगट गुरुजी से नम्र प्रार्थना है।

–मार्च, 1959

49

मन-मनुहार और आत्मवंचना

सत्पुरुष के समागम के रूप में हमें अलौकिक सत्संग प्राप्त हुआ है। फिर भी, निर्गुण सुख अखंड नहीं रहता और अंतर में पल-पल क्षोभ, जलन (हायतोबा) का एहसास होता रहता है। सत्त्व, रज और तम के वेग में सच्चे निष्ठावान हरिभक्तों के प्रति अरुचि हो जाती है। उसका मुख्य कारण हमारी बुद्धि की जड़ता और प्रगट स्वरूप के प्रति की असाधारण प्रीति की कमी है। बाह्यदृष्टि से ही सारे मूल्यांकन करने की हमें आदत पड़ी हुई है, इसीलिए भ्रमित होकर अंतःकरण के भावों में खींचे जाते हैं। परिणाम स्वरूप हमें आभास भी नहीं हो पाता कि हम कब और कैसे ऊपरी दिखावे, बनावटीपन के वश में होकर, सत्संग की दिव्य प्रवृत्तियों में, या क्रियाओं और यहाँ तक कि सत्पुरुष की आज्ञा को पूर्णरूप से पालने में भी हम मन-मनुहार कर बैठते हैं। हमारा भ्रमित मन हमारे जीव को सत्य जीवन जीने से दूर करके, खुद से धोखाधड़ी करने के लिए प्रेरित करके, अति बड़े पुरुष को विवश करके, चित्त की वृत्तियों, प्रवृत्तियों को अव्यक्त राग या स्वभावों की पुष्टि की ओर धकेल देता है। यूं स्वरूप को ही समझने की कमी के कारण ही हम उनमें मनुष्यभाव लाते हैं और आख़िरकार जीव सत्संग से पीछे हटता जाता है, दुःखी होता है और विपरीत प्रसंग बनने पर विमुख तक हो जाता है। अतः शुद्ध मुमुक्षु जीव को सर्वप्रथम स्वरूपनिष्ठा को स्पष्ट रूप से समझने का प्रयत्न करना चाहिए और सच्चे संत के वचन से ही गुणातीत ज्ञान की समझ दृढ़ कर लेनी चाहिए; ताकि निर्विकल्प उत्तम निश्चय सिद्ध हो जाए व जीव ब्रह्मरूप होकर जीतेजी भगवान के दिव्य स्वरूप में ही जुड़ सके।

मन की चालाकियों और झूठे मन-मनुहार यानि भ्रमित मन से किए झूठे समझौते को पहचानने के लिए सत्संग में आने के बाद केवल अंतर्दृष्टि ही करने की आदत डालनी पड़ती है, जिससे अलौकिक सत्संग के प्रताप से सब कुछ नज़र आ जाएगा। जिस प्रकार दर्पण में मनुष्य को अपना वास्तविक रूप तत्क्षण दिखाई देता है, उसी प्रकार हमें अपने स्वभाव, वृत्तियों द्वारा अज्ञानतापूर्वक निर्मित जगत और बाह्य संबंधों की तुच्छता और असत्यता तत्काल दिखाई देने लगेगी। सच्चे संत भजन करने वाले भक्त को

ऐसी ही आज्ञा देते हैं, ताकि उसका मूल अज्ञान नष्ट होकर, उसे असली स्वरूप का दर्शन करवा दें और स्वभाव टल जाकर जीव शुद्ध हो। हमारा सद्भाग्य है कि हमें प्रगट ब्रह्मस्वरूप सद्गुरुवर्य योगीजी महाराज के रूप में ऐसे अति बड़े पुरुष प्राप्त हुए हैं। सर्वप्रथम तो हमें उनके सभी निर्देशों को-बातों को हमारे लिए ही कहा गया है ऐसा मान कर, उन पर सतत अंतर्दृष्टि करके, समग्र सत्संग में दिव्यभाव दृढ़ करके सेवा किया करने की आदत डालनी चाहिए; जिससे सरलता से आत्मसत्ता रूप वर्ता जाएगा और जीतेजी ही महाराज की दिव्यमूर्ति के सुख की अनुभूति होगी।

श्रीजी महाराज ने भक्तचिंतामणि के प्रकरण 164 में व दूसरे वचनामृतों में यह बात स्पष्ट रूप से समझाई है कि मंदिरों की, संस्था की व युवक मंडलों की क्रियाएँ केवल सात्त्विक आनंद ही प्रदान कर सकती हैं। यदि ये सारी क्रियाएं, प्रवृत्तियाँ प्रगट सत्पुरुष की प्रसन्नता पाने के लिए ही की जाएं, तो ही निर्गुण सुख, शांति और दिव्यानंद प्राप्त हो सकता है। पर, हमारे मन, चित्त व बुद्धि ऊपर-ऊपर की सेवा, संत समागम या कसनी सहने की क्रियाएँ करते हुए, हमारे भीतर भ्रम से भरा झूठा अहंकार खड़ा करते हैं और हम सूक्ष्म देहाभिमान को पोषित कर, किसी न किसी बहाने अपनी विशेषताओं का प्रदर्शन करके, खुद से आत्मवंचना कर जाते हैं। फलस्वरूप, हम में प्रत्यक्ष सत्पुरुष के प्रति मनुष्यभाव आ जाता है और उनकी आज्ञा की आड़ में हम अपने निजी राग व स्वभावों का ही पोषण करने लगते हैं। अतः सत्पुरुष की ही अंतर की मरज़ी, उनकी रुचि-अभिप्राय को समझ कर सत्संग की प्रवृत्ति करते जाएं, तो सभी को हर प्रकार से आनंद की प्राप्ति होगी और अन्य धर्म वालों के लिए भी आदर्श प्रस्तुत कर लेंगे। हमारे साधन, हमारे मत-मन्तव्य, हमारी मान्यताएँ और दृढ़ हो चुकी हमारी भावनाएँ प्रत्यक्ष सत्पुरुष की जैसी है वैसी यथार्थ महिमा समझ कर, उसके मुताबिक़ उन्हें अंतर्यामी, सर्वज्ञ और निर्दोष ही समझ कर क्रिया करने में बाधक होती हैं तथा हरिभक्तों के बीच आपस-आपस में भेदभाव खड़े कर देती है। अतः, सरल प्रकृति के वे हरिभक्त, जो हमारे सद्गुरु प.पू. योगीजी महाराज को मन सौंप कर जो कुछ थोड़ी-सी अल्प सेवा बन सके, उसे स्वधर्म युक्त होकर करने की आदत डालें, तो उनके जीव को तत्काल ही बल मिल जाता है। युवकों के आचरण से व उनके साथ रह कर उनका समागम करने पर, उनकी स्वरूपनिष्ठा की बातें सुन कर, इस बात की अब हमें प्रतीति होती जा रही है।

आओ! हम सब गुरुमुखी ही होकर, ऐसी अनन्य निष्ठा दृढ़ करें, ताकि प.पू. योगीजी महाराज की प्रसन्नता प्राप्त हो जाए। 'ऐसे संत की अखंड प्रसन्नता बनी रहे, यही आख़िरी जन्म है'–ऐसी प्रतीति हो जाए। ऐसा उत्तम सत्संग करना और करवाना अर्थात् हम स्वयं कैसे सत्संगी बन सके हैं, इस बात की सतत अंतर्दृष्टि की आदत डाल कर लेखा-जोखा रखें; ताकि थोड़े समय में ही मन और बुद्धि के झूठे बहाने ढूँढने की आदत से मुक्त होकर, जीतेजी ही अक्षरधाम का दिव्य सुख प्राप्त कर पाएं। ऐसा मौका, दर्शन, ऐसा योग, ऐसी बातें व संत की प्राप्ति पुनः नहीं मिलने वाली। अतः संत समागम की ही लगनी लगा लेना। सभी को ऐसा ज्ञान प्राप्त होता जाए–यही नम्र प्रार्थना है!

–अप्रैल, 1959

50

ज्ञानगोष्ठी का निष्कर्ष

(1) शरदपूर्णिमा का अलौकिक दिन था। रात को चाँदनी के श्वेत पट पर, प.पू. स्वामिजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) का मुखारविंद, सभी के अंतर में दिव्यभाव से युक्त मंगलकारी भावना उत्पन्न कर रहा था। सभी उसी में ही आकृष्ट होकर, अक्षरघाट पर एकाग्रवृत्ति से ज्ञानगोष्ठि सुन रहे थे। प.पू. स्वामिजी ने मुख्य सार बताते हुए कहा–

'हे युवकों, तुम कटिबद्ध हो जाओ। नियम-धर्म का पालन करके दृष्टांतरूप बनो और निर्मानीभाव से इस उत्सव की सेवा उठा लो। तुम में से जो जूठे पत्तल उठाते होंगे, बर्तन माँजते होंगे, न्यून श्रेणी की सेवा करते होंगे, उन्हें स्वामी सेवा का बहुत बड़ा फल देंगे। आज तुम विद्यार्थी हो, छोटे हो, लेकिन बड़े होकर कल जब तुममें से जो बड़े अफसर, डॉक्टर, वकील, इन्जीनियर या बड़ा मिनिस्टर साहेब बनेंगे और जब अक्षरमंदिर में आना होगा, तब इस साफ़-सफ़ाई की सेवा का स्मरण हो आएगा। हम कैसे थे, कैसे पत्तल उठाते थे, अक्षरघाट पर कैसा मार्गदर्शन दिया जाता था आदि –ये सभी स्मृतियाँ ताज़ी हो जाने से तुम्हारा अहंकार पिघलने लगेगा, तुम्हें अंतर्दृष्टि होने लगेगी और इसी स्मृति के दृढ़ होने पर, इस गुणातीत स्थान के प्रताप से, यहाँ की गई सेवा के फलस्वरूप तुम अक्षरधाम के अधिकारी बनोगे। अंतर में सुख बरतेगा।'

यूं, प.पू. स्वामिजी ने सभी को इस उत्सव के दौरान निर्मानीभाव से की गई सेवा की महत्ता बहुत ही सरल रीति से हृदयगत कराई। सो, फिलहाल उस समय के जो युवक मौज़ूद हैं, उन्हें इस स्मृति को ताज़ी करके उस पर सोच लेने की विनती है। अन्यों को ऐसी सेवा का महत्त्व समझ कर, देहाभिमान टालने के लिए यह कैसा राजमार्ग खुला कर दिया है, वह समझ कर जीवन में उसे अपना लेना चाहिए।

(2) अटलादरा से वडोदरा जाते हुए, वहाँ के वैष्णव संप्रदाय के एक सेठ जो पूरे जोश से मोटर (गाड़ी) चला रहे थे; वे रास्ते में आते मकान, राजमहल इत्यादि

दिखा रहे थे। शहर के नज़दीक इलैक्ट्रिक पावर हाउस आया। उन्होंने प.पू. स्वामिजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) तथा प.पू. मोटास्वामी को इलैक्ट्रिक पावर हाउस के बारे में खूब मर्म की बातें बताईं और समय मिलने पर, एक बार निरीक्षण करने की विनती की। सब कुछ अत्यंत शांति से सुनने के बाद प.पू. स्वामिजी ने एक बड़े मर्म की बात की। उन्होंने कहा– *इस इलैक्ट्रिक पावर हाउस से ही सभी जगह बिजली पहुँचती है और सबको प्रकाश मिलता है, सो ज़रूर देखने लायक गिना जाए।* फिर हमारी ओर निर्देश करते हुए कहा–

गुणातीत ज्ञान, सर्वोपरि ज्ञान है और गोंडल 'अक्षरमंदिर' से वह ज्ञान चहुँ ओर पहुँचता है। तो, उस स्थान की महिमा समझ कर, हर एक को वहाँ दर्शन करने जरूर जाना चाहिए। अक्षरब्रह्म की अपार, अनंत, दिव्य दृष्टि और शक्ति से जीव का अज्ञानमय कारण शरीर टलता जाता है और सभी को अंतर में सुख, शांति और प्रकाश मिलता रहता है और भगवान की दिव्य मूर्ति के अखंड सुख की प्राप्ति होती है। सभी को इतना ही समझना व देखना है और अखंड उसी कॉन्सियसनेस से भजन करना है। सभी युवकों के लिए ब्रह्मविद्या प्राप्त करने का यह सर्वोत्तम स्थान है। इसलिए हमें तो ऐसे प्रकाशगृह देखने में खूब आनंद आता है।

सेठ तो यह सुन कर अत्यंत प्रसन्न हो गया। उसे तो बिजलीघर दिखाने की इच्छा थी, सो 'फिर कभी देखने जाने की व्यवस्था करेंगे' यूँ कह कर, हमें स्टेशन उतार कर, हँसते चेहरे से उन्होंने विदा ली।

हमारे अंतर में अनिर्वचनीय आनंद यही बना रहा कि

'प.प. स्वामिजी के समक्ष मायिक पदार्थों व व्यावहारिक बातों को प्रस्तुत करने पर भी उन्होंने कैसी अमायिक दृष्टि का दर्शन और देखने की सनातन अर्चिमार्ग की रीति सरलता से बता दी।'

ऐसी स्मृति अखंड रखने वाले को, दिव्यमूर्ति का निर्गुण सुख, निर्विकल्प समाधि के बिना भी सहजता से प्राप्त होता जाता है यही ऐसे महान संत के संबंध की विशेषता है। इसे सभी युवकों को (उनका) समागम करते हुए विशेष रूप से सोच लेना चाहिए।

–जून, 1959

***

51

अभिनिवेश

(यानि–भ्रमित दृढ़ कॉन्सियसनेस)

जीव की अज्ञान दशा में पाँच प्रकार के क्लेश बताए गए हैं। अभिनिवेश को उनमें से एक माना जाता है। वचनामृत में भी महाराज ने आग्रहपूर्वक बताया है कि जीव को शिव बनने के लिए सच्चे सत्पुरुष की आवश्यकता पड़ती ही है, जिसके बिना मूल अज्ञान टलता नहीं है। अतः सच्चे सत्पुरुष ही अज्ञान टालते हैं और जीव को ब्रह्मरूप करके भगवान के स्वरूप में जोड़ कर उसका आत्यंतिक कल्याण करते हैं। अपने साधन या प्रयत्नों द्वारा जीव में संस्कार उदित होते हैं, लेकिन जैसे ही वह देह से पृथक होता है, उसे भ्रांति - भ्रमणा होने लगती हैं कि मैं ही ईश्वर हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ, परब्रह्म हूँ। भ्रमित होने के साथ ही वह ज्ञान, वैराग्य व भक्ति के आवेग में अंटशंट बोलने लगता है और अभिनिवेश में मिथ्या मान्यता दृढ़ करके, बड़े सत्पुरुष का अभाव लेकर अंततः आसुरीभाव को पाता है। अतः सच्चे सत्पुरुष की पहचान करने के लिए बुद्धि का संपूर्ण उपयोग करके, फिर वहीं दृढ़ मति रखनी चाहिए और तथाकथित त्यागियों, वैरागियों, विरक्तों में मन को भ्रमित करके- उनके बहकावे में आकर मोक्ष को नहीं बिगाड़ना व शुद्ध समझ दृढ़ करते जाना और परख कर ही संत का समागम करना।

जैसे चूड़ा (गाँव) के करसनजी ब्राह्मण को किसी ने कहा– *'तू तो वढवाण के दरबार पथाभाई का पुत्र है; लेकिन तुझे कोई मार न डाले इसलिए यहाँ रखा है।'* इस बात को सच मान कर उसने सरकार में लेंग साहेब को अरज़ी दी कि मुझे राज्य की गद्दी दिलवाओ। इससे भी अधिक, इस विषय में गोपालानंदस्वामिजी जैसे बड़े संत से भी बात की। स्वामिजी ने जब उसे कहा कि यह बात गलत है, तो करसनजी ने उनका भी अभाव लिया तथा उन्हें उलाहना देने के लिए अन्यों को भी अपने साथ शामिल कर लिया, पर बड़े पुरुष की बात को नकार दिया। यूं, जीव अपना बिगाड़ता है। दरअसल, सत्संग में बिना लुड़के पार उतरना अत्यन्त कठिन कार्य है। इसलिए स्वामिश्रीजी से ख़ास प्रार्थना करनी चाहिए –

'हमें ऐसा अलौकिक सत्संग मिला है, किन्तु यदि कुसंग के जोग के कारण हम डगमगा जाएँ, तो उससे बड़ा कोई नुकसान नहीं है। अतः सच्चे सत्पुरुष द्वारा ही पक्का ज्ञान सिद्ध करना चाहिए, ताकि विपरीत परिस्थितियाँ एवं भगवान की रची माया भी हम पर हावी न हो, अन्यथा, साधन के राग रह जाएं और तत्त्व से यदि स्वरूप को पहचाना न हो, तो भगवाधारी या अन्य महंतों के बहकावे में आकर हम अपने मोक्ष को बिगाड़ लेंगे।'

सो, जहाँ मान्यता का अभिनिवेश दिखाई दे, वहाँ पर सतर्क होकर कदम आगे बढ़ाना। युवकों को निर्मानी, शांत स्वभाव के लक्षण युक्त संत का ही समागम करना चाहिए। शुरुआत से ही स्लॅट कोरी होगी, तो बाद में पछताना नहीं पड़ेगा। इस हेतु, अनादि सद्‌गुरु गुणातीतानंदजी द्वारा दिए गए ज्ञान को सच्चे सत्पुरुष द्वारा ही सिद्ध करना, ताकि जीव भगवान के ब्रह्मरूप स्वरूप में जीतेजी ही जुड़ सके और निर्गुण सुख प्राप्त कर सके। सभी युवकों को प.पू. स्वामिजी का समागम मिला है, तो अचल मति दृढ़ करके, उसके मुताबिक़ जीवनपर्यंत पार उतर जाएं – यही प्रार्थना है।

– जुलाई, 1959

52

वचन की कसनी

दिनाँक 25.10. 58 को अफ्रीका देश में आने के बाद प.पू. स्वामिजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) ने कई बातें, रहस्य बताए और मांगलिक प्रवचन भी किए। मुख्यतः तो उन हरिभक्तों, जो उनके प्रति विशेष लगाव रखते और देर रात्रि तक रुकते थे, उन्हें अंतर से आशिष देकर ब्रह्मसूत्र की भाँति अनेक मार्मिक बातें कीं, जिनमें से निम्न तीन मुद्दे की थीं–

(1) वचन की कसनी सहना।

(2) समग्र सत्संग में दिव्यभाव बढ़ाना और सुहृद्‌भाव ही जीव का जीवन है।

सभी बड़े संतों ने इसी बात पर ज़ोर दिया है, जिससे उपासना आज्ञा और एकांतिक से प्रीति–ये तीनों प्राप्त हो जाएंगे।

(3) भजन करके जीव को सत्संगी बना देना। चाहे कितना ही लुटा देना पड़े, पर ऐसे सत्पुरुष फिर दोबारा नहीं मिलेंगे। सो, जीव ब्रह्मरूप होकर, परब्रह्म के स्वरूप में जुड़ जाए, इस हेतु ही उद्यम कर लेना चाहिए। इस हेतु उत्तम प्रकार का सत्संग करना अनिवार्य है। व्यवहार-कारोबार आदि तो चलता रहेगा। सांसारिक सभी झगड़े व्यवहार व अधिकार के हैं, उनसे कुछ प्राप्त होने वाला नहीं है। इसलिए, दिव्यभाव रख कर, अपने निजी संकल्पों, विचारों, कल्पनाओं, प्रयोजनों, मान्यताओं को बिल्कुल छोड़ कर प्रकृति-पुरुष से परे का ज्ञान सिद्ध कर लेना। सभी अपने निर्णय दृढ़ करके आते हैं, सो क्या बातें करनी ? सत्पुरुष द्वारा निर्दिष्ट प्रकार से जीवन को ढाल देना, तो जीव में उत्तम ज्ञान उदित होगा और आत्मा व परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होकर दिव्यानंद अखंड रहेगा।

सभी के जीवन में साधु के समागम की कसर है। इसलिए, पू. स्वामिजी ने अपने समागम से यहाँ के हरिभक्तों को अतिशय बल प्रदान किया और आशीर्वाद दिया, जिससे सभी उनकी आज्ञा शिरोधार्य करने में लग गए हैं। हरिभक्त आपस में महिमा जान कर, उनकी महिमा की वृद्धि करने व उनके साथ सुहृद्‌भाव दृढ़ करके सर्वोपरि उपासना दृढ़ करने लगे हैं।

प.पू. स्वामिजी कहते हैं कि जो जीव सत्पुरुष के वचन की कसनी सह कर, सहिष्णु बन कर, उनकी सेवा करता रहे उस पर अपने आप ही प्रेम उमड़ता है और यदि वह जीव केवल अपने दोष ही देखे, तो सत्पुरुष की कृपादृष्टि पड़ने से न टलने वाली प्रकृति भी सहज में टल जाती है। हमें स्वभाव रखने हैं, सो वे रहे हैं। अतः जिसे स्वभावमुक्त होने की इच्छा हो, उन्हें पू. स्वामिजी ने अंतर्दृष्टि करवा कर, निर्दोषबुद्धि की सेवा करने की आज्ञा दी है। स्वामिश्रीजी को राज़ी करने के लिए सभी का गुणग्राहक बन कर, अपना सर्वस्व समर्पित करने की आवश्यकता है।

हम सभी यही प्रार्थना करें कि दिव्यभाव युक्त अखंड प्रगटभाव की सभी को सूझ मिले और माहात्म्यज्ञान से युक्त सेवा होती रहे – यही अभ्यर्थना।

–दिसंबर, 1959

53

अफ्रीका से मुक्तराज श्री दादुभाई का पत्र

...हमें तो उत्तम प्रकार का भजन कर लेना है। जीतेजी ब्रह्मरूप होकर भगवान में जुड़ जाएं यही मक़सद है। बाकी शास्त्रीजी महाराज की कृपा से ही जब यह संबंध हो गया है, तो भगवान की समझ दृढ़ कर लेनी चाहिए। 'निर्दोषबुद्धि युक्त अनुभव ज्ञान'–यही सच्ची समझ है।

हरिभक्त आपस में महिमा समझ कर भक्ति करें, तो अंतर में शांति रहेगी और धाम का सुख प्राप्त होगा। स्वामी और महाराज जैसे हैं, वैसे ही यहाँ दिखाई दें, पर इन्हें निहारने के लिए अलौकिक दृष्टि चाहिए। संत का समागम करके इसे सिद्ध करना चाहिए; कसनी सहना और भगवान व संत जो भी कर रहे हैं वह भले के लिए ही कर रहे होंगे, ऐसा मानते हुए धैर्य रख कर उनके कार्य का गुण ही लेना और अपने ही दोष देखना। ऐसा करने से सतर्कता की भक्ति दृढ़ होती जाती है और भगवान की मूर्ति का सुख प्राप्त होता है। भगवान की मूर्ति का सुख मिलने की प्रतीति का लक्षण क्या? लक्षण है–अंतर में अखंड आनंद की अनुभूति होनी और सभी एक-दूजे के प्रति दिव्यभाव रखते हुए, एक मन से सभी को राज़ी करना सीख जाएं। खटपट, क्लेश, विक्षेप, उद्वेग का वहाँ कोई स्थान ही नहीं। क्रोधित होने से भगवान दूर हो जाते हैं। अतः ज़रा भी क्रोध करना नहीं।

वचनामृत मध्य का 7वाँ पढ़वा कर (गुरुहरि योगीजी महाराज ने) बताया कि किसी बड़े संत की यदि असाधारण सेवा की जाए, तो ही भगवान कृपा करते हैं और हमारे दोषों के विकार मात्र तत्काल टल जाते हैं। वाक़ई ऐसी सेवा करने का हमें अवसर मिला है। तो अब दरिद्र नहीं रहना है। वह क्या ? प.पू. बापा ने प्रश्न पूछा। तब सभी ने कहा–'आप ही उत्तर कीजिए।' तब (प.पू. बापा) ने कहा–साधुता के गुण न आएं, यही दरिद्रता है। अतः चाहे कोई त्यागी हो और उसे बड़ी महंताई या अधिकार प्राप्त हो, लेकिन यदि उसने साधुता नहीं सीखी, तो उसे सत्संग के सुख की अनुभूति नहीं होती और दुःख रह जाता है।

सो, अब दरिद्र नहीं रहना है। जिसकी समझ बड़ी, वह बड़ा है। इसलिए सर्वोपरि पुरुषोत्तम की स्वरूपनिष्ठा और गुणातीत ज्ञान दृढ़ कर लेना। पेट भरने जितना हो, व्यवहार चलता रहे इतना हो, तो बाकी की जिंदगी केवल भगवान का भजन करने में व मूर्ति सिद्ध कर लेने में लगा देना और अन्यों को भी सत्संग करा कर, यह प्रगट की निष्ठा प्रवर्ताना। जीव का भला हो ऐसे उपाय करना...

–द. दादुभाई ना. पटेल के खूब ही स्नेहपूर्वक
जय श्री स्वामिनारायण
दिसंबर, 1959

54

विकास बहुत हुआ

किसी भी प्रवृत्ति, आदर्श या कर्तव्य की साधना के लिए जो भी प्रयास किए जाते हैं, भिन्न-भिन्न समाज अपने-अपने मतानुसार उनकी महत्ता का आकलन करते हैं। सार्वजनिक जीवन में तो आँकड़ों की गणना से महत्ता को कम या अधिक आंका जाता है, किन्तु व्यावहारिक बड़प्पन और आध्यात्मिक बड़प्पन में अत्यधिक भेद या अंतर है, जिसे विचारवान व विवेकशील ही समझ सकते हैं। वे अपने निजी ज्ञान, अनुभव, रुचि एवं विवेक के आधार पर सत्संग की प्रवृत्तियों के विकास या सत्पुरुष के सच्चे बड़प्पन एवं उनके द्वारा होते विकास के विषय में अनुमान-अटकलें बांधते हैं और उसी में मगन रहते हैं व अन्यों को भी उसी दिशा में अग्रसर करते हैं। ऐसे मत, सूक्ष्म बातों में तो सत्पुरुष के ही वचन से लिए गए निर्णय ही उस समय सर्वोपरि माने गए हैं और वे ही समाज सरलता से अलौकिक, दिव्य आनंद को प्राप्त करने के मार्ग पर अग्रसर हुए हैं। श्रीजी महाराज के संबंध में आए अनपढ़, निर्धन मुमुक्षुओं में अल्प समय में ही हुए परिवर्तन को देख कर ऐसा प्रतीत हुआ है।

ऊपरी तौर से सोचेंगे तो, व्यावहारिक बुद्धि वाले के लिए तो जब समाज का एक बड़ा वर्ग, राजा, महाराजा, प्रतिष्ठित लोग सत्संगी बनें, भव्य समारोह हों, यज्ञ में एक साथ हज़ारों ब्राह्मण मंत्रोच्चारण करते हुए आहुति देते हों, जिस प्रकार 'डभाण' के यज्ञ के समय महाराज ने लगातार अट्ठारह दिन तक लाखों लोगों को भोजन करवाया, उसी प्रकार भोजन करा कर, सत्संग के प्रण देकर भजन-भक्ति में जोड़ें, जिसे देख कर सर्वत्र यही चर्चा हो कि 'न भूतो न भविष्यति', तब ही सत्संग की वृद्धि हुई -ऐसा मानें और बातों से अन्यों को भी मनवाएं। जबकि आध्यात्मिक दृष्टि वाले के मत से तो सत्य तो सत्य ही होता है, भले ही करोड़ों राजा व लाखों लोग मानें या न मानें और कोई भी श्रेयार्थी जीव इसका जीतेजी ही अनुभव कर सके एवं यह अनुभूति कालातीत, भावातीत और गुणातीतभाव वाली हो व शाश्वत् रहे, तब, भले ही आध्यात्मिक अनुभव करने वाले निष्ठावान साधक बहुत कम संख्या में जुड़े हों, पर इसे ही अत्यंत विकास हुआ कहा जाए और तत्त्व

से जैसे हैं वैसे ही आत्मा-परमात्मा के स्वरूप का मूल ज्ञान होने को ही सत्संग अत्यंत बढ़ गया है ऐसा कहें और अन्यों को भी ऐसा समझा कर उसी दृष्टि से देखने की प्रेरणा दें! ये दोनों विचारधारायें सार्वजनिक जीवन में सदैव प्रचलित रहती हैं। पर, प्रश्न यह उठता है कि क्या एलेक्ज़ेन्डर सच में महान था? क्योंकि उसने बड़े-बड़े देश जीते, कई राजाओं को अपनी हुकूमत के आधीन किया, कइयों का मानमर्दन किया और लाखों लोगों को काबू किया! या फिर इसलिए महान था कि इतना वैभवशाली होने के बावजूद, काल-कर्म-माया से भयभीत एवं जीवन के क्षणिक होने का एहसास होने पर, आत्मज्ञान के लिए किसी महात्मा के पास नतमस्तक होकर घुटने टेकता एलेक्ज़ेन्डर! यूं व्यावहारिक और सत्यज्ञान की दृष्टि पूर्णरूपेण भिन्न हैं। जगत की दृष्टि के 'महान' सत्संग में 'रंक' गिने जाते हैं और सच्चे संत के सेवक त्रिलोकी को जीतने वाले से अधिक सामर्थ्यवान व सौभाग्यशाली माने जाते हैं। ये शास्त्रों एवं सत्पुरुषों के सिद्ध वचन हैं। तो अब, जैसे मुक्तानंदस्वामी से महाराज ने प्रश्न पूछा था–सच्चा विकास किसे कहते हैं और सच्चे सत्संग का कितना विकास हुआ। तो, जिस प्रकार मुक्तानंदस्वामिजी को पूछे गए प्रश्न का उत्तर था–हम किस प्रकार के सत्संगी हुए हैं, कैसी समझदारी से हमने वर्तना शुरू किया है व अन्य किसी के दोष, स्वभाव, प्रकृति को देखते हैं या नहीं–ऐसा हम वर्तन करते हैं या नहीं–ऐसे उत्तम प्रकार के सत्संग के बारे में अब हमें भी सोचना है और यह बात हम पर अब भी लागू होती है। कोंग्वा में शशिकांतभाई, बेचरभाई इत्यादि की उपस्थिति में पू. स्वामिजी (योगीबापा) ने श्री हरमानभाई के घर पर 'विकास बहुत हुआ'–का जो अर्थ समझाया था, वह सभी के लिए विचार करने योग्य है, जो निम्न दिया है।

प.पू. स्वामिजी बोले– *'विकास बहुत हुआ', 'सत्संग बहुत बढ़ गया'*–उसका सच्चा अर्थ इतना ही है कि हमारा देहभाव-जीवभाव कितना टाला, कौन-कौन सी आसक्तियाँ टलीं, भगवान का मनन-चिंतन कितना होता है? और व्यवहार-व्यापार आदि का कितना चितंन होता है, इस बात को अवश्य टटोलना। जरूरी हो, वह काम कर लें, पर, बाद में उसी के मनन-चिंतन में न खोए रहें। पूंछ मरोड़ कर खड़े करे पशु की भाँति व्यवहार में ज़बरन बरत पाएं। अतः समझदारी बढ़े, स्वरूपनिष्ठा दृढ़ हो और सत्पुरुष की ही मरज़ी के मुताबिक़ बरतना आ जाए, तब जानना कि विकास बहुत हुआ, सही मायने में सत्संग बढ़ा और निष्ठा दृढ़ हो जाए ताकि कांच के बरतनों की भाँति संभालना न पड़े, किसी बात का बुरा न लगे और सभी अपना-अपना कर्तव्य समझ कर, सत्संग के मालिक बन

कर सेवा करने लगें। ज्ञाननिष्ठा जितनी अधिक दृढ़ हो, उतना विकास हुआ माना जाएगा और तब ही देहाभिमान टलता जाएगा। अतः जितना जीवभाव टला उतना ही सत्संग बढ़ा। सो, सभी को इस कार्य करने में जुट जाना है और 'गुणातीतज्ञान' सीख कर, आचरण में लाकर, सभी के लिए आदर्श प्रस्तुत करना है। प.पू. शास्त्रीजी महाराज ने जो परिश्रम किया उसमें सभी को कसनी में लिया था और अल्प जैसे जीव को भी बल दे दिया था। सो, स्वयं कसनी सहे लेकिन अन्यों को कसनी दे नहीं और सत्संग की सभी प्रवृत्तियों में सद्भाव की बुद्धि रख कर जो अपने कर्तव्य का पालन करता रहे, वह सत्संग का विकास करा पाएगा। अतः बड़े पुरुषों की ही रुचि में मिल जाकर, उनके अभिप्राय को समझ कर कार्यक्रम रखेंगे, तो देखते ही देखते एकांतिकभाव दृढ़ होने लगेगा और संत के प्रति सभी का सद्भाव बढ़ेगा, वे स्वामिजी के आश्रित होकर, ब्रह्म एवं परब्रह्म के स्वरूप का सच्चा ज्ञान जीतेजी ही प्राप्त करते जाएंगे।

उपरोक्त दिव्य बुद्धि स्वामिश्रीजी सभी को दें, यही नम्र प्रार्थना।

–फरवरी, 1960

अफ्रीका में श्री सी.टी पटेल साहेब ने प्रश्न पूछा था –

'गृहस्थाश्रम में रहते हुए अध्यात्म ज्ञान की प्राप्ति सरलता पूर्वक कैसे की जा सकती है ?'

प्रत्युत्तर में पू. स्वामिजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) ने कहा –

'कलियुग में अनन्यभाव से कीर्तन-भक्ति करनी और तप, त्याग के लिए अब देह सशक्त नहीं रहे, इसलिए बड़े सत्पुरुष के वचन में 'हाँ से हाँ' करते हुए, उनकी आज्ञानुसार सत्संग किया करना, जिससे माता की आज्ञा का पालन करने से जिस प्रकार गणपतिजी का विवाह संपन्न हुआ, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम में रहते हुए जनक एवं अंबरिष जैसी स्थितप्रज्ञ दशा का ज्ञान प्राप्त हो सकेगा। सो, सत्पुरुष की कृपा प्राप्त करके, आसरा दृढ़ कर लेना।'

यह बात शास्त्री नारायणस्वरूपदासजी (ब्रह्मस्वरूप प्रमुखस्वामी महाराज) ने विस्तार से समझाई थी; सो सभी राज़ी हुए थे।

– अप्रैल, 1960

55

अनमोल मौका चला जाए, उससे पहले

प.पू. स्वामिजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) सुबह 'आज प्रगटे पूरण ब्रह्म रे...' भजन गाते हुए भक्तों को समझा रहे थे कि अनमोल अवसर हाथ से निकलता जा रहा है। इस समय की जिसे सूझ है-मर्म को जो जानता है, उसका काम बन जाएगा। 'भला बना है बनाव'– वो क्या ? शास्त्रों में छिपी रह गई, सच ही होने के बावजूद और जानते हुए भी कई त्यागियों ने अक्षरब्रह्म को पहचानने की बात भुला दी, लेकिन अनादि मूल अक्षर गुणातीतानंदस्वामी के प्रमुख शिष्यों और अनादि मुक्त जागा भक्त, अनादि मुक्त भगतजी महाराज, गुरु कृष्णजी अदा, बालमुकुंददासस्वामी तथा संतवर्य शास्त्रीजी महाराज इत्यादि ने इस रहस्य को प्रकट किया। तत्पश्चात् इन महान संतों ने गुणातीतज्ञान, ब्रह्मज्ञान-अक्षररूप बन कर, आत्मारूप बन कर, ब्रह्मरूप बन कर परब्रह्म में जुड़ जाने की बात को मूर्तिमान स्वरूप देकर, भव्य मंदिरों का निर्माण किया व अनेक कष्ट झेल कर, दुःख सह करके सर्वोपरि उपासना का डंका बजा दिया।

अक्षरब्रह्म की यह बात गीता में भगवान श्री कृष्ण ने तथा उपनिषदों में जगह-जगह ब्रह्मज्ञानियों ने भी खूब ज़ोर देकर समझाई है। फिर भी, माया के बल के प्रवाह में, इस तथ्य को पूर्णरूप से न समझ पाने के कारण कई बुद्धिशाली, विद्वान, समझदार, सयाने एवं ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले भाविक मर्मज्ञ भी भटक गए थे। लेकिन, प.पू. शास्त्रीजी महाराज ने वैज्ञानिक तरीके से उन सभी को अक्षरपुरुषोत्तम की उपासना के महत्व को समझा कर व स्पष्ट करके, दृढ़ करवा दिया। अब संतवर्य प.पू. योगीजी महाराज भिन्न-भिन्न स्थानों का भ्रमण करके इसी निष्ठा को दृढ़ करवा कर, भगवान स्वामिनारायण का सर्वोपरि रहस्यज्ञान, वेदोक्त ज्ञान, शास्त्रोक्त रीति से, सभी को सदैव के लिए सुलभ कराते जा रहे हैं। सभी सरलता से इस ज्ञान को समझ कर ब्रह्म के गुण प्राप्त करें, इस हेतु वे संप, निर्दोषबुद्धि तथा सुहृद्भाव पर ही अत्यधिक ज़ोर देते हैं। उनका यही लक्ष्य रहता है कि सभी ब्रह्मरूप होकर, जीतेजी ही भगवान उनके वश हों और उन्हें अपने अत्यधिक दिव्य प्रेम में डूबो कर, आत्मा-परमात्मा के स्वरूप को वे धारण

कर पाएँ, ऐसे अग्रसर कर रहे हैं। नए युवकों को तैयार कर रहे हैं और दिव्य सर्तकता का, स्वरूपनिष्ठा का पूर्णयोग जीतेजी प्राप्त कराने पर ज़ोर देते हैं।

केवल स्वामिजी की दयादृष्टि, कृपा एवं अनुग्रह से विनु भगत, अरूण दवे जैसे साधक एकांतिकभाव के रहस्यज्ञान के अधिकारी बन कर, सरलता से दिव्य गुण उपलब्ध कर रहे हैं। गुरुहरि योगीजी महाराज जैसे सत्पुरुष के समागम में आने पर मूल प्रकृति बदलती जा रही है, इस तथ्य की अब सभी को प्रतीति होने लगी है। अतः अन्य कई युवक भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्सुक हो रहे हैं-उन्हें चटपटी लगी है। इस संतवर्य को कल्याणदाता पुरुष मान कर, उनके समागम और सेवा में ही अपना समग्र जीवन समर्पित करने वे तैयार हुए हैं। यूं, स्वामिश्रीजी का सर्वजीवहितावह, सर्वमान्य, सरल व सर्वोपयोगी कल्याण मार्ग, सत्पुरुष द्वारा सदैव के लिए खुला हुआ साबित होता लग रहा है। जीतेजी ही ब्रह्मरूप होकर, निर्वासनिक बन कर, भगवान को पाने का, आत्मा-परमात्मा के ज्ञान का साक्षात्कार करने का अनमोल अवसर फिर बार-बार आने वाला नहीं ही है। अतः अफ्रीका तथा भारत के भी, सभी मुक्तों से विनती है कि प.पू. योगीजी महाराज जैसे संतवर्य की अनुवृत्ति में ही जीवन बिताने का दृढ़ निर्णय कर लें।

...सभी भूतकाल के मतभेद, ग्रंथियों, मान्यताओं या समझ छोड़ कर, इस संत पुरुष से नवीन दृष्टि प्राप्त करके, उन्हें दिव्य स्वरूप मान कर, एक नवीन भावना से सत्संग का कार्य उठा लें यही विनती है। पुनः ऐसा अनमोल अवसर नहीं मिलेगा।

जो हरिभक्त प.पू. शास्त्रीजी महाराज को राज़ी करके उनकी प्रसन्नता पाने से वंचित रह गए, वे अब प.पू. योगीजी महाराज, प्रमुखस्वामी, मोटास्वामी एवं संतस्वामी व प्रगट के सभी संतों को अंतर से राज़ी करके, अक्षरधाम का दिव्य सुख सुलभता से प्राप्त कर लें।

प.पू. स्वामिजी हरिभक्तों के आग्रह के वश जब प्रसाद ग्रहण कर रहे होते हैं, तब वे 'अन्नमय ब्रह्म' का मूर्तस्वरूप प्रतीत होते हैं। श्रीजी महाराज व मूल अक्षरमूर्ति के अखंड धारक होने के कारण, उनकी सभी क्रियाओं में भी ब्रह्म-परब्रह्म के ऐक्य का ऐसा दर्शन होता है कि वच. प्रथम 27 के मुताबिक़ साक्षात् महाराज और स्वामी उनके द्वारा दिव्य स्वरूप में सभी सौगात ग्रहण करते हैं व हरिभक्तों के लाड़ पूरे करते हैं। इसी से हम सभी के प्रति उनकी अनहद्, अपार कृपा, दया और प्यारभरे लगाव का दर्शन होता है।

व्यवहार के कार्य तो चलते रहेंगे, परंतु यदि हम उन्हें वाक़ई दिव्य गुणातीत

ब्रह्मस्वरूप मानते ही हैं, तो ब्रह्मरूप होने के इस अनमोल अवसर को हम चूक न जाएँ, इस हेतु अभी अंतर से-गद्गद् कंठ से निम्न प्रार्थना कर लें–

(1) हमारे सभी दोषों गुनाह या त्रुटियों की ओर न देखते हुए, हम पर माँ की भाँति दिव्य प्रेम रखते हुए, हमारे जीव को संभाल लेना, हमें माया से उबार लेना और समग्र सत्संग में अखंड दिव्यभाव ही बना रहे ऐसी दृष्टि देना, ताकि किसी के अवगुण में पड़ने का मन ही न हो।

(2) अहंता-ममता से खड़े किए गए अब तक के हमारे प्रारब्ध कर्म एवं नए क्रिया-कलाप भुगवा कर, बिल्कुल दूर हो जाएं और आत्यंतिक ज्ञानप्रलय के विधान से नवीन ज्ञानमार्ग का हम में उदय हो और आपकी मरज़ी के मुताबिक़ का हमारा जीवन हो और सदैव ऐसी ही दिव्य भावना से जी पाएँ, ऐसी कृपा करनाजी।

पुराने कार्य सुलझ जाते हैं और हम पुनः प्रकृति-पुरुष के भीतर के कार्य कर ही न सकें, ऐसी ज्ञानदृष्टि देना, ताकि हमें एकांतिकभाव सिद्ध हो।

(3) जिस ज्ञान की विरासत हमें प्राप्त हुई है, उसे प्रथम तो हम अपने जीवन में उतारें, जिससे अन्यों को भी उसकी प्रतीति होती जाए और सहजता से ही ज्ञाननिष्ठा का प्रवर्तन होता जाए– ऐसी कृपा करना।

(4) आपके राज़ी होने पर वचनामृत मध्य 45, 63, अंत्य 2, 11, 39, कारियाणी 9 तथा मध्य 28 व वड़ताल 1, 11 इत्यादि सिद्ध होते जाएं –ऐसी विनती है। निर्दोषबुद्धि एवं सुहृद्भाव अत्यंत दृढ़ हो, यही आख़िरी याचना है।

तो, हे दयालु ! सभी भूलों-त्रुटियों को माफ़ करके भी, इतनी कृपादृष्टि करना जिससे सभी को गुणातीतज्ञान सुलभता से दृढ़ हो।

यह अनमोल अवसर हाथ से निकल जाए, इससे पहले सभी इतना ज़रूरी अवश्य कर ही लें –यही विनती है।

–जून , 1960

***

56

पहचाना हो जिसने स्वामिजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) को!

हम प्रगट गुरुजी के उपासक कहलाते हैं। ढोल बजा-बजा कर पूज्य स्वामिश्री की महिमा का भगवान तुल्य ही हम स्वयं गान करते हैं। हमने मान लिया है कि हम पूर्णरूपेण उपयुक्त रूप से प्रगट का भजन कर रहे हैं, सेवा कर रहे हैं, हमने शरीर को घिस दिया है, अतः हमारा कल्याण तो निश्चित रूप से हो चुका है। लेकिन वास्तविकता क्या है? अभी तो आगे एक का अंक भी नहीं लगा है। एक के अंक के बिना ही शून्य लगाते जा रहे हैं। और... (नासमझी से) खुश होकर हम अपने दैनिक व्यवहार व विषयतृप्ति में मशगूल हो जाते हैं और थोड़ा-सा भी दुःख आने पर, उसका दोष पू. बापा के सिर पर मढ़ देते हैं। पर, उनकी कृपादृष्टि, आशीष कहाँ से फलेगी? उन्हें तो हमारी रक्षा ही करनी है, यह तो उनका मूल स्वभाव है। लेकिन, हम ही कद्रहीन होकर उनकी महिमा को सही अर्थ में नहीं समझते और ऊपर-ऊपर से ही स्थूल इन्द्रियों से ही निहारने के आदती, हम स्वयं से धोखाधड़ी करते रहते हैं। जब तक हमारे जीव में पू. स्वामिश्री की मर्जी में रहने की वैसी तीव्र ग़रज़ नहीं होगी, जैसे कि डूबते हुए व्यक्ति को अपनी जीवन रक्षा के लिए होती है, तब तक प्रगट के सुख की अनुभूति नहीं हो पाएगी और (गुरु की) कृपा या आशिष या वचन भी फलेंगे नहीं। अमृतमयी परावाणी तो चाहे कोई राजा हो या रंक, छोटा या बड़ा, सभी के लिए है। लेकिन, उनके वचन तो जैसे कि धधकते लोहे पर पानी गिरे या रेगिस्तान में छींटे पड़ें या पत्थरों के ऊपर पानी डालें, तो वह पानी बह जाता है, रुकता नहीं; वैसी ही हालत हमारे देश के सत्संगियों की हो रही है। बरसात तो सभी के लिए एक जैसी ही होती है। लेकिन, 'कालु' नाम की मछली के मुंह में स्वाति नक्षत्र की बूंदें, सीपी में जाकर मोती बन जाती हैं, वैसा हम में से कहे जाते बड़ों में व ऊंची-ऊंची आवाज में चिल्ला-चिल्ला कर भजन करने वालों में भी वह ज़रा भी दिखाई नहीं पड़ता। क्या हमने स्वामिजी को सच में पहचाना है? लेखा-जोखा निकालें; भीतर में टटोलें, तो उत्तर अवश्य मिल जाएगा। जब हम पू. स्वामिजी को सच में उनके वास्तविक रूप में पहचान कर, अक्षरपुरुषोत्तम

की प्रगट की उपासना दृढ़ करके जीतेजी ही ब्रह्मभाव को पा लेंगे, तभी उन्हें सच में चैन मिलेगा। वर्ना, वे तो स्वभाव से ही हैं अति दयालु, सो हमारे करोड़ों गुनाह माफ़ करते हैं, हमारी रक्षा करते हैं और चौरासी योनियों के नरक से अपने दर्शन मात्र से ही उबार देते हैं। किन्तु, हमारे अंतर्चक्षु अब भी नहीं खुले! समुद्र के तल तक जाने पर ही मोती मिलते हैं, तट पर खड़े-खड़े नहीं! सो, हम अपने ख्याल, भ्रम एवं कुसंगति के कारण अचेतन मन पर पड़ी हुई रुढ़ि दूर करके अपने भीतर में झाँक कर आकलन करें और अन्य सत्संगियों को भी इसी आंतरिक शुद्धि के मार्ग पर अग्रसर करें। तो, पू. स्वामिजी जरूर स्वस्थ हो जाएंगे, क्योंकि उनको तो इसी बात का दु:ख है और सच्चे भक्त ही उनका जीवन हैं, प्राण हैं। फिर हमें धोखा देकर, प्रगट का सुख देना बंद कर देना उनके बस की बात नहीं। सो, निम्न प्रश्नों पर विचार करके जितनी जल्दी हम उनका हल निकालेंगे, उतनी ही शीघ्र हमारी शुद्धि होगी और तभी उन्हें पहचाना कहा जाए। वर्ना, हमारी सारी बातें दिखावे की ही रही और हम धोखाधड़ी करते हुए ही गिने जाएंगे। हम से तो अफ्रीका के सत्संगी और यहां की विधवाएं भी आगे निकल गए हैं। सो, अब कुछ सोचें और पू. स्वामिजी के पास निष्कपटभाव से बिना किसी अंतराय के हमारे ऐसे वर्तन से यहीं घर-घर में अक्षरधाम हो जाएगा। यही तो प्रगट की महिमा और सत्ता का सबूत है।

मुख्य बातें :

❋ हमने लिखाई चंदे की रकम दे दी है?

❋ हम सच्चाई या ईमानदारी से अपनी आय का दसवां या बीसवां भाग पू. बापा को सर्वज्ञ अंतर्यामी मान कर देते हैं?

❋ हम अपने पावन मंदिरों की ज़मीन, आय, आमदनी ठीक से संभालते हैं?

❋ हम अपने मंदिर को स्वच्छ व निर्मल भावनाओं से भरा-भरा रखते हैं?

❋ खाने-पीने, सोने एवं अन्य सुविधा हेतु हम अपनी जाति, वर्ण-कुल के अभिमान को आगे करके दूसरों से लड़ते तो नहीं?

❋ प्रगट प्रभु के पास, शुद्ध हृदय से, केवल आत्यांतिक कल्याण के लिए ही जाते हैं क्या?

❋ हम नियम, आज्ञा और उपासना में दृढ़ हैं क्या?

❋ यदि गल्तियाँ हो जाए, कोई प्रण टूट जाए, तो प्रगट प्रभु से माफ़ी मांग कर, अपना बर्ताव बदल देते हैं क्या?

- हमें मान, क्रोध, ईर्ष्या, बराबरी का भाव और कुसंग के शब्द छू तो नहीं जाते?
- अपने आपको प्रगट का भक्त बताते तो हैं, पर पू. बापा की मर्जी के मुताबिक़ ही वर्तते हैं? पू. बापा की आज्ञा के अनुसार तन, मन, धन से मंदिर में, जहां से उन्होंने अक्षरपुरुषोत्तम की उपासना की विजयध्वनि बजाने का निर्णय लिया है, हमने फंड देकर व सेवा करके, निष्कपटभाव से, सर्वस्व लुटाया है? या एहसान जताने की मानवृत्ति और बड़प्पन में खींचे गए हैं?

यदि सच में पू. स्वामिजी को पहचाना हो तो उपरोक्त सारी बातें होंगी ही नहीं। सो, प्रगट अक्षरधाम यहीं है, धामी और मुक्त भी यहां ही हैं। इस विनती के बाद यही देखना है कि वे कहाँ हैं और कब चमकेंगे! यह तो अमृत का सागर है। जितना लूट सकते हो, लूट लो। लुकाछिपी में तो रह ही जाओगे। बाद में पत्थर पर सिर मारना पड़ेगा। तो, सभी सत्संगी तन, मन, धन सर्वस्व से यथासंभव पू. स्वामिजी की मर्जी के मुताबिक़ ही वर्तें और चली आ रही जिम्मेदारियों से उन्हें तत्काल मुक्त करें, अन्यथा उनकी कृपा प्राप्त नहीं होगी – यह मेरा स्वानुभव है।

–दिसंबर, 1960

57

विपरीत माहौल और प्रारब्ध

हमारा देह, समाज, स्थान व बाह्य संजोगों, जीवात्मा को पूर्व के संचित कर्म, प्रारब्ध कर्म व क्रियमाण कर्म पर निर्भर रह कर, अलग-अलग भूमिकाओं में से गुज़रता बताता है। उस दौरान जो सुख-दुःख, मान-अपमान, हानि-लाभ, भय-शोक, आनंद-पीड़ा, शांति का अनुभव होता है, भोगा या प्राप्त किया जाता है, उसे मानव समाज में ज़्यादातर हालात का तक़ाज़ा या प्रारब्ध के नाम से जाना जाता है।

परंतु, प्रगट की निष्ठा और अनन्य आसरा कितना बलवान है, वह श्रीजी ने हमें मूर्तिमान करके दिखलाया है और परम पूज्य शास्त्रीजी महाराज एवं प्रगट गुरुहरि योगीजी महाराज द्वारा हमें अनुभव हुआ कि अतिशय बुरे प्रारब्ध किस प्रकार टल गए, विपरीत परिस्थितियाँ अनुकूल हो गईं। सत्संग में ऐसे कई दृष्टांत हैं जिन्हें सभी ने सुनें, देखें व अनुभव किए हैं। इसलिए इस बात की डीटेईल्स में नहीं जाता। परंतु, **जो स्वामिश्रीजी के अनन्य भक्त हों, परिपक्व निष्ठा वाले सत्संगी हैं, एकांतिक लक्षण-युक्त संत और सत्संगी का अतिशय माहात्म्य समझते हैं, सिर्फ उनके लिए प्रकृति-पुरुष से, कठिन हालात के बंधन से व माया से परे की ऐसी दैवी क्रियाएँ होती हैं। उन पर काल, कर्म, माया का भी तनिक प्रभाव नहीं होता।** वचनामृत प्र. 70, प्र. 72, मध्य 45, प्र. 58, मध्य 62 में इसकी पुष्टि की गई है। इससे भी अधिक, बड़े-बड़े महारथियों, करोड़पतियों और मेरे अपने जीवन में भी कई असाधारण प्रसंग बने ही हैं। परंतु, इससे ब्रह्मज्ञान और गुरु की महत्ता आंकी नहीं जा सकती। दरअसल, ऐसे प्रसंग तो जगत में लक्ष्मी, कीर्ति, सत्ता और वैभव के तराज़ू से तोले जाते और स्थित मध्यबिंदुओं को उर्ध्वगामी, प्रगतिकारक बनाने के लिए होते हैं। तत्पश्चात् 'अच्छे माहौल और बुरे प्रारब्ध' का फ़र्क़ समझ आएगा, जिसे अब हम देखेंगे।

जहाँ मारधाड़, लड़ाई, झगड़ा, चोरी, लूटपाट और निर्दोष लोगों पर गोलीबारी होती हो, न्याय व नीति बिल्कुल लुप्त हो गई हो, उसे बुरी जगह कहा जाता है। महाराज एवं बड़े-बड़े साधु का आदेश है कि ऐसी बुरी जगह से भाग जाना–कहीं और चले जाना, ताकि शांति से स्वामिश्रीजी की सेवा-भक्ति हो सके। महाराज तो भक्तों

की रक्षा अवश्य करेंगे, लेकिन प्रकृति के प्रकोप एवं बुरे कर्मों के स्तर आने पर, महाराज की अंतर्यामी शक्ति जब संहारलीला चला कर, पापियों को सबक सिखाती है, तब उसकी चपेट में हम न आ जाएँ, इसलिए वहाँ से चले जाने की आग्रहपूर्वक सलाह दी है। और... बुरा काल यानि कुदरत बिगड़े, महाभूत जल के रूप में खींच जाए, अग्नि के रूप में जलाए, वायु, आंधी, तूफान, बवंडर के रूप में क्षति पहुँचाए, टिड्डी हानि पहुँचाए, अकाल पड़े, बिजली गिरे, प्रचंड रोग फैले, पानी खराब हो तथा अनंत आधि, व्याधि, उपाधियाँ खड़ी हो जाएँ–इसे विपरीत काल माना जाता है। कलियुग की तमोगुणी क्रियाएँ ही होती रहती हैं। कहीं भी शांति, आनंद, सुख, प्रेम, दया, स्नेह, लगाव, सहिष्णुता, धैर्य, क्षमा, अहिंसा इत्यादि सद्‌गुण दिखाई नहीं देते और काल, बुरे प्रारब्ध के स्तर और माया का ज़ोर-साम्राज्य चलता ही रहता है। अतः अच्छा माहौल हो, वहाँ चले जाना।

सच तो यह है कि केवल सच्चे सत्पुरुष के सान्निध्य में ही सदैव अच्छा माहौल व अच्छा प्रारब्ध है। सच्चे सत्पुरुष के समक्ष काल, कर्म, माया थर-थर कांपते हैं; अतः वहाँ सनातन शांति, आनंद, सुख और अनुपम प्राप्ति का अनुभव होता है। सो, जहाँ ऐसे सत्पुरुष विचरण करते हों या सत्पुरुष अपनी मरज़ी से कहीं जाने की आज्ञा करें, तो उनकी आज्ञानुसार वर्तने से माहौल अनुकूल हो जाता है। यह बात शास्त्र द्वारा कथित है। गीता, उपनिषद्, भागवत तथा वचनामृत में इसका उल्लेख है और इस बात को जीतेजी अनुभव करके आज़माया हुआ है। सो, श्रद्धा और विश्वास से सत्पुरुष की जितनी आज्ञा का पालन करेंगे, उतने बुरे हालात ख़तम हुए माने जाएं। वचनामृत मध्य 51, का. 11, सा. 10-11, जेतलपुर 5 में महाराज ने कहा है कि यदि उबरने का कहीं से कोई भी रास्ता न होगा, तो भी महाराज और स्वामी रक्षा करते हैं।

बुरे माहौल व काल की भाँति बुरी स्थूल देह और गुणमयी देह की, इंद्रियों-अंतःकरण की क्रिया का है। हमारी देह में सत्, त्रेता, द्वापर और कलियुग चौबीस घंटे प्रवर्तते हैं। वृत्तियों के अनुलोम होने से स्त्री, स्वभाव, देहाभिमान और धन की कामना, लालसा की अतृप्ति में से ही बुरे हालात खड़े होते हैं और मन, चित्त, अहम् की पीड़ाएँ–आधि, व्याधि, उपाधियाँ, सत्पुरुष का आसरा छोड़ कर उनकी आज्ञा का उल्लंघन करने पर, दैवी प्रकोप, अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव के रूप में सभी को परेशान करती हैं। सो, एक ही अनन्य आसरा दृढ़ करके, आज्ञा पाल कर, अंतर के बुरे हालात को सुधार लेना चाहिए। 'दास के दुश्मन हरि कभी होते नहीं, वे जो करेंगे भला ही होगा।' यह है विपरीत माहौल और प्रारब्ध का सूक्ष्म विवरण।

अब आध्यात्मिक विपरीत माहौल और प्रारब्ध की देह का रूप व फल देखें, जिससे सत्संग में जो कई गलतफहमियाँ फैल रही हैं, वे दूर हो जाएंगी, ऐसी आशा है।

सत्पुरुष मिले हैं, आसरा भी अनन्य है और एकांतिक के लक्षण से युक्त भी हैं, फिर भी विपरीत हालात और प्रारब्ध के कर्म के स्तर सत्संगी को बाधारूप क्यों होते हैं? वचनामृत जेतलपुर 5, मध्य 45, प्र. 58 में महाराज ने कहा है–

'बुरे से बुरा प्रारब्ध भी अच्छा हो जाए, रंक से राजा बन जाए और उबरने की गुंजाईश न हो, वहाँ भी भगवान रक्षा करते हैं और अनन्य निष्ठा वाले भक्त पर तो काल, कर्म और माया का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता।' वचनामृत प्र. 72 में यह भी कहा है कि यदि निष्ठा परिपक्व हो, तो काल और कर्म बुरा करना भी चाहें तो भी वे ऐसा कर नहीं सकते।

सत्संगी के 'भजन करने में जितनी कसर होगी, प्रगट स्वरूप को पहचानने में जितनी कसर होगी और बाह्यदृष्टि से गरीब दिखते सामान्य हरिभक्तों के प्रति अहंयुक्त वर्ताव, बड़प्पन का दिखावा करेंगे और मन से अनजाने में अभाव या अवगुण लेंगे या द्रोह करेंगे', तब तो स्वयं श्रीजी भी उसकी रक्षा करने के लिए निरुपाय हो जाएंगे। दादाखाचर, झीणाभाई व बड़े-बड़ों को (प्रभु ने) थोड़ा शिकंजे में लिया, इतने में तो सभी के अंतर भांपे गए। **ऐसे मुक्तों के लिए कठिन हालात होते ही नहीं। दरअसल, महाराज स्वयं अपने सर्वोपरि स्वरूप की पहचान कराने के लिए और संत व सत्संगियों की प्रगट दिव्य महिमा-संबंध की महत्ता समझाने के लिए ऐसी परिस्थितियाँ खड़ी करते हैं।** तब खूब धीरज रखते हुए, चिंता महाराज के ऊपर ही छोड़ देनी चाहिए, जिससे वे जीव के सनातन हित में जो होगा, उसी प्रकार उसकी रक्षा करेंगे ही करेंगे। सो, झेले नहीं जाएं ऐसे किसी भी प्रकार के असाधारण विक्षेप, पीड़ा या आपदा यदि आ पड़े, तब निम्न दो बातें भीतर में तलाशना–

(1) 'दृष्टा या सत्पुरुष ही मेरा स्वरूप हैं'–यह समझ दृढ़ करते हुए कोई राग, अभिमान, लोक, भोग या देह या सत्संगी का अभाव तो नहीं लिया, उनका अवगुण तो नहीं देखा या तिरस्कार तो नहीं किया, न? देहभाव में कितना वर्ते? किन वासनाओं की अतृप्त वृत्तियों का पोषण किया? किसे अंतर में तुष्टि दी? चैतन्य के प्रकाशक महाराज आत्ममंदिर में निर्गुण अंतर्यामी शक्ति से व्यापक हैं, वे मूर्तिमान भी हैं; वे तुम्हारी क्रियाएँ, तुम्हारे द्वारा की गई सेवा और भक्ति से वाक़ई अंतर से राज़ी होते हैं? शांत चित्त से एकांत में बैठ कर, आधा घंटा नामी

सहित नाम लेंगे तो इसका उत्तर मिलेगा और प्रेरणा भी अवश्य होगी। यह अनुभव की बात है, अतः प्रगट विचरते स्वरूप का स्मृति सहित भजन करके आज़मा कर देखना।

(2) वचनामृत का. 1, 7, 11, व. 11, लोया 7, 12 के अनुसार, महाराज को तो अपने स्वरूप की पहचान करवा कर, जीव को मूर्तिमान दिव्य सुख-ब्राह्मीस्थिति करवा कर, भगवान का आकार देने के लिए जीतेजी पिल्लु से भ्रमरी बनाना है। अतः प्रेम से अनन्य निष्ठा सहित जब निरंतर भजन करने लगोगे, तब महाराज व संत अतिशय राज़ी होंगे और जैसे म्यान में तलवार खड़कती है, उसी प्रकार सत्पुरुष प्रसन्नता के रूप में देह और आत्मा को बिल्कुल अलग करने, छत्तीस डंक मार कर, सीसे को गरम करके आकार देने के लिए ड़ालते हैं और मूर्ति घढ़ी जाती है, वैसे मूल स्वभाव, प्रकृति और वासना को छुड़वा कर, उसमें ब्रह्मज्ञान का अमृत रस भर कर, भगवान के सुख की अनुभूति करवा कर जीतेजी ही अखंड प्राप्त करवा कर, उसे प्रकाशित करके, अन्यों को भी प्राप्ति करवाते हैं।

जिस जीव का ऐसा अनहद्, अपार सुकृत उदय हुआ हो, जिसे सत्पुरुष की अपार प्रसन्नता मिली हो, जिस पर अखंड कृपा और दृष्टि रहती हो, उसे ही ऐसा पात्र बनाते हैं और 'सेम्पल' बना कर अधिकार सौंपते हैं। तत्पश्चात् अपनी मूर्ति की अपार महिमा समझा कर, प्रत्यक्ष योगमाया, ब्रह्मरूप होकर प्रकाश का भेद देखने की अलौकिक क्रिया साक्षात्कार - जिस प्रकार अनादि मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामिजी ने पू. भगतजी महाराज और पू. जागास्वामी को साक्षात्कार कराया, उसी प्रकार पू. शास्त्रीजी महाराज भी हेत में सराबोर करके तत्त्वनिष्ठा दृढ़ करवा कर, अक्षरपुरुषोत्तम की सर्वोपरि उपासना समझा गए।

फिलहाल भी ब्रह्मज्ञान का प्रकरण जारी है और नया राजा है। ब्रह्मज्ञान का नया अभ्यास करने वाले अपनों को मारकूट कर भी, वचनामृत मध्य 45-30 के अनुसार ब्रह्मरूप करेंगे ही। तो, समझदारी से यह कर लेना, ताकि डंक खाने न पड़ें। दरअसल, यह तो जीव को अपने ऐश्वर्य, सुख, सत्ता और सर्वोपरि माया से पराभूत न होना पड़े और विपरीत माहौल व प्रारब्ध न नड़े, ऐसा अधिकार देने की अनहद् कृपा का परिणाम है। जो अक्षरधाम के मुक्त होंगे, वे ही पहचान कर तत्त्व अभिमुख होकर, खुशी से सहन करके जीवतदाश्रित अनुभव से दिव्य आकार प्राप्त करके, निर्बंध, निर्विकार, निर्लेप और

निर्गुण होकर, वचनामृत मध्य 66, का. 1, 7, लोया 7, अंत्य 28, 11 तथा 39 के अनुसार, स्वामीसेवक भाव से अखंड दिव्य सुख प्राप्त करेंगे और अनादि मुक्त के रूप में वर्त कर, भजन करते हुए, अन्यों को भी यूँ सर्वोपरि महाराज और मूल अक्षर गुणातीत की निष्ठा दृढ़ करवा कर, जीतेजी ही अक्षरधाम की प्राप्ति का रहस्य समझाएंगे – दृष्टांत रूप बनेंगे।

वासना का क्षय और प्रकृति का परिवर्तन करने हेतु, जीतेजी ब्रह्मरूप करने का व्यापार प्रगट ब्रह्मस्वरूप गुरुहरिश्री योगीजी महाराज मूर्तिमान कर रहे हैं और गोंडल अक्षरदेरी के ऐसे गुणातीत सेम्पल – पू. नंदाजी, विनायकराव साहेब, चंपकलालभाई, खेंगारजीभाई, सी.टी. पटेल, अंबालालभाई, डाह्याभाई भादरणवाळा, हर्षदभाई, बाबुभाई, छगनभाई, चंद्रकांत तथा हरमानभाई, धीरूभाई, अजागीया साहेब, अर्जुनभाई, शंकरलालभाई इत्यादि को तैयार करके, ब्रह्मज्ञान का अधिकारी बनाया है। विपरीत माहौल उनके माथे पर है ही नहीं; अतः सभी ऐसे बनें – यही प्रार्थना है।

–मार्च, 1961

मनुष्य में जैसे-जैसे ज्ञान का विकास होता गया, वैसे-वैसे उसका मध्यबिंदु बदलता गया और तदनुसार उसका लक्ष्य भी बदलता गया।

परंतु, हर एक के लिए अंतिम कक्षा का मध्यबिंदु 'अनादि मूल ब्रह्म' हैं। सो, जब उनके रूप होकर, उनके साधर्म्य को पाकर, उनके साथ एकत्व का अनुभव करके, भगवान की मूर्ति में अखंडभाव रहते हुए उसे साक्षात्कार से प्राप्त करेंगे, तभी अंतिम लक्ष्यबिंदु साधा कहा जाएगा।

ऐसे गुरुहरिश्री प्रगट ब्रह्मस्वरूप योगीजी महाराज हमें साक्षात् मिले हैं, उनके द्वारा हमें अक्षरधाम का सुख प्राप्त हो रहा है।

स्वामिश्री सभी को ऐसी प्रेरणा व अंतर्दृष्टि कराएँ – यही अभ्यर्थना।

– मार्च, 1961

58

वृत्तियों के वेग और गढपुर का उत्सव

मानसशास्त्रियों ने अनंत विभिन्न प्रकार की मनोवृत्तियों के वेगों, स्थिरता और शुद्धिकरण के वर्णन को नियमित करने की वैज्ञानिक रीति से चेष्टा की है, परंतु इसका साक्षात् दर्शन और वास्तविक अनुभव तो गढपुर कलश जयंती के महोत्सव जैसे किसी भव्य उत्सव पर ही किया जा सकता है। भावना, कर्तव्य और स्पष्ट विचारधारा का दर्शन सामूहिक जीवन में ही संभव होता है। इससे भी अधिक, प्रसंगों पर, परिस्थितियों के तनिक भी बदलने पर, संजोगों में परिवर्तन होने पर या देहभाव पर ठेस लगने की स्थिति में एवं वृत्तियों के वेग में बाधा आने पर प्रकृति के प्रचंड स्पंदन गुणमय स्वरूप रूप में प्रगट हो जाते हैं; क्षणभर में निजी स्वभाव को भूल कर, हम अंटशंट बोल जाते हैं और जहाँ दोष न हो वहाँ भी दोषारोपण करने से चूकते नहीं। ये सभी वृत्तियाँ-वासना, स्वभाव या प्रकृति के ही दोष हैं और इन सब को नियंत्रण में रख कर सतत सावधानी रखते हुए स्वस्वरूप का ज्ञान दृढ़ करके, भगवान की प्राप्ति करना ही सच्चे सत्संग का फल है। यही पराभक्ति है और एकांतिकभाव भी ऐसे गुरुमुखी सत्संग से ही सिद्ध होता है। सो, यह बात निरंतर याद रख कर, दृढ़ करने की आवश्यकता है।

शास्त्रों में उल्लिखित दृष्टांतों से हमें ज्ञात होता है कि समूहजीवन की कठिन कसौटी में कई कितने सत्त्वगुणी मुमुक्षु, अत्यंत तमोगुणी बने हैं। मानो पांच जने उसे मानने लगें या जैसे कि श्रीजी महाराज ने बताया – जीव वृद्धि को पाता है, बड़प्पन को पाता है, तब ऐसी अवस्था में उसका स्वरूप ही बदल जाता है और प्रसंग संपन्न होने के बाद या अधिकार छूटने पर, वह पहले जैसा विनम्र बन जाता है। झूठ बोलने वाले, धर्म व नीति से विपरीत आचरण करने वाले ढोंगी, लुटेरे या धनवान अपने मिथ्याभिमान में कुछ न कुछ गलत करते रहते हैं, पर जब किसी सभा में प्रमुख के रूप भाषण देते हैं, तब वे आग्रहपूर्वक न्याय और नीति की ही बातें करते होते हैं। ऐसी धोखाधड़ी का या प्रकृति के अधीन रहे हुए जीव का रूप समूह में प्रगट हो जाता है।

(अ) कई कसनी सहते हैं और कई कसनी देते हैं।

(ब) कई सिर्फ कसनी देते हैं।

(क) कई सिर्फ कसनी सहते रहते हैं।

कसनी सहनी और गुणग्राहक बन कर दिव्यजीवन जीने की कला, ऐसे उत्सवों में सामूहिक जीवन में रहने पर सीखने को मिलती है। हमारा मन व चित्त कितना अत्यधिक चपल, चंचल, अस्थिर व विवश है – वह यदि साक्षी रूप से तटस्थ होकर अंतर्वृत्ति करके भीतर को टटोलेंगे, तो यह सब स्पष्ट दिखाई देगा। अंतःकरण की गहराई में दृढ़ हुई मान्यताएँ, आदत, ग्रंथियाँ या अव्यक्त राग प्रकट होकर अवश्य बाहर आ जाते हैं। ऐसे प्रसंगों में अत्यंत धीरज रख कर, शांति से दो दिन यदि कसनी सह लें, तो सत्पुरुष की कृपा के पात्र बन जाते हैं। बेशक, आमंत्रित करने वालों को खूब ध्यान रख कर सुविधाएँ देनी चाहिए। लेकिन 'साधक' की दृष्टि से हमारा फ़र्ज़ है कि

(1) कुछ प्राप्त करने के लिए (2) सेवा करने के लिए (3) देहाभिमान टालने के लिए और

(4) जीव को बलवान करने के लिए हम उत्सव में जाते हैं – यह ख्याल रखना चाहिए।

परोक्ष के तीर्थ स्थानों में तो अपनी सारी व्यवस्था यात्री स्वयं कर लेते हैं। ठहरने या भोजन की भी कोई व्यवस्था नहीं होगी, फिर भी हिमालय, बर्मा जैसे स्थानों में तो लोग तपस्या करते व दुःख सह कर भी तीर्थयात्रा करने के लिए जाते ही हैं।

इसके मुक़ाबले अपने गुरुवर्य सच्चे **संतपुरुष के दुर्लभ दर्शन, सुख-समागम का अनमोल लाभ प्राप्त करने में हम तो भला क्या कष्ट झेलते हैं? कुछ भी नहीं।** अतः हरिभक्त स्वयं ही सेवारूप बन कर ऐसे उत्सवों में कसनी सह लें। यदि किसी की कहीं कोई भूल होती हो, तो उसे अपनी ही मान कर, आत्मबुद्धि दृढ़ करके, भविष्य में सुंदर सुविधा का माहौल खड़ा करने के लिए अवश्य कटिबद्ध होना चाहिए।

वृत्तियों के वेग को रोकने में परेशानी लगती है और बाद में पछतावा भी होता है। स्थितप्रज्ञ रहने की सावधानी बरतें, तो गुरुजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) राज़ी होकर अनुग्रह करेंगे, जिससे जीतेजी ही हमें दिव्य सुख प्राप्त होगा। दूसरी बात, अब वक्त का तक़ाज़ा है कि जो अहंता-ममता हम संसार के व्यवहार में रखते थे, उसे सत्संग में अपने अहं व मिथ्या ममत्व के लिए न रखें; बल्कि आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त करने हेतु व आत्मारूप वर्त कर, भगवान को सुलभता से अखंड धारण कर लेने में लगाएँ और स्वामिश्री (गुरुहरि योगीजी महाराज) से प्रार्थना करके सेवा में लग पड़ें। तब, संतवर्य योगीजी महाराज की दृष्टि पड़ने से मायिकभाव टल जाएगा और जीव ब्रह्मरूप होकर परब्रह्म में जीतेजी ही जुड़ जाएगा।

स्वामिश्रीजी सभी हरिभक्तों को दिव्यजीवन की प्राप्ति व एकांतिकभाव दृढ़ कराएँ – यही नम्र अभ्यर्थना है।

– जून-जुलाई, 1961

59

कसनी सहना-देना

[...दादाखाचर कसनी सहते थे, इसलिए श्रीजी महाराज ने उनकी प्रशंसा की है।
स्वामिश्री (गुरुहरि योगीजी महाराज) भी कहते-
वर्तमान समय में भक्त की संक्षिप्त व्याख्या होगी - **'जो कसनी सहन करे वह भगत।'**
श्रीजी महाराज जहाँ पधारते, वहाँ सत्संगी बड़ी मात्रा में एकत्रित होते ही थे; सत्संगियों का आना-जाना खूब रहता।
कसनी में से खरा उतर कर निहाल होने का यही मौका होता था।
यही बात फिलहाल स्वामिश्री के विषय में भी कही जा सकती है।
फिर भी, इस विषय पर प्रकाश डालता और ब्रह्मरूप होने की करामत सिखाता
'स्वामिनारायण प्रकाश' के लिए श्री दादुभाई द्वारा भेजा गया निम्न लेख
वाचकों के लिए अधिक प्रेरणादायी सिद्ध होगा।

- संपादक]

गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज और गुणातीत बाग के सभी संतों ने **महाराज से मिले** और **संत से मिले** मुक्तों के लक्षण एवं स्थिति का वर्णन करते हुए, भक्त भगवान की मूर्ति का अलौकिक सुख कैसे प्राप्त कर सकते हैं यह स्पष्ट किया है।

वर्तमान समय में संतवर्य योगीजी महाराज भी **'निर्दोषबुद्धि ही पराभक्ति है'** - यही सनातन सिद्धांत पुनः-पुनः आग्रहपूर्वक समझा रहे हैं। श्रीजी महाराज ने भी वचनामृत में बताया है कि भगवान के भक्तों की सेवा और उनका समागम ही दिव्य भक्ति को सिद्ध करने का परम साधन है। वचनामृत मध्य 28 तथा अंत्य 2, वड़ताल 5, 11, 3, मध्य 63 आदि में भी भगवान के भक्तों की महिमा को अपरंपार बता कर, **'हम तो सत्संगी के सत्संगी हैं'** यूं महाराज ने पर्वतभाई की महिमा समझाई और आदर्श उदाहरण हमारे लिए रखा है।

वर्तमान समय में संतवर्य योगीजी महाराज भी हमें संतों एवं नए योगेश्वरों की वैसी ही महिमा को समझा रहे हैं। उनके प्रति एवं समग्र सत्संग के प्रति हमें वास्तव में आत्मबुद्धि और प्रीति होगी, तभी हमारा आध्यात्मिक विकास हो सकेगा, यह सैद्धांतिक बात है। ऐसे रहस्य की बात सिद्ध करने हेतु सभी को स्वधर्मयुक्त कसनी सहना अनिवार्य है और तभी बड़े पुरुष की दया होती है।

कई जीवों को केवल कसनी देने की आदत ही होती है; तो कई मनमुखी क्रियाएँ करते हुए कसनी सहते हैं। परंतु, गुरुमुखी ही रह कर सत्संग की कसनी में रहने वाले विरले ही होते हैं।

वचनामृत 76 के अनुसार गुरुवचन की कसनी में रहेंगे, तभी सत्पुरुष की दृष्टि पड़ेगी और तभी **पक्का सत्संगी** बन पाएंगे। वर्ना, निष्ठा एवं संत के प्रति हेत और श्रद्धा होने के बावजूद भी हठ, मान और ईर्ष्या के भाव उठते ही रहते हैं। फलस्वरूप एकांतिकभाव में बड़ी कसर आ जाती है। प्रगट ब्रह्मस्वरूप योगीजी महाराज हमें **'सुहृदभाव'** का महान ब्रह्मसूत्र पल-पल सिखा रहे हैं। इस ब्रह्मसूत्र को सिद्ध करने हेतु हर एक को सत्संग की कसनी सह कर, गुण लेने की आदत डालनी चाहिए। तभी संत के अंतर की सच्ची प्रसन्नता मिलती है। अतः सभी को स्वयं अपना गुरु बन कर अंतर्दृष्टि करनी चाहिए कि– 'वह कितनी कसनी सह लेता है और तब उद्वेग, क्रोध और व्यथा आदि से परे रहते सिर्फ गुणग्राही ही रहता है या नहीं–यह परखने का लक्ष्य है।'

मनमाने ढंग से गुरु की कसनी सहने वाले कई होते हैं; ऐसी कसनी का बीजबल बनता है। परंतु, कसनी सहते हुए गुण ही ग्रहण करने वाले को तो स्वामिश्रीजी करोड़ गुणा फल देते हैं–ऐसा हमारे गुरुजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) का ठोस कहना है। तो, ब्रह्मरूप होने की ऐसी सरल करामत सिद्ध करने हेतु सभी नम्र प्रार्थना करें।

वे जीतेजी ही अक्षरधाम का सुख अवश्य देंगे–इस तथ्य की प्रतीति पू. योगेश्वरों के विकास के मद्देनज़र अब सभी को ज़रूर होगी और ऐसा हो इस हेतु हम सभी स्वामिश्रीजी से प्रार्थना करें, यही अभ्यर्थना।

–अगस्त, 1961

60

डाह (असूया)

श्रीजी महाराज ने जीव के श्रेय के लिए अनेक बातें करी हैं, परंतु चार बातें जीव का जीवन बताई हैं; उनमें सुहृदभाव ही सर्वोत्तम है। अन्य तीन उसी में समाविष्ट हो जाते हैं और सुहृदभाव से जिएँ, तो कैसे भी स्वभाव टल जाकर जीतेजी अक्षरधाम का सुख प्राप्त होता है, ऐसा श्रीजी महाराज ने विशेष ज़ोर देकर कहा है।

इसी प्रकार, मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामिजी ने अपनी बातों में कहा है –

'भगवान मिलने के बाद सावधान रहना और हठ, मान तथा ईर्ष्या को छोड़ देना।'

वचनामृत में महाराज ने बताया है – *''बड़े-बड़े परमहंसों को भी मानरूपी दोष बाधारूप हुआ है और उसमें से **'ईर्ष्या'**, क्रोध, मत्सर और असूया उत्पन्न होते हैं।''*

महाराज ने तो इतना तक कहा है –

सत्संग में रहते हुए व तीव्र श्रद्धा एवं अतिशय धर्मनिष्ठा होने के बावजूद भी ऐसे सूक्ष्म दोष शेष रह जाते हैं, उसका मूल कारण 'देहाभिमान' और 'सगे-संबंधी के प्रति' प्रीति ही है।

प.पू. संतवर्य योगीजी महाराज ने वचनामृत सारंगपुर 8 समझाते हुए बताया था –

*ऐसे अनेक विकारों का राजा **'मत्सर'** है और उससे भयंकर **'डाह (असूया)'** है।*

तो, हम सभी को संत समागम से ऐसे अति सूक्ष्मतर दोष टालने का प्रयत्न करना चाहिए। सो, इन सभी का स्वरूप व लक्षण देखें।

मान में से क्रोध और ईर्ष्या का उद्भव होता है और ईर्ष्या में से मत्सर एवं असूया/डाह उत्पन्न होते हैं। वचनामृत प्रथम 71 में मातरा धाधल के प्रश्न एवं सारंगपुर 8 में चैतन्यानंदस्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीजी महाराज ने ईर्ष्या का स्वरूप व लक्षण बताते हुए कहा है –

'ईर्ष्यालु जिससे ईर्ष्या करता है, उसकी तरक्की वह सह नहीं पाता और उसे हानि होने पर वह खुश होता है। और तो और, अपने से बड़े का सम्मान होता भी वह देख नहीं पाता। और... अत्यधिक ईर्ष्यालु तो किसी का भी बड़प्पन देख नहीं पाता।'

वचनामृत कारियाणी 6 में श्रीजी महाराज ने मत्सर का अर्थ समझाते हुए कहा है –

'मत्सर वाला तो कोई सेवा करे और कोई ग्रहण करे, उसमें भी बेमतलब जलता रहता है और किसी का भी उत्कर्ष सह नहीं पाता। कोई अच्छी प्रवृत्ति भी होती हो, तो भी देख कर जलता रहता है। अर्थात्, मत्सर वाला तो 'स्त्री, धन और रसास्वाद' हेतु अभाव-अवगुण देखता रहता है और यह सूक्ष्म दोष है।'

ईर्ष्यालु तो पहचाना जाता है, सो सत्संग में सभी उससे सतर्क रहते हैं। परंतु, मत्सरयुक्त व्यक्ति पहचाना नहीं जाता और **'डाह (असूया)'** तो इससे भी भयंकर दोष है, जिसका ख्याल ही नहीं पड़ता। डाही तो सत्संग में सेवा करते हुए साथ में रह कर सत्पुरुष का गुणगान भी करता है, पर आख़िर में उनमें दोष दिखा कर, हमें बॅक फुट पर ले जाकर, उनका समागम करने से रोकता है। यूं असूया ख्याल नहीं पड़ती। जाने-अनजाने में, सत्संग में ऐसे कुसंग की वृद्धि होती है, पर जब बड़े पुरुष कुसंग फैलाने वाले का वास्तविक स्वरूप खोल देते हैं, तब सभी को ख्याल पड़ता है।

अतः अभाव-अवगुण की बातें करने वाले से खूब सतर्क रहना चाहिए, क्योंकि ऐसे कुसंगी के संग रहने से हम सत्संग से गिर जाएँगे। इससे बचने के लिए बड़े संत से प्रार्थना करनी चाहिए, ताकि वे सच्चे का संग देकर, सत्संग का दिव्य सुख प्राप्त करवाए व किसी के भी अभाव की बातों में पड़ने न दें।

असूया वाले संत कई मुमुक्षुओं को मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामिजी का समागम करने के लिए जूनागढ़ जाने नहीं देते थे। इसी प्रकार, संतवर्य शास्त्रीजी महाराज का समागम करने हेतु आते भक्तों को तथाकथित धर्मी और केवल बाह्य तौर पर ही शिक्षापत्री का पालन करने वाले त्यागी, सच्चे और साधुता के सर्व गुण से संपन्न महान संत (शास्त्रीजी महाराज) के पहले गुण गाकर, बाद में चालाकी से उनमें दोष दिखाते हुए कहते कि वे बहुत अच्छे हैं, लेकिन संप्रदाय से अलग हैं, सो उनके पास जाया नहीं जाता। भगवान की प्रासादिक मूर्तियाँ यहीं हैं, उन्हें ही हम पकड़े रखें; साधु को यूं माने-करे नहीं। कई तो कहते कि शास्त्रीजी महाराज का समागम करने के लिए हज़ारों भक्त जाते हैं और सभी को वे शांति प्रदान करते हैं; दोष टाल कर भगवान की मूर्ति का दिव्य सुख देते हैं। तो दूसरी ओर बाहर के अन्य कहते कि वे तो ऐश्वर्य दिखाते हैं।

यूँ, सच्चे महान संतों के गुण गाने व बताने के बाद उन पर दोषारोपण करके, समागम करने के लिए जाने न दे वही **'असूया'** रूपी दोष कहा जाए। इसी वजह

से वे बड़े हरिभक्त में भी अवगुण बता कर, उसमें दिखते एकाध दोष का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन करके, उसके अनेक सद्‌गुणों को दबा कर उसे सबकी नज़रों में गिरा देते हैं।

* गुरुवर्य योगीजी महाराज ने हमारे सत्संग में ऐसे सूक्ष्म दोष और विकार टालने का सरलतम मार्ग – **'निर्दोषबुद्धि'** दृढ़ करके, भगवान और संत के गुणगान करने में बताया है। इसमें कोई परिश्रम नहीं पड़ता और जीव जीतेजी ही ब्रह्मरूप होकर भगवान की प्राप्ति कर सकता है।
* ऐसे अतिशय दयालु और कृपालु **'संतवर्य को यथार्थ रूप में समझ कर, उन्हें पहचान कर, उनका सेवन कर लें'**, तो वचनामृत मध्य 7, 63, 28, अंत्य 2, प्रथम 58 इत्यादि के अनुसार उनकी कृपा दृष्टि से विकार मात्र तत्काल टल जाकर, एकांतिकभाव दृढ़ हो जाएगा। सभी को ऐसी दिव्यभावना दृढ़ हो – यही स्वामिश्रीजी से नम्र प्रार्थना है।
* असूया को टालने के लिए संत के बताए मार्ग पर चलें और **'केवल संत की ही अनुवृत्ति (मरज़ी)'** के अनुसार दिव्यभावना से जीवन जिएं, तो बड़े सूक्ष्म दोष तत्काल टलते हुए दिखाई देते हैं।

योगेश्वरों के परिश्रम से अब हमें अंतर्दृष्टि करने की दिशा मिली है, तो नम्रभाव से हो सके इतनी सेवा गुरुचरणों में करके आत्यंतिक कल्याण साध लें। ऐसा सरल, सुगम और सर्वोपरि मार्ग सभी अपनाएँ – यही अभ्यर्थना।

* उद्धवजी की भाँति **'हरिभक्तों की अपार महिमा'** समझने वाले को भी, असूया बाधित नहीं हो सकती। सो, संत की कृपा प्राप्त करके यह साधन भी सिद्ध कर लें, ताकि जीव अतिशय बल पाकर दिव्यभाव ही दृढ़ करने लगे।

गुरुजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) ने जो ये सरल उपाय बताए हैं, उन्हें दृढ़ करने का सभी को बल मिले – यही प्रार्थना!

–सितंबर, 1961

***

61

युगधर्म, स्वधर्म और ब्राह्मणत्व

भक्तभाव, साधुता या निर्मानी संत की स्थिति एक ऐसी दिव्य आध्यात्मिक भूमिका है, जिसे मायिक दृष्टि से नहीं समझा जा सकता। युगपुरुषों ने पृथ्वी पर बार-बार प्रगट होकर युगधर्मों का सर्जन किया है। समयानुसार सच्चा ब्राह्मणत्व प्रगटा सकें व भागवत धर्म सिद्ध कर सकें, इस हेतु आमूल बदलाव ला कर हरेक के स्वधर्म तय कर देते हैं, ताकि जीतेजी ब्राह्मीस्थिति सुलभता से प्राप्त कर सकें।

इसी प्रकार वर्णाश्रम धर्म और अतिथि धर्म का मोक्ष या आत्यंतिक कल्याण से तनिक भी संबंध नहीं और श्रीजी महाराज ने भी भागवतधर्म की अपेक्षा ऐसे युगधर्मों को अत्यंत तुच्छ, निर्बल और इस लोक पर्यंत के लिए ही गिना है। वचनामृत मध्य 21, 46 एवं अंत्य 21 के अध्ययन द्वारा यह स्पष्ट समझा जाएगा। अनादि मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामिजी ने भी प्रकरण 1 की 186वीं बात में सोमवल्ली का पान करने वाले सौ जन्म के शुद्ध ब्राह्मण की तुलना में भगवान के श्वपच भक्त को अधिक गिना है। शास्त्रों में भी जाति, वर्ण या आश्रम के भेदभाव के बिना, ऐसे भक्त को ही यज्ञ करने का अधिकारी माना गया है। शास्त्रों में उल्लिखित है कि पंपा सरोवर पर पानी भरने आई सबसे निम्न वर्ण की शूद्र नारी शबरी को महा अभिमानी ऋषि द्वारा पाँव पर पत्थर मारने से जलाशय का पानी लहू में बदल गया था। ऋषियों के आग्रह पर प्रभु राम द्वारा सरोवर में चरण डालने पर भी लहू पानी में परिवर्तित नहीं हुआ। भक्त की महिमा समझाने हेतु रामचंद्रजी ने आख़िर जब ऋषियों द्वारा शबरी को बुलवा कर, उनसे क्षमायाचना करवाई और... शबरी के पैरों में लगी मिट्‌टी सरोवर में गिरी, तब लहू पानी में बदल गया! गुरुवर्य प.पू. शास्त्रीजी महाराज एवं गुरु कृष्णजी अदा ने भी स्पष्ट बताया है कि साक्षात् ब्रह्मस्वरूप अनादि महामुक्त पू. भगतजी महाराज तथा पू. जागास्वामी को जो जातिभाव से देखेंगे, वे वचनद्रोही व गुरुद्रोही कहलाएंगे और नरक में जाएँगे। इनके प्रति सिर्फ दिव्यभाव ही दृढ़ करके, श्रीजी महाराज को सर्वोपरि समझ कर ब्रह्मभाव से भजन करें।

ऐसा एकांतिक धर्म सभी के लिए सुलभ कर दिया है।

ऐसी अमूल्य विरासत को संजो कर, गुणातीत ज्ञान सिद्ध कर लेने वाले भक्त में गुरुकृपा से, जीतेजी ही सच्चा 'ब्राह्मणत्व' प्रगटता है। दिव्यता प्राप्त होती है और भगवान के सुख का अनुभव होता है। इस मंतव्य के समर्थन में शास्त्रों एवं याज्ञवल्क्य की मीताक्षरा टिप्पणी का दृष्टांत प्रस्तुत है जो अधिक स्पष्टता करेगा। अतः इस पर विचार करने की विनती है।

श्रीजी महाराज ने 'शिक्षापत्री' में आग्रहपूर्वक कहा है कि याज्ञवल्क्य स्मृति-'मीताक्षरा' टीका के आधार पर ही आचार, व्यवहार और प्रायश्चित् के निर्णय लेने चाहिए। इसी प्रकार, शिक्षापत्री के श्लोक 120 में देश, काल, अवस्था, द्रव्य, जाति और सामर्थ्य के अनुसार निर्णय लेने के लिए कहा गया है। जब-जब स्मृतियों के मंतव्यों और उनके मुताबिक़ के स्वधर्मों में शंका उत्पन्न हुई है, तब श्रुति व सत्पुरुष के वचनों को मान्य किया गया है और उसे ही सच्चा धर्म माना गया है। वचनामृत मध्य 26 के अनुसार भागवतधर्म में यदि स्वधर्म बाधारूप हो, तो उसे छोड़ कर, उसे गौण करके वचनामृत अत्यं 11 में श्रीजी महाराज के कथनानुसार, आत्मबुद्धि वाले भक्त को निर्विकल्प समाधि जैसा सुख दिया है और सीताजी की गुणग्राही बुद्धि का बखान किया गया है। उसी प्रकार वचनामृत म. 28, कारियाणी 9, अंत्य 2 इत्यादि में भी परोक्ष की भाँति, प्रत्यक्ष संत और भक्तों में दिव्य सुख और निर्दोषबुद्धि को ही 'पराभक्ति' गिना है।

याज्ञवल्क्य की मीताक्षरा टिप्पणी के मुताबिक़ 30 स्मृतियों तथा अन्य 151 उपस्मृतियों में से मनु, अग्नि, विष्णु, हरित, उसनस, अंगीरा, यम, कात्यायन, पराशर, व्यास, शंख, दक्ष, गौतम, इत्यादि के धर्मशास्त्र की व्याख्याएँ सर्वमान्य प्रतिपादित हैं। श्रीजी महाराज ने कहा है कि अलग-अलग अर्थ, रहस्य, भावार्थ, तात्पर्य एवं टिप्पणियों के मुताबिक़ धर्मशास्त्र के विषय में अंतिम निर्णय याज्ञवल्क्य की मीताक्षरा टिप्पणी के अनुसार निर्णय लेना चाहिए।

यह तो हुई परोक्ष की बात। परंतु, हमारे लिए तो महाराज, स्वामी और प्रगट संत जो कहें वही सच्चा निर्णय है और उसी के अनुसार निर्दोषभाव दृढ़ करेंगे तो निर्विवाद ब्राह्मीस्थिति प्राप्त होगी। अतः गुण, साधन या कर्तव्य के मिथ्या अभिमान को छोड़

कर, प्रगट भगवान या संत में अत्यंत दिव्यभाव दृढ़ करके, विश्वास रख कर अपना पक्का कर लेने की आवश्यकता है। जीव को सत्संगी बना देने की लगन रखें, तो गुरु तो तत्काल दिव्य दृष्टि देने के लिए बैठे ही हैं। लेकिन, इस मार्ग पर चलने में जाति, गुण, देह के अभिमान व सगे-संबंधी की प्रीति बाधक होते हैं; जिसके कारण मायिकभाव नहीं टलता और भक्तों का अभाव लेकर, उनका अवगुण देखने लगते हैं और कार्य सिद्ध नहीं होता।

शास्त्रों में तो आध्यात्मिक पुरुषों को चेतना के प्रवाह और निर्गुण भावयुक्त गिनाया है। याज्ञवल्क्य और मनु ने 'ब्राह्मण' की विभिन्न प्रकार की पंद्रह व्याख्याओं में, निर्मत्सर भक्त को सच्चा 'ब्राह्मण' बता कर, वेद का सच्चा अधिकारी और यज्ञ का फल देने वाला कल्याणकारी बताया है; क्योंकि जन्म से ब्राह्मण और ब्राह्मणत्व का परस्पर कोई संबंध नहीं है और स्मृतियों में भले ही युगधर्म के अनुसार ब्राह्मण की व्याख्या की गई है, परंतु श्रुति ने बड़े पुरुष को राज़ी करने वाले गुणवान भक्तों को ही सच्चे 'ब्राह्मण' माना है। उदाहरणार्थ–नारद, वशिष्ठ, विश्वामित्र तथा व्यास को ब्राह्मण गिना गया, जबकि धृतराष्ट्र, पांडु, विदुर के पिता ब्राह्मण थे, फिर भी वे 'क्षत्रिय' कहलाए। इसी प्रकार वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म, निमित्तधर्म और साधारण धर्म इत्यादि में पाप-पुण्य, योग्य-अयोग्य के झगड़े हुए, तब याज्ञवल्क्य और मनु ने आध्यात्मिक पुरुषों, श्रुतियों, तीनों वेदों के ज्ञाता या चार सयाने-बुद्धिशाली शास्त्रज्ञों की 'परिषद' द्वारा निर्धारित किया कि सत्पुरुष अपने काल, युग, समय के अनुरूप जो निर्णय ले, वही सच्चा धर्म कहलाएगा। यह बात आचार धर्म के 9वें श्लोक, सुतपुराण 30 तथा (गीता के) 11वें अध्याय के बारह श्लोक–108 से 114 में स्पष्ट बताई गई है। मीताक्षरी टिप्पणी तथा मोक्षधर्म की पुस्तक में कई जगह दर्शाया है कि भले ही हज़ारों ब्राह्मण यह बात न मानें, लेकिन परिषद जो निर्णय करे उसी का श्रुति के आधार पर भागवत धर्म या मोक्ष के अधिकारी अनुसरण करें। तो, ब्रह्मरूप होने की निर्दोषबुद्धि की ऐसी सर्वमान्य उत्तम बात सिद्ध करने में गुण, साधन या कर्तव्य के जो मान अंतराय खड़े करते हैं, उन्हें बिल्कुल छोड़ कर, सच्चे संत को मन सौंप कर, जीव का सत्संग कर लेना है। किसी का भी अभाव न लेकर, अपनी ही देह, जाति और स्वभाव का ही अवगुण देख कर, अंतर्दृष्टि करके गुरुवर्य पू. योगीजी महाराज की अनुवृत्ति के अनुसार सच्चे मन से वर्तन करना ही

सच्चा गिना जाएगा और वही सच्चा सत्संग बढ़ा माना जाएगा।

यह अलौकिक बात आध्यात्मिक है, जिसे अनुभवी ज्ञानी तुरंत समझ सकते हैं। तो, गुरुमुखी होकर, सावधानी और दिव्यता का योग सभी के लिए स्वामिश्रीजी सुलभ कर दें–यही नम्र प्रार्थना है।

–अक्तुबर, 1961

जीव पर अनादि काल के अज्ञान का इस क़दर असर पड़ा है कि बिना किसी सोच या विवेक के वह तुरंत धारणा बना कर, जल्दबाज़ी में अभिप्राय दे देता है; जिससे वह न केवल अन्यों का अपितु अपना भी अनंत गुणा नुकसान कर बैठता है।

सो, किसी भी बाबत में सुनी-सुनाई बात पर, ऊपर-ऊपर से देख कर या किसी के कहने पर पूरी छानबीन किए बिना, अभिप्राय देने में ज़रा भी जल्दबाज़ी नहीं ही करना और गलत धारणा नहीं बनाना। दरअसल, वह हमारी ही भूलभरी मान्यताओं, ग्रंथियों या नासमझी का प्रतिबिंब होता है।

जो भी धारणा या अभिप्राय बनाना हो, वह सत्पुरुष के कहने पर और समागम करके ही बनाना चाहिए, ताकि जीव अतिशय वृद्धि को पा जाए और जीतेजी ही अक्षरधाम का निर्गुण सुख प्राप्त करके, अन्यों को भी इस मार्ग पर अग्रसर कर पाए। प्रगट ब्रह्मस्वरूप योगीजी महाराज ऐसा सर्वोपरि गुणातीत ज्ञान सभी को देने के लिए तैयार हुए हैं। सो, ऐसी ज्ञानप्राप्ति का अधिकारी बनना ही सच्चा स्वधर्म और पुरुषार्थ गिना जाएगा और तभी परमपद के अधिकारी जीतेजी ही बन पाएंगे।

सभी को अपने ज्ञान व अपने अनुभव के आधार पर और क्रिया को ऊपर-ऊपर से देख कर तुरंत धारणा बना लेने की आदत पड़ी होती है। सो, साक्षीभाव, तटस्थभाव और निरीक्षकभाव से देखने की दृष्टि विकसित करना ज़रूरी है, जो संत की कृपा के सिवा संभव नहीं। सो, सच्चे सत्संगी को निष्कपटभाव से दिव्य दृष्टि प्राप्त कर लेनी चाहिए।

–दिसंबर, 1961

62

अर्जुन और सुधन्वा

प्रगट के उपासकों के लिए स्वरूपनिष्ठा की करामत समझना अति आवश्यक है। परोक्ष की भक्ति करते हुए साधनों की पुष्टि होने पर सत्वगुण का अहम्, भावनाएँ व ग्रंथियाँ बाधाएँ उत्पन्न करती हैं। इसलिए निर्गुणभाव प्राप्त करने के लिए साक्षात् भगवान या भगवान को प्रगटाए वड़वानल अग्नि समान संत की आवश्यकता होती ही है। उनका अनन्यभाव से आसरा और सेवन करने से 'कारण व महाकारण' के अव्यक्त राग एवं स्वभाव नष्ट हो सकते हैं। साधनप्रणाली एवं कर्तव्य में रुचि रखने वाले ऊपर-ऊपर से तो धर्मवान व महात्यागी दिखते हैं, परंतु जब भीतर की बात टटोली जाए या विपदा आ पड़े, तब उन सभी का असली स्वरूप सभी के समक्ष प्रकट हो जाता है। दिखाई पड़ते या कहे जाते धर्मी, त्यागी, तपस्वी या भक्त, सत्संग में सत्पुरुष का द्रोह करके आख़िर में सत्संग को छोड़ते हुए नज़र आते हैं। कई बार तो भगवान या प्रगट सत्पुरुष ही उनका असली स्वरूप खुला कर देते हैं। अर्जुन और सुधन्वा का दृष्टांत इसी तथ्य को पुष्ट करता है। अभिप्राय की भक्ति को न समझने के कारण, भगवान को सुधन्वा का शीश उड़ा देना पड़ा, जबकि अर्जुन ने अभिप्राय की भक्ति की, तो श्रीकृष्ण भगवान ने अपने साथ नरनारायण के रूप में उसका भजन करवाया।

स्वरूपनिष्ठा की द्रढिमा की यह करामत प्रत्यक्ष गुरुरूप हरि का समागम करके सीखनी ही पड़ती है। वर्ना, तो भले ही कितने भी निष्ठावान या ज्ञानी कहलाएं, किन्तु उनके अंतर में सुख, शांति या आनंद नहीं होते और वे विक्षेपों से घिरे रहते हैं। ऐसों की संगत या बातों से अन्यों को भी तनिक भी हल नहीं मिल पाता। इनका ज्ञान केवल बोलने में होने के कारण वे अंततः सत्संग की कसनी न सहते हुए, भक्तों का अभाव आने से सत्संग से हटते जाते लगते हैं।

परोक्ष के बड़े-बड़े भक्त – जैसे कि नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत रखने वाले भीष्म पितामह महाज्ञानी होते हुए भी श्रीकृष्ण भगवान को पहचान नहीं सके और

मोहब्बत के कारण उन्हें ज्ञान में अज्ञान आ गया और युद्ध में विपरीत पक्ष में खड़े रहे। इसी प्रकार, धर्मिष्ठ धर्मराजा (युधिष्ठिर) को भी प्रगट भगवान का आशीर्वाद प्राप्त था, फिर भी उन्हें कल्याण की प्रतीति नहीं हुई और संशय बना ही रहा और उनका धर्म अधर्म बन गया। ऐसे ही सुधन्वा की भक्ति की प्रशंसा हुई है, सभी उसे मान देते थे, लेकिन वह भी श्रीकृष्ण व अर्जुन के अभिप्राय को नहीं समझ पाया; तो भगवान ने स्वयं उसका शीश उड़ा दिया। **लोक में अर्जुन की प्रतिष्ठा अधिक नहीं थी, उसे कोई सदाचारी भी नहीं कहता था; लेकिन, वह पूर्णतः भगवान के अभिप्राय को समझ कर, वाक़ई उनका होकर रहा तो भगवान ने उसके सभी भय, त्रुटियों को मिटा करके नरनारायण के रूप में उसे अपने साथ भजवाया।** यूं करके हमें अर्जुन जैसा संबंध करने का परामर्श दिया है और अब सभी अर्जुन की प्रशंसा भी करने लगे हैं।

किसी साधन से नहीं, बल्कि बड़े संत की केवल कृपा व अनुग्रह से ही स्वरूपनिष्ठा सिद्ध होती है। समागम करके यह करामत सीख लें, तो निर्दोषबुद्धि भी तभी दृढ़ होगी और जीव जीतेजी ही ब्रह्मरूप होकर साक्षात् भगवान का अखंड धारक निर्गुण संत-जीवनमुक्त बनता है। फिर वह, भगवान की ही अनुवृत्ति के अनुसार, सभी को भगवान की परावाणी समझा कर, आत्यंतिक कल्याण के मार्ग पर अग्रसर कर सकता है।

वर्तमान समय में भी जो हरिभक्त प्रगट सत्पुरुष के अभिप्राय को समझ कर, संत को अंतर से राज़ी कर लेने का दृढ़ संकल्प करके समागम करने लगता है, उन पर संत सहज ही प्रसन्न होते है। फलस्वरूप वे देह और देह के संबंधियों से प्रीति को छोड़ कर, पंचविषयों को गौण करके, भीतर के जगत को सरलता से खदेड़ देते हैं। सत्पुरुष की कृपादृष्टि से 'कारण शरीर' के भाव बिल्कुल टल जाकर वे जीतेजी परम सुखी हो जाते हैं।

गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज के जोग में कई संत व हरिभक्त 'कसनी सह कर' इस मार्ग पर चले हैं और गुणग्राही होकर सच्चे बड़प्पन को पाए हैं। अभी भी नए योगेश्वरों ने संतवर्य योगीजी महाराज की आज्ञा-वचन से ही त्यागाश्रम को प्रेम से स्वीकारा है। उनके भी जगत के भाव सरलता से टलते जाते हैं – यह अब स्पष्ट दिखाई देता है। सत्पुरुष के अभिप्राय व अनुवृत्ति के मुताबिक़ ही भक्ति करने की यह करामत उनके जीव में दृढ़ होती गई है; इसलिए वे जीतेजी ही ब्रह्मरूप होकर, भगवान के दिव्य सुख का अधिकारी

बनने के योग्य बनते जा रहे हैं और उन्हें आशीर्वाद प्राप्त है कि वे एकांतिक धर्म सिद्ध करके हज़ारों मुमुक्षुओं को 'गुणातीत ज्ञान' समझा कर सुखी करेंगे।

अतः संतवर्य योगीजी महाराज की अनुवृत्ति के अनुसार, अंतर का अभिप्राय समझ कर, सभी इस कार्य में केवल सहायरूप ही बनेंगे, तो भी स्वामिश्रीजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) और गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज अत्यंत राज़ी हो जाएंगे और पुरुषोत्तमनारायण की दिव्य सेवा के अधिकारी बनाएंगे।

ऐसी निर्दोषबुद्धि और सुहृदभाव ही सच्चा वर्तन और सच्चा पुरुषार्थ है; सभी को यह दृढ़ होता जाए यही प्रार्थना है।

–जनवरी, 1962

63

ज्ञान और व्यवहार

इस लोक व परलोक में सदैव सुखी रहने के लिए स्वामिनारायण भगवान ने अपने आश्रितों के लिए कई उत्तम उपाय व नियम बताए हैं। यदि किसी सच्चे सत्पुरुष का समागम करके, उनकी कृपा प्राप्त करके, उन सिद्धांतों के ही अनुसार जी पाएं, तो संसार में और सत्संग समाज में क्लेश, दुःख या उद्वेग तनिक भी परेशान नहीं कर सकता। साथ ही, मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामी ने संतों व हरिभक्तों को साक्षात् स्वरूप का ज्ञान सिद्ध करवा कर, व्यवहार भी इतना विवेकपूर्ण करना सिखाया है कि वे जहाँ जाएँ वहाँ सत्संग का अच्छा विकास करवा सकें और माहौल के अनुसार वर्त भी सकें; जिससे सभी को उनके प्रति सद्भाव होगा और खुशी-खुशी सेवा-भक्ति करें। यदि अकेले ज्ञान या अकेले सत्संग का व्यवहार ही प्रधान हो, तो बारी-बारी उपाधि खड़ी होगी और अंतर में सुख, शांति या आनंद अखंड नहीं बरतेगा। इसलिए **ज्ञान के साथ ही विवेकयुक्त व्यवहार करना भी सीखना पड़े,** जिससे सत्संग का अच्छा विकास होता रहेगा। प.पू. गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज ने और वर्तमान में प.पू. संतवर्य योगीजी महाराज ने अपने संपर्क में आने वालों को प्रेम से यह रहस्य अच्छी तरह समझाया है। इस विषय पर सभी को ज़रूर सोचना चाहिए, ताकि तेज़ी से बढ़ते सत्संग समाज में सुचारू रूप से व्यवस्था व अनुशासन बना रहे और सभी गुण लेकर सहज ही सेवा करते रहें।

प.पू. स्वामिजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) गोंडल में संतों को समझाते थे कि आने वालों की आवभगत रखी हो, तो नए मुमुक्षुओं को ज़माने के अनुसार सुविधा मिलने पर ऐसे तीर्थस्थान में आने का उन्हें मन होगा। साथ ही, संतों का वर्तन और दिन में पाँच बार कथावार्ता होती देख कर जीव गुणग्राहक बनेगा और बल को पाएगा। फलस्वरूप, भगवान की प्रेरणा से, सत्संग की सेवा भी होती रहेगी और निष्ठायुक्त सत्संग दृढ़ होता जाएगा व भविष्य में विपरीत माहौल हावी नहीं होगा और कोई जीव सत्संग से डिगेगा नहीं।

मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामी भी जूनागढ़ में सुबह सभी संतों को पहले तो कथा में बिठाते और आरती हो जाने के बाद अलग-अलग सेवाएँ सौंपते, ताकि

सुबह-सुबह ज्ञानामृत मिल जाए और मंदिर का कामकाज भी जारी रहे और कोई कितनी ही प्रवृत्ति करे, लेकिन उसमें बंध नहीं जाए।

यदि केवल सेवा करें और कथावार्ता में नहीं बैठें, तो कोई प्रसंग पर शब्द चुभ जाने से विपरीत माहौल में मति पलट जाएगी और फिर अभाव-अवगुण के मार्ग पर चल पड़ेंगे।

इसी प्रकार, यदि कथावार्ता करते रहें और ध्यान में बैठे रहते हुए सेवा में नहीं लग जाएं, तो भी देहाभिमान आड़े आएगा और छोटे से छोटे हरिभक्त की विनम्रतापूर्वक आवभगत करने से मन विलग हो जाएगा और क्षोभ महसूस होगा।

इसीलिए महाराज और स्वामी ने ज्ञानयुक्त सेवा और भक्ति पर ज़ोर दिया है। ऐसी महात्म्यज्ञान युक्त सेवा करने से सभी प्रकार से सत्संग बढ़ता ही जाएगा और सभी को अक्षरधाम का दिव्य सुख प्राप्त होगा। सत्पुरुष महिमायुक्त ऐसी भक्ति से ही राज़ी होते हैं और उनकी कृपा से दोषों का दर्शन होने पर रंकभाव प्रगट होता है एवं सेवा करते हुए दोष भी टलते जाते हैं। अतः किसी अनुभवी सत्पुरुष का समागम करके उनसे दोनों प्रकार की करामत सीखनी ही चाहिए, तभी जीतेजी अक्षरधाम का सुख प्राप्त होता है।

जैसे किसी गाँव में पानी की क़िल्लत हो और यदि वहाँ पानी अधिक इस्तेमाल किया जाए, तो गाँव वाले दोबारा बुलाएंगे नहीं। दूसरी ओर, सिर्फ आत्मज्ञान की ही बातें करते रहेंगे, तो जगत में रंगे जीव हटते जाएंगे और आख़िर सत्संग छोड़ ही देंगे। इसीलिए, महाराज ने रुख, माहौल और समाज को देख कर, सभी की पुष्टि हो यूं इस सत्संग की स्थापना की है। इसे अब हमें संभालना है। परंतु, यदि लापरवाही करेंगे या उतावलेपन में सत्संग बढ़ाने के प्रयोग करेंगे, तो हानि होगी।

अतः शांति व धीरज से सत्पुरुष की आज्ञा से ही, उनकी रुचि-अभिप्राय को समझ कर, पहले तो हम उसके जीव में सत्संग दृढ़ कराएं और भगवान व संत की महिमा गाएं, तो उनके ही शुभ संकल्प के प्रताप से कई गुणा सत्संग बढ़ जाएगा। लेकिन, उसके लिए बड़ी शर्त 'निर्दोषबुद्धि' की है; वह सीखनी पड़े। तत्पश्चात् सभी को दिव्यानंद प्राप्त होता रहेगा।

तो, यह बात सुलभता से सिद्ध हो यही स्वामिश्रीजी से प्रार्थना है।

–फरवरी, 1962

***

64

श्री दादुभाई पटेल ने प्रवचन करते हुए कहा–

आज श्रीनगर में अक्षरपुरुषोत्तम महाराज बिराजे, मानो नया राजा नई गद्दी पर बिराजित हुआ। ये भगवान अब तक का कुछ भी किया-करा माफ़ कर देते हैं। भारत ने मुस्लिम एवं पारसी संस्कृति को अपने में समाविष्ट कर लिया। 175 वर्ष पहले भगवान स्वामिनारायण ने ज्ञान फैलाया। यह ज्ञान बहुत ऊँचा है। इस ज्ञान को आज़मा कर देखो। अनुभवसिद्ध बातें हैं। पू. योगीजी महाराज के पास मन छोड़ कर, बुद्धि उन्हें समर्पित करके, 72 घंटे उनकी निश्रा में बिता कर देखो, वे अनुभव करवा देंगे। वर्तमान समय में पूज्य योगीजी महाराज ज्ञान फैला रहे हैं। हमारा ज्ञान सर्वव्यापक है। हमारे ज्ञान में तीन तत्त्वों का समन्वय है। पू. योगीजी ने 51 नैष्ठिक ब्रह्मचारी जैसे योगेश्वर तैयार किए हैं। पू. नंदाजी भारत का आयोजन कर रहे हैं। उनके साथ मिनिस्टर्स हैं–सरकारी पदाधिकारी हैं। योगीजी महाराज की कल्याण योजना में 51 योगेश्वर हैं। उनकी योजना में हमें दिल की सच्चाई से–तन, मन, धन से सहकार देना ही होगा।

हम सभी एक ही माँ-बाप की संतान हैं। हमारे पास 700 मंडल हैं। साहित्य द्वारा प्रचार करने में हम पीछे हैं। हमारा प्रताप और हमारा बड़प्पन स्वामिश्री गुरुहरि योगीजी महाराज की बदौलत ही है। गुणातीतज्ञान फैलाने का महान आंदोलन पू. योगीजी महाराज ने शुरू किया है। थोड़े वर्षों में हमारे योगेश्वर इस ज्ञान को पाश्चात्य देशों में फैला देंगे। बड़े-बड़े बुद्धिजीवी विचक्षण स्वामिजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) के पास शांति प्राप्त करने के लिए आते हैं। सच्ची शांति का अनुभव करना हो, तो बापा (गुरुहरि योगीजी महाराज) जैसा कहें वैसे करना।

–जुलाई, 1962

65

सद्गुरु सत्संगी

मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामी ने चार प्रकार के सत्संगी बताए हैं। उसमें वचनामृत अंत्य 39 के अनुसार उत्तम प्रकार का सत्संगी बड़े पुरुष का संग रख कर, आत्मा-परमात्मा के स्वरूप का साक्षात् ज्ञान जीतेजी सिद्ध करता है और मन से प्रकृति-पुरुष तक के कार्य में माल न मान पाए ऐसा सांख्य गुरुकृपा से जीव में दृढ़ करके अक्षरधाम का दिव्य सुख प्राप्त करता है। ऐसा उत्तम सत्संग करने के लिए इस साधु का संग मिला है, जहाँ स्वभाव टाल कर, मन-कर्म-वचन से सत्पुरुष की सेवा करते हुए स्वरूपज्ञान जीव में उतरता है और साधुता के गुण प्राप्त होने से विपरीत माहौल उसे कभी भी छूता नहीं और बड़े पुरुष के अभिप्राय के अनुसार ही सेवा-भक्ति करते हुए वह सदा सुखी रहता है। निरंजनानंदस्वामी की भाँति वह अन्यों को भी शांति देता है।

सद्गुरु हो, लेकिन ज्ञानी होना और साधुता रखनी, वो तो सत्पुरुष के अनुग्रह के बिना हो ही नहीं सकता। चैतन्यानंदस्वामी में क्रोध खूब, सो महाराज उन्हें संभालते। पर, एक बार महाराज ने साधुओं को चीज़ों का संग्रह करने के लिए मना किया; इस बात पर तो चैतन्यानंदस्वामी मरने के लिए तैयार हो गए और वीरान में चले गए। लेकिन, जब बालमुकुंदस्वामिजी से बातें सुनीं, तब बोले–

‘मैं बारह साल गुरु और बारह साल सद्गुरु रहा, लेकिन सत्संगी तो आज हुआ हूँ।’

इसी प्रकार, अक्षरानंदस्वामी वड़ताल की महंताई करते थे, लेकिन वहां उनकी मनमानी नहीं हुई, तो खूब बैचेन होकर जूनागढ़ गए। वहां मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामिजी की बातें सुन कर बोले–

‘सत्संग किसे कहते हैं, यह मैं आज समझ सका हूँ और यहाँ आकर अब सत्संगी या साधु बन गया व सच्ची शांति प्राप्त हो गई है।’

साधु समागम भी यदि नासमझी से करेंगे, तो स्वभाव बाधारूप होंगे। वैराग्यानंद और हरियानंद इसी कारण (सत्संग में) टिक नहीं पाए। विशुद्धात्मानंदस्वामी

विद्वान और शास्त्रकोविद थे, लेकिन मानभा का अपमान किया। मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामिजी ने सिर्फ इतना ही कहा कि 'तुम्हें ऐसा नहीं कहना चाहिए', इतने में तो उन्होंने स्वामिजी को न कहे जाएँ ऐसे अति कटु वचन कह दिए, फिर भी स्वामिजी ने तो कुछ गिना नहीं; बाद में उन्हें खूब पछतावा भी हुआ और वे गढडा चले गए। बड़े-बड़े हरिभक्त और शिवलाल शेठ व अभयसिंह दरबार मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामिजी का समागम करते। उनसे भी स्वामी स्वभाव के विषय में बातें करके, उनके जीव को शुद्ध करके उन्हें उत्तम प्रकार के सत्संगी बनाते। ऐसा कार्य, जो कोटि कल्प में भी संभव नहीं; सच्चे सत्पुरुष देखते ही देखते कर देते हैं। सत्पुरुष का ऐसा अलौकिक प्रभाव उनके समागम में रहने वालों ने जाना है। वैसा ही दिव्य जोग आज भी हमें प्रगट ब्रह्मस्वरूप पूज्य योगीजी महाराज के समागम का मिला है। तो, अपनी आवश्यकता पूर्ति जितना ही व्यवहार करके, ऐसा उत्तम ज्ञान सिद्ध करने के लिए समागम करने आ जाना चाहिए। पात्रता आने पर आशीर्वाद से सच्चा रहस्य समझ में आता है और तभी सत्पुरुष के अभिप्राय के मुताबिक़ की पराभक्ति हो सकती है और परमानंद प्राप्त होता है।

श्रीजी महाराज को बुद्धिशाली प्रिय थे, इसलिए विचारयुक्त समझ दृढ़ हो ऐसा समागम वे उन्हें मर्म में समझा देते थे। पर, मंदिरों की क्रियाओं में कई अत्यधिक व्यस्त हो जाते थे। सो, महाराज ने हर एक को अति बड़े पुरुष का समागम करने के लिए, एक महीने के लिए जूनागढ़ जाने की आज्ञा दी, ताकि बड़े संत के संग में स्वभाव का दर्शन हो और जीव की कसर निकल सके।

वर्तमान समय में भी हमें वैसे ही दिव्य पुरुष पूज्य योगीजी महाराज का समागम सहजता से प्राप्त हुआ है और उन्होंने केवल दया करके, हमें मौज दे दी है। तो जीतेजी आत्यंतिक कल्याण सिद्ध हो जाए ऐसा उत्तम प्रकार का अक्षरपुरुषोत्तम के सच्चे ज्ञान का सत्संग कर लेना है। बड़े संत के अंतर की प्रसन्नता प्राप्त किए बिना बीजरूप रहे सूक्ष्म दोष के भाव या पाश जाते ही नहीं और इसलिए जीव ब्रह्मरूप नहीं होता। सो, वर्तमान समय में, आग्रहपूर्वक सुलभता से जब (गुरुहरि योगीजी महाराज) मुक्ताफल दे रहे हैं, तो (सत्संग में) अखंड टिके रहने की पात्रता पाने के लिए हम विनम्रभाव से प्रार्थना करें। वच. मध्य 45 और लोया 7 में महाराज ने सभी को बताया है–

'चाहे आचार्य हो, भगवान का लड़का हो या सद्‌गुरु हो, ब्रह्मरूप हुए बिना परब्रह्म की सेवा के अधिकारी हो नहीं पाओगे।'

मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामी ने जूनागढ़ में दो सौ लड़कों को ब्रह्मविद्या सिद्ध कराई थी; सो समागम करने आने वालों को वे सभी शांति प्रदान करते थे और स्वयं मूर्ति का सुख लेते थे। वही विरासत गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज ने हमें भी कोई साधन करे बिना दी है। तो, अब उस ज्ञान के अधिकारी बनने का बढ़िया आशीर्वाद सभी को प्राप्त हो, यही अभ्यर्थना!

–अगस्त, 1962

66

अमृत सरीखे सत्संग समुंदर में ज्वार-भाटा

यह सत्संग जैसा है, वैसा पहचाना नहीं जाता और पहचाना जाए तो कोई करे नहीं। कोई शूरवीर करे भी, तो सत्संग जैसा है वैसा कर नहीं पाएगा और यदि कोई कर भी ले, तो सत्संग बरकरार रखना अत्यंत कठिन पड़ जाए। यह तो बड़े पुरुष की कृपादृष्टि हो, तभी ऐसा अलौकिक सत्संग बरकरार रख सकते हैं, वर्ना तो पागल हो जाएं या बहक जाएं।

श्रीजी महाराज ने वच. अंत्य 39 में ऐसे उत्तम प्रकार के सत्संगी का लक्षण स्पष्ट बताया है। आत्मा व परमात्मा के साक्षात् स्वरूपज्ञान के अनुभवी को ही वच. लोया 12 के अनुसार ऐसा उत्तम निर्विकल्प निश्चय दृढ़ होता है और वह भी प्रकट सच्चे सत्पुरुष की केवल कृपा से ही संभव होता है। इस सनातन सिद्धांत और मर्म को महाराज ने वचनामृत में और मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामिजी ने अपनी बातों द्वारा, समग्र शास्त्रों के सार एवं रहस्य के परम रहस्यरूप में, प्रतिपादित किया है। इसे समझ पाएं, तभी जीव ब्रह्मरूप होकर परब्रह्मस्वरूप में सदैव के लिए दिव्य रूप से जुड़ सकता है और तभी अंतर के ज्वार-भाटों से मुक्त होकर, सत्संग समुंदर की गंभीरता, गहनता, विशालता और मध्य-गहराई में विद्यमान अखंड स्थिरता व स्थितप्रज्ञ दशा को प्राप्त करता है।

ऐसी गुणातीत स्थिति में किसी भी प्रकार के द्वंद्व, विषमता, वृत्तियों के वेग, गुण के प्रवाह या कुसंग या विपरीत पक्ष या बुरे प्रारब्ध के स्तर को ज़रा भी स्थान नहीं मिलता और अखंड परमानंद का अनुभव होते, पल-पल उमड़ते प्रवाह और परिस्थितियों के ज्वार-भाटे बिल्कुल बंद हो जाते हैं। जिस प्रकार सागर से मिलने पर नदी की कल-कल ध्वनि की गूंज शांत हो जाती है, उसी प्रकार सच्चे सत्पुरुष की यथार्थ पहचान होने के बाद, कर्तव्य या भावना का सैलाब हमेशा के लिए समाप्त हो जाता है और आख़िर गुरुकृपा से अक्षरधाम के निर्गुण सुख की प्राप्ति सिद्ध होती है।

सत्संग सागर के ऐसे ज्वार-भाटे के प्रवाहों के लक्षण ध्यान में रखे हों, तो प्रतिकूल परिस्थितियों में आती उदासी या उपाधियों में भी, भगवान का निश्चय

बरकरार रहते अखंड आनंद, सुख और शांति में फ़र्क़ नहीं पड़ता और जीवात्मा कसौटी में से पार उतर कर, शुद्ध स्वरूप में बाहर आकर, परमात्मा का धारक बन जाता है और निर्विकल्प स्थिति में अखंड रह सकता है।

भगवान के स्वरूप के ज्ञान या अचल निश्चय और महिमा का जो दिव्यविग्रहभाव या प्रगट स्वरूप की पहचान जीव में दृढ़ हुई होती है, वो निम्न भिन्न-भिन्न बलों या प्रवाहों के कारण बदल-सी जाती है, हिल उठती है और ज्वार-भाटे के रूप में जीवन में दिखाई देती है। जबकि बड़े पुरुष के समागम में रहने वाले को उसकी समझ होते, सत्संग में निष्ठा की रक्षा होती जाती है और सच्चे संत उस जीवात्मा को भगवान के संबंध से कभी भी वंचित नहीं होने देते। परंतु, जीव यदि बड़े पुरुष में लगातार ही मनुष्यभाव लाता रहे, तो वह आख़िर असुरभाव को पा जाता है और भगवान भी उसकी रक्षा नहीं करते। अतः प्रगट स्वरूप के प्रति निष्ठा की कील पक्की ही करनी चाहिए और तभी सत्संग में निर्विघ्न पार हो सकते हैं।

(1) **आसरा और गुलाबी सत्संग:** आंरभ में यह सत्संग गुलाबी लगता है। मनोरथ पूर्ण होने से आनंद आता है व उत्साह और वेग खूब होता है। लेकिन, इंद्रियों में ही भगवान का निश्चय होने के कारण आसरा दृढ़ नहीं रहता,

सो, जब संकल्प पूर्ण नहीं होते तब भगवान या संत के प्रति मनुष्यभाव उत्पन्न होता है

और वह जीव सत्संग से पीछे हट जाता है।

चमत्कारों पर टिकने वाले सत्संगी का ऐसा होता है। यदि आसरा दृढ़ हो, तो ही वह निभ जाता है। कथावार्ता सुनने-करने में रुचि न होने के कारण, मन के कुतर्कों का हल संभव नहीं होता और अनन्य भक्ति दृढ़ नहीं रहती; सो काल, कर्म और माया के चंगुल में फंस जाता है।

(2) **निष्ठा की कील एवं अलौकिक सत्संग:** दृढ़ आसरे वाले भक्त की कसौटी प्रतिकूल परिस्थिति में होती है और भगवान या संत उसकी अखंड रक्षा करते रहते हैं; सो, वह सत्संग में निभ जाता है। लेकिन, प्रारब्ध के स्तर या कुसंग में अचल मति में डगमगाट हो जाने से हठ, मान, ईर्ष्या, मत्सर, असूया इत्यादि विकार बाधक बन जाते हैं और वह अभाव-अवगुण देखने के मार्ग पर चल पड़ता

है और शुष्कता से घिरे जाकर सत्संग छोड़ देने की नौबत आ जाती है। निष्ठा वाले भक्त का मनोरथ भगवान पूर्ण करते हैं और अलौकिक ऐश्वर्य भी देते हैं। लेकिन, जब मनमानी नहीं होती, तब सत्संग में अंदरूनी तौर पर अभाव-अवगुण देखने से अंतर अमावस्या-सा हो जाता है। सूक्ष्म में जगत के भाव, गुण के वेग और स्वभाव प्रतिकूल हालात में बाधारूप बनते हैं; सो, जीवन में ज्वार और भाटे आ जाते हैं और मानरूपी दोष प्रबल होने पर सत्संग भी छोड़ देता है। महाराज के समय के ऐसे कई प्रसंग सभी की जानकारी में हैं। ऐसी परिस्थिति में तो बड़े पुरुष की संगत जिसे हो, वही पार उतार सकता है। इसलिए **'संत या सच्चे भगवदी का संबंध ही सच्चा सत्संग है'** ऐसा महाराज ने आग्रहपूर्वक बताया है; जिससे विपरीत हालात या कुसंग व प्रारब्ध के स्तर में भी रक्षा हो जाती है और जीव भी सत्संग से पीछे हटता नहीं। अंतःकरण में हुआ भगवान का निश्चय दृढ़ होकर अब जीव में होता है और अंतर्मन के ज्वार-भाटे समाप्त हो जाते हैं।

(3) **आत्मबुद्धि और प्रीति** : बड़े-बड़े परमहंसों और निष्ठावान महाज्ञानियों, तत्त्वज्ञों व सद्‌गुरुओं को भी विपरीत माहौल के दौरान उदासी और विक्षेपरूपी ज्वार-भाटे आ जाते हैं। इसका प्रमुख कारण है भगवान की अपरंपार दिव्य महिमा समझने में खोट और उनके संबंध वाले के प्रति मनुष्यभाव का आ जाना। सो ही, ब्रह्मानंदस्वामी ने वचनामृत प्रथम 24 और प्रथम 56 में स्पष्ट पूछा है कि महाराज वश रहते हों और भगवान का निश्चय भी परिपक्व हो और मन भी स्थिर हुआ हो, फिर भी ऐसे ज्ञानी, भक्तिपूर्ण या त्यागी के हृदय में सूनापन क्यों रहता है और अखंड अहोहोभाव क्यों नहीं रहता ? यह बात सोचने लायक है। कुएँ की खुदाई के वक़्त ऊपर का पत्थर रनके और अग्नि झरे तो अंदाज़ा आ जाता है कि थोड़ा पानी भी मुश्किल से फूटेगा; ऐसा ही गुण का घमंडी होता है, सो अथाह जल निकालते पाताल कुएँ की भांति निर्मानी भक्त जैसी उसकी कक्षा नहीं बनती।

महिमा की खोट और संबंध वालों के प्रति दिव्यभाव न रख पाने के कारण निष्ठा का बल नहीं बढ़ता। इसलिए ही वचनामृत मध्य 28, 63, 7 और अंत्य 2, 7, 11, 39 इत्यादि में प्रगट स्वरूप के प्रति दिव्यभाव दृढ़ करके, माहात्म्यज्ञान युक्त भक्ति सिद्ध करके, आत्मबुद्धि व प्रीति दृढ़ करके निर्विकल्प समाधि का

अखंड सुख लेने के लिए ही बड़े पुरुष परामर्श देते हैं। साथ ही, भजन करने की ऐसी रीति सिखाते हैं जिससे लोक, भोग, देह और उल्टा पक्ष में से कोई भी प्रगट की भक्ति करने में विघ्न उत्पन्न न करें। फलस्वरूप ऐसे भक्त के जीवन में बाह्यतौर पर ज्वार-भाटे भले ही आएं, लेकिन उसका अंतर तो अखंड सुख, शांति और आनंद से भरपूर रहता है और भगवान ही उसके एकांतिक धर्म की रक्षा करते रहते हैं।

साधनों से ऐसी निर्दोषबुद्धि दृढ़ नहीं हो सकती,
लेकिन बड़े पुरुष की सेवा और समागम करने से उनकी कृपा होने पर
जीव के दोष टलते जाते हैं और सत्संग दिव्य माना जाता है।
तभी समस्त आवरणों, विक्षेपों और बैचेनी का अंत हो जाता है
और भगवान की इच्छा ही उसका प्रारब्ध बनता है
और वह दिव्य सुख की ही अखंड अनुभूति करके, उसे प्राप्त करता है।

सभी को ऐसी ब्रह्मस्थिति प्राप्त करवाने के लिए ही प्रगट ब्रह्मस्वरूप योगीजी महाराज गाँव-गाँव विचरण कर रहे हैं और निर्दोषभाव से सेवा करने वालों पर कृपादृष्टि करके, उन्हें तत्काल बल देकर, भगवान के अलौकिक सुख का अधिकारी बना रहे हैं।

ऐसे दयालु पुरुष जब अक्षरधाम की ऐसी मौज सभी को देने के लिए तत्पर हुए हैं, तो उनके प्रति दिव्यभाव दृढ़ करके, अक्षरपुरुषोत्तम की सच्ची निष्ठा पक्की रख कर, उनकी मरज़ी के अनुसार वर्तने का बल मिले

और

सभी इह लोक-परलोक में सदैव सुखी हों, यही स्वामिश्रीजी से प्रार्थना है।

–सितंबर, 1962

67

दिव्यता का स्वानुभव एवं अक्षरमत की सर्वोपरिता

श्रीजी महाराज ने वचनामृत में सच्चे संत की ही अपरंपार महिमा समझाई है। वचनामृत मध्य 7, 63, वड़ताल 5, 10, 11, अंत्य 2, 39, 26 तथा प्रथम 27 में सद्गुरु मुक्तानंदस्वामी को वड़वानल अग्नि जैसा परम भागवत सत्पुरुष ही बताया है, जिनके संबंध द्वारा जीव के सभी विकार मात्र **'तत्काल'** टल जाते हैं और जीव अतिशय बलवान होकर, निर्वासनिक बन कर, दिव्यता, प्रभुता, प्रगट स्वरूप के अंतर्यामीरूप-सर्वज्ञभाव का स्वानुभव करके, जीतेजी ही परमपद का अधिकारी बन सकता है। इस हेतु सभी साधनों से अधिक प्रबल व अंतिम सर्वोपरि साधन के रूप में, अति बड़े पुरुष का, श्रद्धा और विश्वासपूर्वक समागम व उनकी कृपा को ही अनिवार्य शर्त के रूप में बताया गया है। धाम, धामी और मुक्तों के स्वरूप को ही सनातन सत्यस्वरूप मान कर, वचनामृत मध्य 24 के अनुसार शुद्ध समझ रखने वाले को सरलता से दिव्यानंद की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए सर्वमान्य, सर्वश्रेष्ठ वेदोक्त मार्ग को वचनामृत प्रथम 21, 71 और 63 तथा मध्य 30, 31 इत्यादि के सिद्धांत के रूप में गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज एवं गुणातीत बाग के महान संतों ने 'अक्षरमत' खुला करके स्थापित कर दिया है। 'अक्षरब्रह्म' के प्रगटन का यह अति गहन रहस्य मानवजीवन के लिए सर्वोत्तम बख़्शिश है

और

श्रीजी महाराज ने यही रहस्य भक्त चिंतामणि में संतों को बताते हुए, अपने स्वरूप को चैतन्य रूप मान कर, भगवान का भजन करने पर ज़ोर दिया है। शिक्षापत्री के 116वें श्लोक में भी ब्रह्मरूप होकर ही परब्रह्म की सेवा करने का सिद्धांत बताया है। ऐसे दिव्य जीवन का स्वानुभव, सभी को सरलता से जीवनमुक्तों के इस संप्रदाय में होते रहे हैं और संतवर्य योगीजी महाराज के माध्यम से हो ही रहे हैं। इस बात को सभी स्वयं

दृढ़तापूर्वक समझ कर, अन्यों को भी प्रेमपूर्वक व विवेक से समझा कर, सदैव सुखी रहने के मार्ग पर अग्रसर करे। इसे ही 'परम सेवा' मानी जाएगी, ऐसा गुरुदेव भी कहते हैं।

श्रीजी महाराज जिनके द्वारा अखंड दिव्य कार्य करते ही रहते हैं, ऐसे अंतर्यामी, सर्वज्ञ अति बड़े पुरुष की दिव्यता का स्वानुभव सभी को स्वयं अपने जीवन में, अपनी श्रद्धा और विश्वास के अनुसार होता ही रहा है और होते ही रहते हैं। जीव बल को पाए ऐसे दिव्य अनुभवों एवं प्रभु के प्रगटभाव की प्रतीति अन्य मुमुक्षु भी किस प्रकार सरलतापूर्वक करके, इस सर्वोपरि 'अक्षरमत' के तत्त्वज्ञान का जीवन में आनंद ले सकें, इस रहस्य को संतवर्य योगीजी महाराज ने अपनी कथावार्ता के दौरान संतमंडल को समझाया है।

इतर मुमुक्षु भी इसी तरह 'गुणातीतज्ञान' का लाभ ले सकेंगे और जीतेजी ही अक्षरधाम का निर्गुण सुख प्राप्त कर सकेंगे और ऐसी निष्ठा की प्रवृत्ति करते हुए गुरुजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) की भी प्रसन्नता प्राप्त कर सकेंगे। तो, यह सभी को सुलभ हो यही नम्र प्रार्थना है।

–अक्तुबर, 1962

68

दिव्यता का अनुभव एवं अक्षरमत (1)

सामान्य दिव्य अनुभव और अमायिक आध्यात्मिक अनुभव–ये दोनों भिन्न भिन्न प्रकार के अनुभव हैं और दोनों के फल में भी अत्यधिक अंतर है। जिस प्रकार साधनभक्ति एवं साध्य भक्ति या चतुर्धामुक्ति व सद्यमुक्ति में अत्यधिक असमानता है, उसी प्रकार सामान्य कक्षा के सांख्य, योग, तप, वैराग्य, भक्ति के अनुभव और माया से परे सनातन दिव्य स्वरूप के आध्यात्मिक अनुभवों में अतिशय फ़र्क़ है और दोनों से प्राप्त फल में भी खूब अंतर है। परंतु, अज्ञानवश अधिकतर मुमुक्षु इन दोनों को एक ही कक्षा का मान लेते हैं।

केवल सच्चे सत्पुरुष के समागम से ही ऐसी कसर और क्षतियाँ सरलता से दूर हो सकती हैं। वर्ना स्वप्रयत्न से कितने भी साधन करें, फिर भी वचनामृत लोया 7, पंचाला 7, प्रथम 24 में बताया माया से परे का जीवतदाश्रित अनुभवज्ञान सिद्ध हो ही नहीं सकता। सो, सामान्य अनुभवों की तुलना गुरु से प्राप्त अति गहन ज्ञान से करना महान भूल है। इस तथ्य को प्रगट के उपासक तो प्रगट ब्रह्मस्वरूप योगीजी महाराज के सान्निध्य में तुरंत समझ जाते हैं। सच्चे सत्पुरुष के बिना माया से परे होने की बात जीव में धारी ही नहीं जाती। सच्चा सत्संगी इस सिद्धांत की सच्चाई समझ कर, निम्न सामान्य अनुभवों से दिव्यता का या भगवान के प्रगटीकरण को मान्यता नहीं देता।

(1) **जड़ रूप स्थूल अनुभव :** तमोगुणी व शक्ति के उपासक बल प्राप्त करके अद्भुत बाह्य इलाज़ दिखाएँ, अंगारों पर या पानी पर चलें, ज़मीन में डटे रहें या भूखे रहें इत्यादि स्थूल तप के ये प्रकार इंद्रियों के निग्रह से ऊँची कक्षा के नहीं बनते। परंतु, यह सब देख कर वहमी मनुष्य बहकावे में आ जाते हैं और 'महाक्रोधी' जादूगर, झाड़-फूंक करने वाले और तपस्वी, भावुक श्रद्धालुओं को अपने करतब दिखा कर, खोटे रास्ते पर ही चला देते हैं और उससे कल्याण होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

(2) **मनोमय और प्राणमय कोष के बौद्धिक अनुभव :** कर्मकांडी भक्त, कई देवों की उपासना करके, संकल्प सिद्धि प्राप्त करते हैं और बड़े-बड़े बुद्धिजीवियों के व्यावहारिक कार्य तुरंत सरल करके, उन्हें चकाचौंध कर देते हैं। इससे

केवल सत्वगुण तक ही पहुँच पाते हैं और ऐश्वर्य-प्रताप में लुभ जाने से भगवन्निष्ठा नहीं हो सकती। एकांतिक धर्म सिद्ध नहीं होता। उनकी उपासना जितनी होती है, उतनी ही प्राप्ति होती है। भगवान के आसरे के बिना वे 'पराभक्ति' के अधिकारी बन नहीं सकते।

(3) **अलौकिक आश्चर्यों और ऐश्वर्यों के अनुभव:** भगवान स्वयं या उनके अवतार के भक्त, जैसे कि–अर्जुन, सुदामा, यशोदा मैया, अक्रूर, द्रौपदी, कुंताजी, हनुमान, गोपीयों, राजा जनक, शुकदेवजी, उद्धवजी इत्यादि के जीवनचरित्रों का अवलोकन करने पर हमें अद्‌भुत अनुभवों की जानकारी होती है और निर्गुण भावनाएँ प्रगट हुई जान पड़ती हैं। इनमें सनातन धर्म, भागवत धर्म के अनुभवज्ञान का बीज समाविष्ट है।

आध्यात्मिक अनुभवों की ऐसी परंपरा श्रीजी महाराज ने पाँच सौ परमहंसों द्वारा सभी के लिए सरल बना दी है और आत्यंतिक कल्याण के लिए ऐसे दिव्य स्वरूपों, जिनमें दिव्यता का सच्चा अनुभव सरलता से किया जा सके, का इस धरा पर अखंडित प्रगटीकरण भी खुला कर दिया है।

यही विशिष्ट लक्षण **'अक्षरमत' की** सर्वोपरिता को सिद्ध करता है। कल्याण का, जीतेजी प्रभु को पाकर ब्रह्म और परब्रह्म के साक्षात् ज्ञान का अनुभव सभी श्रेयार्थी मुमुक्षु इससे कर पाएगा और गुरुकृपा से अन्य को भी इस मार्ग पर चला सकेगा।

–नवंबर, 1962

69

दिव्यता का अनुभव एवं अक्षरमत (2)

अनुभवज्ञानी को ब्रह्म तथा परब्रह्म के स्वरूपज्ञान या माहात्म्यसहित भक्ति द्वारा ब्रह्मस्थिति प्राप्त करने वाले में मतभेद होता ही नहीं और ऐसे ज्ञानमार्ग की स्थिति सच्चे सत्पुरुष द्वारा ही सिद्ध हो सकती है, इस सिद्धांत में भी फ़र्क़ नहीं पड़ता। बाह्य रूप से कल्याण के साधन एवं रीतिओं में फ़र्क़ रहता है, लेकिन उन सभी का हेतु और आत्यंतिक कल्याण के स्वरूप व साधना का मार्ग एक ही है और उस स्वरूपज्ञान का अनुभव भी एक ही रीति का है – साधुता सिद्ध करवा कर, जीव को ब्रह्मरूप करके, परब्रह्म में निर्विकल्पभाव से जोड़ना। दिव्यता का यह अनुभव कोई भी श्रेयार्थी मुमुक्षु सरलता से किस प्रकार कर सकता है, उसके विषय में यहाँ बताया गया है।

जिस मुमुक्षु को आत्यंतिक कल्याण पाने की गरज़ हो या जिसे चित्त की अखंड प्रसन्नता चाहिए या सच्ची शांति, सुख और अखंड आनंद प्राप्त करना ही हो, ऐसी तीव्र जिज्ञासा वाले श्रेयार्थी को, ईश्वरीय संकेतानुसार, किसी सच्चे अनुभवी संत या भगवान के अवतार का जोग अवश्य मिल जाता है और जैसे-जैसे वह सत्संग या समागम करता जाता है, वैसे-वैसे उसे ब्रह्म और परब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान होता जाता है और वह जीतेजी ही अक्षरधाम की प्राप्ति करके दिव्यानंद प्राप्त करता है।

ऐसी अलौकिक स्थिति प्राप्त करने हेतु, प्राथमिक या दिव्य स्वरूप की प्रतीति होने के लिए, निम्न तीन चरण या साधन आवश्यक हैं। इन सूत्रों को अपनाने से मुमुक्षुओं का आध्यात्मिक विकास सुगमता से होता जाता है और देशकाल का प्रभाव उन पर पड़ता नहीं व उन्हें ब्राह्मीस्थिति प्राप्त होती है। यहाँ 'अक्षरमत' की सर्वोपरिता सिद्ध होती है। सनातन सत्यों-तथ्यों पर आधारित होने के कारण, यह तत्त्वज्ञान सर्वश्रेष्ठ एवं कालातीत रहेगा। श्रीजी महाराज ने इस तत्त्वज्ञान को पांच सौ परमहंसों तथा मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदजी के माध्यम से साक्षात् प्रगट करके, हमेशा के लिए यह ज्ञानमार्ग और एकांतिक धर्म की सिद्धि का मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

शास्त्रों एवं बड़े पुरुषों ने अनेक बार आग्रहपूर्वक कहा है कि प्राथमिक भूमिका का आध्यात्मिक अनुभव या दिव्यता की प्रतीति करने के लिए निम्न तीन मुद्दे जीवन में ढालने पड़ते हैं–

(1) **आस्तिकभाव युक्त अविचल श्रद्धा**ः– कर्ताहर्ता केवल एक भगवान ही हैं, वे परब्रह्म हैं और उनका दृढ आसरा करने से सभी सुखों की प्राप्ति निश्चित् रूप से होती ही है ऐसी अटल श्रद्धा-निश्चय और भावना की दृढ़ता।

(2) **भगवान या ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय सद्गुरु से अनन्यभाव का संबंध - सद्भावनायुक्त सत्कर्म या अत्यंत विश्वासपूर्वक जुड़ जाना :** संत की आज्ञा में निरंतर वर्त कर, उनके प्रति सद्भावना ही दृढ़ करने वाले भक्त को अनंत गुणा फल मिलता है और अंतःकरण शुद्ध होने पर, उसे चित्त में प्रसन्नता का अनुभव होता है। धीरे-धीरे, उसे सच्चिदानंद का अनुभव होने लगता है। 'ये संत सच्चे हैं, अच्छे हैं, निश्चित रूप से मेरा कल्याण करने वाले हैं'–ऐसी शुभ भावना रखने पर और **संत के वचन से-उनकी मरज़ी के अनुसार किए कर्म से करोड़ों जन्मों के पाप भस्म हो जाते हैं।** वचनामृत वड़ताल 14 में बताया है कि जिसने साधु का गुण लिया और सेवा की थी, उसे श्रीजी महाराज के दर्शन करते ही समाधि हो गई थी और महापापी भी पुण्यशाली बन गए थे। सत्पुरुष के वचन में संपूर्ण विश्वास और वे जैसा कहें वैसी ही महिमा समझ कर सेवा करने वाले को फल मिलता है।

(3) **शांतिमयी समता** : कर्ताहर्ता एक भगवान ही हैं और वे सच्चे सत्पुरुष द्वारा, सदैव, निश्चित रूप से इस पृथ्वी पर प्रगट रहते हैं। ऐसे स्वरूप या सद्गुरु के वचनानुसार वर्तने वाला जीव 'तत्काल' बल को पा जाता है और सुख-दुःख, जय-पराजय, महान विक्षेप या भयंकर विपरीत माहौल में भी अचल मति ही रखने वाले को शांतिमय समता प्राप्त होती है। भगवान जो भी करते हैं, वह मेरे हित के लिए ही करते होंगे, ऐसा मान कर सहर्ष सहन करके, भगवान या संत जिस परिस्थिति में रखें, उसी में प्रसन्न रहते हुए वह केवल गुण ही ग्रहण करता है। ऐसी समता रखने वाले को दिव्यता की अनुभूति होती है, जो उसे इस बात की प्रतीति कराती है कि ये निर्गुण पुरुष हैं, अक्षरधाम के हैं, निर्बंध हैं। फिर वह उन्हें राज़ी करके, उनके प्रति निर्दोषबुद्धि दृढ़ करके, भगवान का साक्षात् अनुभव करता है। जगत

मिथ्या लगते हुए झड़ जाता है और ब्रह्मस्थिति या गुणातीत भावना दृढ़ हो जाती है। स्वामीसेवकभाव से भगवान में जीतेजी ही जुड़ सकते हैं। सत्पुरुष के समागम व उनके अंतर के आशीर्वाद से ऐसा अनुभव तत्काल हो सकता है; लेकिन इस हेतु उसे **अपने भीतर टटोल कर बरतना आवश्यक है और किसी के तनिक भी अभाव-अवगुण में गए बिना, विपरीत परिस्थिति में भी बिल्कुल शांतिपूर्वक समता रखने वाले को ही ऐसी दिव्यता का अनुभव हो सकता है और यही इस 'गुणातीतज्ञान' की विशिष्टता है।** सत्यकाम जाबालि ने गुरु के प्रति अटल विश्वास के कारण, गाय चराते हुए भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया

और

परिक्षित ने शुकजी जैसे ब्रह्मस्वरूप द्वारा भागवत का श्रवण करके मोक्ष प्राप्त किया

और

गुणातीतानंदस्वामिजी के वचन से दो सौ साधु ब्रह्मविद्या सिद्ध कर सके थे–

यह सब उपरोक्त तथ्यों से ही संभव हो सका।

ये सब 'अक्षरमत' की सर्वोपरिता को समझने में आसानी कर देते हैं।

तो, प्रगट ब्रह्मस्वरूप योगीजी महाराज के समागम में रह कर, विश्वासपूर्वक उनके वचनानुसार वर्त कर, संबंध वालों की महिमा समझने वाले ऐसा दिव्य अनुभव अवश्य कर सकेंगे।

सभी के लिए यह सुलभ बने– यही नम्र प्रार्थना।

–दिसंबर, 1962

70

बड़े पुरुष का अभिप्राय

बड़े-बड़े संत तथा हरिभक्त जो स्वामिनारायण भगवान के साथ रहते थे, त्याग रखते थे, सेवा करते थे, देह का अनादर करते, फिर भी वे भगवान स्वामिनारायण का स्वरूपज्ञान, रहस्य और अभिप्राय समझ नहीं पाए थे। सभी संतों की गुदड़ियाँ धोकर, कंधों पर लाद कर मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदजी को आते देख कर, महाराज ने अपनी नाराज़गी जताते हुए कहा– *'ये निर्गुणानंदजी से यह सेवा करवाते हो, क्या तुम उन्हें पहचानते हो?'* इसी प्रकार, जब अनादि महामुक्त गोपालानंदस्वामी ने भगवान की सर्वोपरिता के विषय में बातें करना शुरु किया, तो कुछ महात्यागी सद्‌गुरु परेशान हो गए और उनमें से कई उन्हें श्वेत वस्त्र पहनाने तैयार हो गए, तो कइयों ने उनकी झोली में अंगारे डाल दिए! अनेक मुमुक्षुओं के लिए कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने वाले भगवत्स्वरूप अनादि महामुक्त प्रागजी भक्त और पू. जागाभक्त के अंतर का अभिप्राय भी बड़े-बड़े सद्‌गुरु भी समझ नहीं पाए; जबकि गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज ने अत्यंत कसनी सह कर, कष्ट उठा कर, लोक-लाज को तिलांजलि देकर भी गुरुभक्ति अदा करते हुए प्रसिद्धि करवा कर, अनेकों को प्रगट गुरुहरि के स्वरूप की पहचान कराई और एहसास कराया कि कैवल्यमूर्ति गुणातीत स्वरूप द्वारा श्रीजी महाराज का प्राकट्य अखंडित रहा है और रहेगा तथा भविष्य में भी सच्चे सत्पुरुष के द्वारा हमेशा रहेगा, रहेगा और रहेगा ही। इस प्रकार, शास्त्रीजी महाराज ने सनातन तत्त्वरहस्य और अभिप्राय प्रगट करके, करोड़ों मुमुक्षुओं के लिए आत्यंतिक कल्याण का मार्ग हमेशा के लिए खोल दिया।

जब-जब भगवान का सर्वोपरि प्रगटीकरण होता है, तब-तब महामाया खूब खीजती है। लेकिन, जगत में आख़िर दिव्य तत्त्वों की ही विजय होती है और माया उन्हें पराजित नहीं कर सकती। वास्तव में, सत्य परखने की सच्ची कसौटी यही है। शास्त्रों में उल्लिखित यह बात विचार करने योग्य है कि रामावतार ने रावण, कृष्णावतार ने कंस, शिशुपाल और पूतना का वध करके और श्रीजी महाराज ने अपने समय में आसुरी तथा कात्यायी

जैसे मायावी तत्त्वों के आसुरीभाव को निर्गुणभाव में परिवर्तित करके, सत्य की ही जीत कराई।

वर्तमान काल में भी बड़े पुरुष के अभिप्राय को न समझ पाने के कारण मूल माया उनसे खीजती है, उनकी निंदा करती है, मिथ्या बातें फैलाती है, भोलों को बहकाती है, मत्सर, ईर्ष्या और असूया के भाव वड़वानल अग्नि के समान सच्चे संत के प्रति अभाव-अवगुण के भाव जगा कर संत का द्रोह करवाती है। परंतु, भगवान का जहाँ प्रगटीकरण होता है, वहाँ हड़कायी पागल कुतिया जैसी माया दाँत भींचती रहती है और डंडे खा-खा कर मर ही जाती है, ऐसा ही हाल सच्चे संत का द्रोह करने वाले का होता है। लोग तो सच्चे संत का समागम करते ही रहते हैं और माया का खेल बे-नक़ाब है। यह भी विधि की एक कसौटी है।

देखो, महेलाव में गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज के प्राकट्य स्थान पर, हज़ारों की हाज़िरी में कितना अलौकिक अद्भुत उत्सव मनाया गया, जबकि महामाया तो बिल्कुल दब ही गई और सत्यस्वरूप का ही गुणगान हुआ। बड़े पुरुष का अभिप्राय समझा ही नहीं जाता। हाँ, यदि बड़े पुरुष की कृपा हो या वे स्वयं संकल्प करके जीवों पर अनुग्रह करें, तभी उनके अभिप्राय को समझ सकते हैं। अतः बड़े पुरुष को अंतर से राज़ी करने पर ही उनके अभिप्राय का कुछ ख्याल पड़ सकता है। वर्ना तो विघ्नयुक्त भक्ति होती है और प्रतिकूल हालात में सत्संग भी छूट जाए। इसलिए अभिप्राय के मुताबिक़ की गई भक्ति ही 'परमपद' मानी जाती है और तभी निर्गुण सुख और गुणातीत स्थिति प्राप्त की जा सकती है। गुरुहरि योगीजी महाराज के समागम से आज यह सुलभ है। सो, गुरुवचन से लग पड़ना और उनकी प्रसन्नता प्राप्त कर लेना।

मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामी ने अपनी बात में कहा है–

'बड़े पुरुष का अभिप्राय तो समझ ही नहीं पाएंगे, लेकिन यदि वे अनुग्रह करें तो ही समझ सकते हैं।'

यहाँ हमारा मन, अव्यक्त राग, लोक, देह, जगत बाधारूप होते हैं। सो, जैसे बच्चों को खेल-खेल में ज्ञान दिया जाता है, उसी प्रकार गुरु करते हैं। इसलिए कई बार विभ्रांत दशा आ जाती है। प्रतिकूल परिस्थिति में अचलमति में मन उथल-पुथल मचा देता है और मन में सत्पुरुष की महिमा कम होती जाती है। लेकिन, सच्चे संत जीव को संभाल कर, उसे बल देकर प्रगति कराते हैं। यही उनकी अतिशय दया और सर्वोपरिता है कि वे जीव

के गुनाह को वे देखते नहीं। परंतु, अभिप्राय की भक्ति न समझे तो सुधन्वा की भाँति सिर भी कटे और भीष्म की भाँति ज्ञानी होने के बावजूद अज्ञानियों में गिने जाएं। अतः भगवदी का प्रसंग करके बड़े पुरुष का अभिप्राय समझ लें, तो मन डिगेगा नहीं और सदैव सुखी रहेंगे।'

बड़े पुरुष का अभिप्राय जानने के लिए सर्वप्रथम तो गुरु के ही प्रति दिव्यभाव दृढ़ करके, उनके वचन में संपूर्ण विश्वास रख कर आज्ञा पालन करना चाहिए और अन्यों की क्रियाओं की ओर देखना ही नहीं चाहिए। बड़े पुरुष की अनुवृत्ति को समझने के लिए जाल में फंसे कबूतर की भाँति अतिशय सेवा और भक्ति महिमा से करने लगेंगे, तो गुरु की मरज़ी समझ आएगी और गुरु की कृपा होने पर अनुवृत्ति का ख्याल पड़ेगा। तत्पश्चात् ही अंतर का अभिप्राय जान पाएंगे। फिर कुछ पूछना शेष नहीं रहेगा। (गुरु व शिष्य) एक-दूजे के अंतर्यामी बन जाएंगे और सदैव के लिए सुखी हो जाएंगे। अतः अतिशय श्रद्धा और विश्वासपूर्वक सेवा व भक्ति से, गुरुवर्य योगीजी महाराज के अंतर की प्रसन्नता प्राप्त कर लें।

उनके अनुग्रह से ही 'निर्दोषबुद्धि' दृढ़ होगी और अभिप्राय के मुताबिक़ सुहृद्भाव युक्त निर्गुण निष्काम भक्ति होती जाएगी। सभी के लिए यह सुलभ हो – यही अभ्यर्थना है।

–जनवरी, 1963

71

निर्मानीभाव का मान

भगवान स्वामिनारायण ने वचनामृत अंत्य. प्रकरण 27 में
'कामी' की अपेक्षा 'मानी' को अतिशय बुरे स्वभाव वाला बताया है।
वह कभी न कभी विमुख होकर सत्संग से हट जाता है।
कामी के ऊपर तो संत दया करते हैं,
लेकिन **मानी** की सेवा तो भगवान को तनिक भी जँचती नहीं।
सत्संग में वह सभी के प्रति विपरीतभाव रखते हुए दोष ही देखता रहता है।
फलतः ईर्ष्या, जलन और बराबरी एवं आडंबर, दंभ, घमंड जैसे
मान के रिश्तेदार उससे चिपक जाते हैं और दुःखी करते रहते हैं।
मानी को तो बुद्धिमान व्यक्ति जान लेता है,
लेकिन 'निर्मानीभाव का मान' को तो सूक्ष्म बुद्धि वाला,
यदि स्वयं अंतर्दृष्टि करे और गुरुकृपा हो, तो ही खुद जान पाता है।
और... इसी वज़ह से वह जीव प्रगति नहीं कर पाता।
वच. प्रथम-56, मध्य-41, अंत्य. 27, 28 इत्यादि एवं लोया-16,
प्रथम-62, 6, 28, 58, सा. 8, का. 6 में सूक्ष्म मान का स्वरूप,
गुण का मान, साधना का मान, उसके लक्षण और उसे टालने के उपाय बताए हैं।
मुख्यतः तो भगवान के **भक्तों की अपार महिमा समझते हुए,** सतत अंतर्दृष्टि करके,
संत के वचन से, दीनता से यदि कोई सेवा करने लग पड़े,
तो सूक्ष्म मान भी टल जाता है और वह **'एकांतिक भक्त'** बन जाता है।
लेकिन, यह करना अत्यंत कठिन है।
भक्ति, ज्ञान, जप, तप, वैराग्य या मंदिर की किसी भी क्रिया में यदि मान मिलता हो,
तभी उसे उत्साह से करना जँचता है और उसमें स्वाद आता है।
यह सब सूक्ष्म अभिमान की ही लार है, जिसके टूटने पर जीव बेचैन हो जाता है।
उसने अपने गुण के मान में या स्वप्रयत्न में अच्छाई/ भलाई समझी होती है,
सो उसे अन्यों का अवगुण आता है और उनके साथ द्वेषबुद्धि हो जाती है।

भगवत्प्रसन्नता प्राप्त करने में यह बाधक बन जाती है।

कुल, जाति, वर्ण, आश्रम, तप, आत्मनिष्ठा जैसे **अनेक गुण स्वयं में होते हुए भी, यदि बड़े मुक्तों के प्रति मनुष्यभाव आए, तो वे सभी गुण अभद्र हो जाते हैं और**

मोक्ष में-आत्यंतिक कल्याण में–विघ्न रूप बन जाते हैं।

पू. भगतजी महाराज और पू. जागास्वामी के प्रति जातिभाव रखने वाले
त्यागी संत भी भूत योनि को पाए हैं–ऐसा इतिहास बताता है।
निष्काम धर्म से च्युत होने वाला तुरंत ही नज़र आ जाता है,
लेकिन ऐसे संतों-मुक्तों के प्रति मनुष्यभाव रखने वाले
निर्मानीभाव का प्रण तोड़ कर अधोगति को ही पाते हैं–
ऐसा भगवान स्वामिनारायण ने स्वयं कई वचनामृतों में बताया है।
सो, मोक्षप्राप्ति के लिए बड़े संत के असाधारण प्रसंग से
ऐसी सूक्ष्म मानवृत्ति को ठुकरा देना अत्यंत आवश्यक है।
लेकिन, यह रहस्य पता न होने के कारण, अन्यों के दोष देखते रहते हैं
और अवगुण लेते रहते हैं।
इस बात की जाग्रतता रख कर, इसे टालना।
गुरुकृपा हो तभी नम्रता का अभिमान ख्याल पड़ता है।
सभी को ज्ञान देता हो, प्रणाम करता हो, प्रभु की महिमा गाते हुए–
'मैं तो किसी काम के लायक नहीं, उनकी कृपा से ही मैं तो यह सब कुछ कर सकता हूँ;
तप, त्याग, सेवा–वे करवाते हैं, तभी मुझसे हो पाती है।'
ऐसा बार-बार बोल कर और दो हाथ जोड़ कर, झुक-झुक कर पैर भी छूता रहता है,
पर अंतर की गहराई में सूक्ष्म सात्त्विक अहं का सर्प उसमें बैठा ही होता है।
किसी प्रसंग पर या निजी मान्यता के भंग होने पर
या उसके आदर-सत्कार में कमी रह जाने पर, सबको वह दिखाई दे ही जाता है।
शब्द तुरंत ही चुभ जाते हैं, भीतर में गुण व्याप्त हो जाता है और मुँह उतर जाता है।
अपनी अपेक्षा समकक्ष या अपने से छोटों की प्रशंसा सुन कर उसे क्षोभ हो जाता है।
लेकिन, **यदि वह अंतर्दृष्टि करे और भगवान व संत को अंतर से प्रार्थना करे,**
तो गुरु उस गुण का मान जरूर बाहर लाकर, उसे अपने समागम में रख कर,

उसकी जीवात्मा से चिपकी मलिन वासना को दूर करता है
और जीव को शांत, सरल स्वभावयुक्त, सुखी कर देता है।
'साधु' होने के बाद ऐसी साधुता, सहिष्णुता और समता सीखनी ही पड़ती है
और तभी, स्वभाव टलने पर जीव ब्रह्मरूप होता है व धाम का दिव्य निर्गुण सुख
जीतेजी ही प्राप्त करता है एवं निरंतर अहोहोभाव रहता है। महाराज भी कहते हैं कि–
'स्त्री और धन छोड़ना मुश्किल नहीं, पर मान छोड़ना त्यागी के लिए भी अतिशय कठिन है।'
यह (मान) बड़े-बड़ों को पीछे धकेल देता है। गुरु की कृपा से ही वह टल सकता है।
ब्रह्मस्वरूप संत से यदि (हम) प्रार्थना करें,
तो निर्मानी भक्त बनने का कसब वे तुरंत ही सिद्ध करवा देते हैं–ऐसी दया बरसाते हैं।
यही ऐसे संत की सर्वोपरिता है।
वेदरस में भी निर्मानी वर्तमान पर भगवान स्वामिनारायण ने बखूबी निरूपण किया है।
अनादि मूल अक्षर मूर्ति गुणातीतानंदस्वामी के या उनके साधर्म्य को पाए बड़े संत के संबंध से,
जीव निर्दोष, निष्कामी और निर्मानी हो जाता है।
इस बात का रहस्य गुणातीत ज्ञान वालों के लिए
गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज ने अत्यंत सुगम करके दिया है;
यही मानवजाति पर उनकी महान कृपा और केवल करुणादृष्टि है।
ऐसे संतों की ऐसी दिव्यदृष्टि मुमुक्षओं पर रहे और निर्दोषबुद्धि दृढ़ करके
सभी को एकांतिक धर्म सुलभ हो यही नम्र प्रार्थना है।

– फरवरी, 1963

72

ब्रह्मविद्या का अधिकार

शास्त्रों में 'महापुरुष' को ही पुरुषोत्तम रूप कहा जाने के कारण, बड़े-बड़े सिद्धों, पंडितों, शास्त्रियों, अतिशय धर्मवान-त्यागी, स्त्री और धन का जिन्हें संकल्प ही न उठे, ऐसे निर्वासनिकों और तीव्र आत्मनिष्ठा वाले कैवल्यार्थियों को भी सच्ची ब्रह्मविद्या का अधिकार प्राप्त नहीं हुआ है।

सो, इन्होंने केवल निर्गुण-निराकार ब्रह्म तक की दृष्टि प्राप्त करी है। परंतु, जिस प्रकार भागवत में साकार ब्रह्म का वर्णन है और उपनिषदों में भी साकार दिव्य स्वरूप की जो अनेक श्रुतियाँ हैं, उसका साक्षात् अनुभवज्ञान भगवान या उनके साधर्म्य को पाए अक्षरब्रह्म द्वारा ही संभव है और तभी आत्यंतिक कल्याण का, सनातन धर्म का, एकांतिक धर्म का मार्ग खुलने से जीव ब्रह्मरूप हो सकता है और निर्विकल्प होकर शुद्ध भाव से परब्रह्म में सदैव के लिए जुड़ सकता है। इसी आत्यंतिक मुक्ति का महाराज ने वचनामृत या वेदरस में ज़िक्र किया है। शिक्षापत्री की मुख्य आज्ञा भी 116 वें श्लोक को सिद्ध करने की है, क्योंकि वचनामृत लोया 7 के मुताबिक़, तभी मुमुक्षु ब्रह्मविद्या का अधिकार प्राप्त करने पर परब्रह्म की सेवा के अधिकारी बन सकेंगे, यह सैद्धांतिक बात है।

अनंत प्रकार की ब्रह्मविद्याएँ हैं, लेकिन श्रीजी महाराज ने अपने रहने के सनातन अक्षरधाम को पृथ्वी पर लाकर, शुद्ध चैतन्यब्रह्म के साकार और निराकार दोनों स्वरूपों का यथार्थ ज्ञान प्रवर्ता कर, पाँच सौ परमहंसों द्वारा धाम, धामी और मुक्तों की जो रहस्यवार्ता मूर्तिमान करके, हमेशा के लिए खुली रख दी–वह है। गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज ने यह ज्ञान सभी के लिए सुलभ बनाया। प्रगट ब्रह्मस्वरूप योगीजी महाराज 'संघनिष्ठा' के रूप में सभी को अक्षरधाम के दिव्य सुख व ब्रह्मविद्या का अधिकारी बना कर, केवल अपने साक्षात् संबंध से ही जीवों को निर्वासनिक करके, परब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण की दिव्य सेवा में जोड़ देते हैं। सनातन तत्त्वज्ञान को व्यापक रूप में विकसित करके, सभी को इस गूढ़ ज्ञान को समझाना ही इस जगत पर उनकी बहुत बड़ी देन है। यह बात अब सभी की समझ में आ रही है। इससे भी अधिक, नए संतों के

माध्यम से प्रवर्तित उच्च कोटि के ऐसे परम रहस्य को आत्मसात् करने के लिए मुमुक्षु जीव तत्पर हुए हैं, इसी से प्रगट की निष्ठा की सर्वोपरिता प्रमाणित होती है। अतः जीव में यह बात दृढ़ कर लें कि अन्य किसी भी मार्ग या साधन से नहीं, बल्कि साक्षात् ब्रह्म से दृढ़ संबंध बना कर और उनका समागम करके, जीतेजी ही ब्रह्मरूप होकर, सत्पुरुष की प्रसन्नता पाने के लिए लग पड़ना है।

गँवार समझदारी वाले अनंत साधन करते हैं और पंडित या शास्त्री कहे जाते हैं, लेकिन, प्रगट स्वरूप के प्रति मनुष्यभाव आने से उनका सारा ज्ञान व्यर्थ हो जाता है। उनके द्वारा किसी को निर्दोषबुद्धि दृढ़ होती ही नहीं और भीतर का जगत हमेशा बाधारूप बनता रहता है। वचनामृत मध्य 24 सिद्ध होने पर, भक्त जब सतत अंतर्दृष्टि करता है, तब ही उसे यह बात स्पष्ट रूप से समझ आती है। तत्पश्चात्, बड़े पुरुष के समागम में आने पर, जीव के दोष निर्मूल होते हैं और निर्दोषभाव दृढ़ होने पर वह परमपद का अधिकारी बनता है। परंतु, जो धर्म, ज्ञान, वैराग्य, तप, त्याग, व्रत, दानादि अनंत साधनों का बल लेकर, प्रगट के उपासकों का जाने-अनजाने में अभाव-अवगुण लेता रहता है, उसे 'गुणातीत ज्ञान' की चाबी ही हाथ नहीं आई है। उसका अंतर नीरस रहता है, भीतर में जलन होती रहती है और जब मनमानी न हो या हालात बदले, तो बड़े पुरुष का भी अभाव लेने लगता है और यही बुरे से बुरी बात कही जाए। इसलिए ऐसा जीव भले ही बड़ा ज्ञानी, धर्मनिष्ठ, त्यागी दिखाई देता हो, लेकिन उससे व्यवहार में आते इस अलौकिक सत्संग में उसकी समझ या कक्षा पता चल जाती है। सूक्ष्म रूप से पंचप्रण में से काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मद और आख़िर मानरूपी दोष तो उसे बाधक बनता ही है। सो, अपनी कक्षा जाने बिना, चौधराहट करते हुए जो अन्यों में दोष देखा करता है, उसे महाराज ने, वच. प्रथम 20 में 'मूर्ख का राजा', 'नीच से नीच' कह कर नवाज़ा है।

यूं, बड़े पुरुष की कृपा से ही दोष टलते हैं। जिस प्रकार श्रीकृष्ण की अनुवृत्ति और उनके 'अभिप्राय की भक्ति' करने से तत्काल उनकी कृपा अर्जुन पर हुई थी, उसी प्रकार प्रगट के 'अभिप्राय की भक्ति' से, उस मुमुक्षु पर सत्पुरुष की तत्काल कृपादृष्टि तुरंत पड़ने से उसके सूक्ष्म दोष टलते जाते हैं और वह ब्रह्मस्थिति प्राप्त करता है तथा वही परब्रह्म की सेवा का सच्चा अधिकारी बनता है। सो, कहे जाते धर्मी, त्यागी या आत्मनिष्ठ सच्चा भक्तिमार्ग वाला नहीं होता, जबकि रागों में लिपटा, अधर्मी भले ही सामान्य

नियम-धर्म वाला हो, लेकिन यदि प्रगट के प्रति उसकी सर्वोपरि निष्ठा हो और वह किसी का भी अभाव-अवगुण न लेता हो, ऐसे सत्संगी को वच. अंत्य 11 में महाराज ने आत्मबुद्धि-युक्त सत्संगी कहा है और उसे निर्विकल्प समाधि का सुख प्राप्त होता है। बड़े पुरुष के समागम और सेवा से, भक्तों के गुण गाने से और अपने दोष देखने से उसकी अपूर्णता और कल्पना जीतेजी ही टल जाती है और वह निर्गुण सुख की प्राप्ति करता रहता है; जबकि, दूसरों के अभाव-अवगुण देखने वाले जीतेजी भी मृत के समान हैं और परिस्थितियों के उनके प्रतिकूल होने पर वे सत्संग छोड़ भी देते हैं।

इसलिए केवल प्रगट गुरुरूप हरि द्वारा अलौकिक समझ सिद्ध करके, उनके संबंध वालों की अपार महिमा समझ कर, सेवा और भक्ति करते रहना चाहिए। इससे बड़े पुरुष अपने जोग में आए भक्त को संपूर्ण संभाल कर, उसे अतिशय बलवान बना कर जीतेजी ही ब्रह्मरूप करते हैं और वह परम सुखी हो जाता है। ऐसी अलभ्य प्राप्ति हमें केवल कृपा से ही हुई है। तो, उनके जोग में आकर उनका समागम कर लेना चाहिए और अन्यों को भी आत्यंतिक कल्याण हेतु प्रगट स्वरूप की पहचान करवानी चाहिए। यही सच्चा धर्म, भक्ति और ज्ञान है।

सभी ऐसी निर्दोषबुद्धि दृढ़ करें यही अभ्यर्थना।

–अप्रैल, 1963

73

मनमानी क्रिया

कारियाणी गाँव में श्रीजी महाराज ने अनादि महामुक्त गोपालानंदस्वामी को इस पृथ्वी पर अपने प्राकट्य के छः हेतु समझाए थे। इसी प्रसादी के स्थल पर दिव्य प्रसंग की स्मृति कराते हुए प्रगट ब्रह्मस्वरूप योगीजी महाराज ने एक रहस्य की बात कही – *'इस स्थल पर मुक्तानंदस्वामिजी ने सुरत से मूल अक्षर गुणातीतानंदस्वामिजी के हाथों महाराज के लिए रस के आम भिजवाए थे, तब मुक्तानंदस्वामिजी की आज्ञा लिए बिना एक साधु मूलअक्षर गुणातीतानंदस्वामिजी के साथ जोड़ में आया था। महाराज सुरत के बाईस मुक्तों को याद करके, मूलअक्षर गुणातीतानंदस्वामिजी से बाईस बार गले लगे, किन्तु जो साधु अपनी मरज़ी से साथ में आया था, उस साधु से एक बार गले लगने में महाराज थक-से गए।'*

फिर गाड़ी में जाते हुए (गुरुहरि योगीजी महाराज ने) बताया, *'बड़े-बड़े परमहंस, गृहस्थ भी महाराज को भगवान समझते और मानते थे, फिर भी वे मनमुखी क्रियाएँ करते थे। इसलिए उच्च आध्यात्मिक कक्षा को नहीं पाए और ब्रह्मरूप होकर परब्रह्म में जुड़ने की कसर रह गई और आत्यंतिक कल्याण प्राप्त करने में भी कमी रह गई। अतः गुरुमुखी होकर ही सारी क्रियाएँ करने की आदत डालनी चाहिए और यह तभी संभव होगा, जब मन को संपूर्ण रूप से गुरु को सौंप देंगे। ढीलेढाले ढंग से सेवा करने से कुछ नहीं होगा। यदि सावधान रह कर 'अति सच्चे भाव से' सत्संग करें, तो बड़े पुरुष अनुग्रह करके जीव को बल प्रदान करते हैं। तब स्वयं का भाव ही नहीं रहता। सो, उत्तम प्रकार का जीव का सत्संग कर लेना।'*

मनमानी क्रिया में तीन विघ्न हमेशा आड़े आते हैं। यदि गुरु का स्मरण करके प्रार्थना व अंतर्दृष्टि करें, तो तुरंत ही ख्याल आएगा।

(1) जैसे-जैसे क्रिया होती जाएं, वैसे-वैसे विक्षेप भी आते रहते हैं और प्रयत्न करने पर भी शांति नहीं मिलती - विक्षेप टलता नहीं।

(2) अच्छे संतों या हरिभक्तों ने भी यदि उनकी क्रिया में साथ न दिया हो, तो

भीतर में उनके प्रति अभाव-अवगुण आता ही रहे और दूसरी ओर, लल्लू जैसों ने यदि क्रिया में हाथ बँटाया हो, तो उसका केवल गुण ही आता रहेगा। उसके साथ ही काम करना जँचेगा। दरअसल, जहाँ मन के रागों का पोषण होता है, वहीं आनंद भी आता रहता है और आग्रह रहता है। ऐसी स्थिति में सच्चाई का ख्याल नहीं आ सकता और यदि कोई टोक दे या कुछ सूचन करे तो परेशान हो जाते हैं, उसके विरुद्ध ग्रंथि बाँध लेते हैं और उदास हो जाते हैं। क्षोभ होने के कारण अंतर में नीरसता महसूस होती है जो सभी जान जाते हैं।

(3) कई तो बड़े पुरुष को विवश करते हैं। उनकी सत्ता, सिफारिश, पहचान का ही उपयोग करके, माया को शांत करके, बड़ी चतुराई से विघ्नों को दूर करने की योजनाएँ बनाते रहते हैं। वे सोचते हैं कि आशीर्वाद द्वारा तो काम होता नहीं, इसलिए चतुराई से चाल चलनी चाहिए। पर, हर एक को यह बात समझ में भी आती जाती है।

ऐसे गुणबुद्धि वाले भक्तों के मनोरथ बड़े पुरुष पूर्ण करते रहते हैं, जबकि आत्मबुद्धि वाला समझदार भक्त तो इच्छारहित रहकर ही वर्तता है और गुरुजी (सत्पुरुष) जो कहें वही करता है न ज़्यादा न कम। अपनी मनमानी तो बीच में लाता ही नहीं। सो, वह अखंड आनंद का अनुभव करता है। क्रिया सहजता से पूर्ण होती लगती हैं; सभी अच्छाई महसूस करते हैं और तनिक भी किसी के प्रति अभाव या अवगुण आता ही नहीं, किसी से परेशान नहीं रहता है। उसका कारण यह है कि वचनामृत प्रथम 27 के अनुसार, वह प्रगट मूर्ति को ही सर्व कर्ताहर्ता, नियामक मान कर वर्तता है। इसलिए जो कुछ भी होता है, वह सब उसके लिए दिव्य ही है। अतः गुरुमुखी ही क्रिया करने की आदत डालनी और सदैव सुखी रहना।

–जुलाई, 1963

74

अवगुण लेने का अधिकार

सभी शास्त्र, धर्म, और आचार्य तथा संत पुरुष आग्रहपूर्वक एक मत से रहस्य में यही बताते हैं कि जो आध्यात्मिक स्थिति को प्राप्त करना और एकांतिक भक्त बनना चाहता है, उसे अन्यों के अभाव-अवगुण या परनिंदा में पड़ना नहीं चाहिए। प्रगट ब्रह्मस्वरूप योगीजी महाराज तो अपने प्रत्येक आशीर्वाद में यही बात दोहराते हैं कि दिव्यभाव ही बढ़ाएं और अवगुण देखने का द्वार हमेशा के लिए बंद रखें; तो बड़े पुरुष के अंतर की प्रसन्नता प्राप्त हो जाए और जीव को अतिशय बल मिलता है। वचनामृत में तुलसीदासजी की साखी बताते हुए श्रीजी महाराज कहते हैं–'तुलसी जाके मुखन से भूले निकसे नाम, ताके पग की पहनियाँ मेरे तन की चाम; वह भी कम ही है।' वचनामृत कारियाणी 9, मध्य 28, 63, अंत्य 2, 5 इत्यादि में कहा गया है कि यदि पशु-पक्षी को भी भगवान से संबंध हुआ हो, तो वे भी दिव्य गिने जाते हैं। तो, प्रगट भगवान को पहचान कर जो भजन करता हो, उसकी तो कितनी महिमा होगी, इस विषय में मुमुक्षुओं को सोचना चाहिए। भागवत में तो भगवान का केवल स्मरण करने वाले अजामिल जैसे चांडाल को भी यज्ञ करने का तत्काल अधिकारी गिना है, तो फिर सेवा करने वाले को तो क्या प्राप्ति होगी, इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह बात बुद्धि से परे की है। इसलिए अनुभवी पुरुषों ने तो अपनी देह, जाति, वर्ण, स्वभाव का ही अवगुण देखने की आज्ञा दी है, ताकि वे एकांतिक भक्त बन सकें। यह निर्दोषबुद्धि का सिद्धांत ही है। मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामिजी ने जीव को ब्रह्मरूप होने के लिए, भगवान, संत और संबंध वालों के केवल गुण ही गाने का उपाय बताया है, पर 'फलां ऐसा और फलां वैसा' ऐसी बातें करने के लिए मना किया है। अन्यों के दोष देखने और कहने से वे दोष हम में आते हैं और बुद्धि शापित हो जाती है। पू. जागास्वामी, पू. भगतजी महाराज, पू. कृष्णजी अदा तथा बड़े-बड़े परम भागवत संतों ने अपने अनुभवों से हरिभक्तों की महिमा जान कर उनकी सेवा और भक्ति करने कहा है।

कई नासमझ तो पू. गोपालानंदस्वामी, गुणातीतानंदस्वामी, पर्वतभाई, दादा खाचर इत्यादि के भी अवगुण लेकर, द्रोह करते हैं। जिनका मन अपने काबू में न

रहता हो और सूक्ष्म राग, स्वभाव भी बाधारूप बनते हों, देहाभिमान बढ़ता ही रहता हो, दूसरों के आकार, दोष और क्रिया की ओर नज़र रख कर सत्संग में कुसंग फैलाते हों, वे बड़े पुरुष की प्रसन्नता खो देते हैं। ऐसों को वचनामृत प्रथम 20, मध्य 53, वड़ताल 12, मध्य 4 इत्यादि में महाराज ने मूर्खों का राजा, अधर्मी से अधर्मी और विमुख ठहराया है, क्योंकि उन्हें अपने जीव की गति का ख्याल नहीं है। ऐश्वर्य आने पर मन तो क्या कर डाले? विपरीत माहौल में मति गज़ब की हो जाए! प्रगट स्वरूप के प्रति ही जीव में निर्दोषभाव दृढ़ हुआ नहीं हो और अन्यों की मत्थापच्ची में जो पड़े रहते हैं, वे अपना ही नुकसान करते हैं; क्योंकि यह सत्संग तो महाविष्णु रूप-ब्रह्मरूप ही है।

बड़े पुरुष तो अपने संबंध से जीव का कल्याण करते हैं। वे जीव की चिंता करते हैं तथा सत्संग से जोड़ कर , लगाव करा कर जीव की प्रगति कराते हैं; परंतु अज्ञानी जीव तो इस बात को समझ ही नहीं सकते। इस विषय में ईसु ख्रिस्त ने विचार करने योग्य एक अच्छा दृष्टांत दिया है।

एक पतित स्त्री को लोग पत्थर मार रहे थे। तभी ईसु ने हस्तक्षेप करते हुए सभी से पूछा, 'तुम ऐसा क्यों कर रहे हो?' लोगों ने कहा–'यह स्त्री चोर और पतित है।' तब ईसु ने कहा–'तुम सब में से जो निर्दोष हो, प्रमाणिक हो, जिसने कभी चोरी न की हो ऐसा व्यक्ति ही इसे पत्थर मारे, अन्य दूसरे किसी को यह अधिकार ही नहीं और यदि कोई ऐसा करेगा तो वह महापाप का भागीदार होगा।' यह सुन कर सभी स्तब्ध रह गए और अंतर्दृष्टि करके लौट गए।

हमारे सत्संग में संपूर्ण ब्राह्मीस्थिति वाले पुरुष प्रगट ब्रह्मस्वरूप योगीजी महाराज हैं उन्होंने जिन्हें महंत नियुक्त किए हों, ऐसे अनुभवी पुरुष से एकांत में पूछना चाहिए कि फलां का अवगुण लें या निंदा करें या नुकताचीनी करें या नहीं? फिर वे जो कहें, वो करने में दोष नहीं है। परंतु इस बात के लिए जाग्रत रहें कि मनमाने ढंग से जगत में अच्छा दिखने के लिए किसी सत्संगी या भक्त का द्रोह न कर बैठें। दूसरी बात, वचनामृत लोया 7 के अनुसार, जब हम स्वयं ही ब्रह्मरूप होकर परब्रह्म की सेवा करने के अधिकारी न बने हों, तो फिर दूसरों की झंझट में क्यों पड़ें? दरअसल, यह महा अज्ञान है।

श्रीजी महाराज ने पुष्टिमार्ग द्वारा अनंत जीवों को कल्याण के मार्ग पर अग्रसर किया। उन्होंने सभी की मान्यताओं और रुचि का ध्यान रखते हुए, बड़े संत के

माध्यम से सभी के लिए आत्यंतिक कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है। परंतु, जब तक हमें सिद्धदशा प्राप्त नहीं होती, तब तक हम यह समझ नहीं पाएंगे कि दिव्य पुरुष किस कला में खेलते हुए, जीवों की प्रगति कराते हैं। इसलिए उनकी कल्याण रीति में अपना दिमाग़ लगाना मूर्खता ही कही जाएगी न? संप्रदाय की मर्यादा क़ायम रखते हुए, धर्म के प्रचार और भक्ति में कोई विघ्न न आए या दोष न आए, इसलिए श्रीजी महाराज ने सदैव ही बड़े पुरुषों का निरंतर समागम करने का आग्रह किया है। जीव को एकांतिक धर्म सिद्ध कराने की इन्हें लगन लगी होती है, सो उसे टोकते व डाँटते हैं। आख़िरकार, संत उसे रोग देकर शुद्ध करते हैं या अपमान भी कर सकते हैं। सिद्ध पुरुषों को अनादि काल से यह अधिकार है ही; जैसे–

(1) ब्राह्मीस्थिति प्राप्त विभूति

(2) महंत या सद्‌गुरु के रूप में नियुक्त

(3) आत्मा-परमात्मा के स्वरूप के अनुभवज्ञान युक्त विभूति

(4) संपूर्ण रूप से पंच वर्तमान का पालन करते हुए, भगवान का अखंड संबंध रखने वाले संत

(5) साक्षात् भगवतस्वरूप में वर्तते

संत-महात्मा आदि अलौकिक रीति से जीवों का शुद्धिकरण करते रहते हैं और केवल उनकी कृपा से ही बीज रूप मान और काम, जो सभी को बाधारूप बनते हैं, वे टलते जाते हैं; पर, केवल साधन से वासना या देहाभिमान टलते ही नहीं – यह सैद्धांतिक बात है। श्रेष्ठ कक्षा वाले अधिकारी पुरुष की बात और है, किन्तु यदि आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त किए बिना दूसरों की नुकताचीनी में पड़ेंगे, तो वह जीव की मृत्युडोर को न्यौता देने के समान है। बड़े पुरुष तो सब कुछ अपने सिर पर लेकर, जीव को बल देकर-शुद्ध करके उसे भगवान में जोड़ देते हैं। जिस प्रकार, बिल्ली अपने बच्चे को मुँह में पकड़ती है, लेकिन वह अपना दाँत उसे लगने नहीं देती, जबकि वह चूहे को गुस्से से पकड़ती है; इसी प्रकार, सत्संग में व्यवहार के कारण संत हमें कुछ कहे, टोके या डाँटे भी, लेकिन आत्मबुद्धि व प्रीति से उनके घर के सगे-संबंधी की भाँति वे बरतते हैं।

अवगुण लिया किसे कहा जाए ? इसका उत्तर महाराज ने वचनामृत मध्य 44 में दिया है – अन्यों का दोष थोड़ा-सा भी होने पर अधिक देखे और उसके गुणों को अनदेखा कर दे – इसे अवगुण लिया कहा जाए। भाव बदल जाए, कुछ भी सोचे-समझे,

परखे बिना हरिभक्त में निहित गुण को दबा कर, उसकी ज़ाहिर में निंदा करे तब अवगुण लिया कहा जाए। निजी गुणों का अहंकार आता है, तब वे अन्यों का अवगुण देखते हैं। दरअसल, अज्ञान, ईर्ष्या, मान से निजी दोष टलते नहीं, सो वे सत्पुरुष का अभाव लेते रहते हैं। परंतु, यदि दिल की सच्चाई व प्रमाणिकता से निष्कपट हो जाएं तो अज्ञान टल जाता है और दिव्यभाव दृढ़ हो जाता है। भगवान और संत की अपरंपार महिमा समझ में आ जाती है और किसी का भी दोष नज़र में आता ही नहीं। सो ही पू. योगीबापा सभी से ऐसी निर्दोषभावना दृढ़ कर लेने का आग्रह करते हैं।

विवेकबुद्धि का वचनामृत प्रथम 16 यदि सिद्ध हो जाए, तो किसी का भी अवगुण आएगा ही नहीं और जीतेजी ही अक्षरधाम का सुख प्राप्त होगा। सभी के लिए यह सुलभ हो ऐसी अभ्यर्थना।

–अक्तुबर, 1963

75

प्र.ब्र.स्व. पू. योगीजी महाराज की ज्ञानवार्ता

[शरद्पूर्णिमा के दिनों में पू. स्वामिजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) अक्षरमंदिर गोंडल में अलौकिक बातें करते हैं। उनके प्रत्येक प्रवचन, बात में 'निर्दोषबुद्धि' का मुख्य सूत्र आता ही है। सो, रहस्य की यह बात प्रत्येक साधक को जीवन में बुन लेने जैसी है। सैद्धांतिक बात यह है कि प्रत्यक्ष सत्पुरुष की कृपा से ही दिव्यभावना दृढ़ होने पर, उनके संबंध वालों के प्रति भी दिव्यभाव बना रहता है। अतः एकांतिक धर्म सिद्ध करने के लिए, सभी को अखंड जाग्रतता से सत्संग करने की आवश्यकता व अनिवार्यता है। भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर करी बातों का सार निम्नांकित है।]

1. दिनाँक 30-9-63 सुबह साढ़े पाँच बजे, संतों व हरिभक्तों के समक्ष उन्होंने कहा – *'आज तो मोक्ष की दिवाली है। मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामी का जन्मदिन मनाया जाए, वो जिस प्रकार चक्रवर्ती राजा गद्दी पर आए, तब उम्र क़ैद वाले क़ैदियों को रिहा कर देते हैं और जेलों को दूध से धोते हैं, उसी प्रकार ढेर पापों का नाश होकर नया जन्म हो जाए, ऐसा यह अवसर है। सो, सेवा और समागम का लाभ ले लेना।'*
2. क्रोध का मलिन संकल्प कभी नहीं करना। छोटों पर हो जाता हो, तो बड़ों पर, और तो और अपने ईष्टदेव पर भी आ जाए। सो, इसे तो तनिक भी हावी न होने देना। वचनामृत मध्य 27 के अनुसार, धूल का भी गुण लेना, क्योंकि मिट्टी में से ही धान उत्पन्न होता है। दत्तात्रय का दृष्टांत अपने समक्ष रखना। सभी के केवल गुणों को ही ग्रहण करें, तो बहुत गुण प्राप्त हो जाएं। यदि (किसी का) स्वभाव सत्संग के योग्य न हो, फिर भी उसे संबंध किसका है वह देख कर उसका गुण ही लेना-सद्भाव ही रखना। वच. प्रथम 24 के अनुसार, यदि यह बात समझ आ जाए, तो जीव वृद्धि को पा जाए। बढ़ने-घटने का यही बड़ा साधन है।
3. भोजन करते हुए थाली में शेष नहीं छोड़ना। अन्य चार जनों के काम आएगा। मंदिर को भी घर समझ कर वर्तना। आठ प्रकार के सत्संगी होते हैं। उनमें से मालिक बन कर वर्तने वाला उत्तम कहा जाए। उसे बुरा नहीं लगता। अन्य तो दोबारा परोसने आने से बचने के लिए, एक बार में ही ज़्यादा डाल देते हैं। **झूठा**

भोजन छोड़ने पर महाराज की प्रसादी का बिगाड़ होता है। अतः विवेक रखना चाहिए। **महाराज पांच बार परोसते थे और बिगाड़ नहीं होने देते थे।**

4. उदारता बड़ा गुण है। वह, अन्य को दे करके प्रसन्न रहता है। इससे अंतर में शांति-सुख का एहसास होता है।
5. जिस प्रकार चोसठ पॉरी पीपरामूल को जितना घिसा जाए, उतना लाभदायक-गुणकारी होता है; उसी प्रकार यदि कसनी सह कर गुण ग्रहण करें, तो जीव तत्काल बल को पाए और बड़े (सत्पुरुष) राजी होते हैं।
6. भले कोई हमें अपशब्द कहे, हमारा अपमान करे, हममें अवगुण देखे; पर हमें तो उसका अधिक से अधिक गुण ही लेना है, उसका मान रखें ताकि वह प्रसन्न हो। ऐसा करते हुए झुँझलाना नहीं और उसका किया नज़र में ही नहीं आने दें, तब संत पारस से पारस बनाते हैं। अंतर से राजी होकर बड़े पुरुष मुमुक्षु को भी अपने जैसा बना देते हैं। तत्पश्चात् वह जहां जाता है, वहीं शांति प्रदान करता है; अक्षरधाम का सुख उत्पन्न होता है और आनंद की अनुभूति होती है।
7. सत्संग के चार प्रकार हैं। उसमें देह, इंद्रियों और अंतःकरण से अधिक जीव का सत्संगी होना उत्तम व सोलह आना सत्संग हुआ कहा जाए। सो, वच. लोया-7 में भगवान को वश में कर लेने का जो ज्ञान है, वह सिद्ध करना। तत्पश्चात्, हीन बातें ही नहीं करनी। केवल प्रगट (प्रभु) के गुण गाना और भगवान का सुख लेना है। अतः गुणातीत मेरी आत्मा, स्वरूप और ब्रह्मरूप से वर्त कर भगवान को अखंड धारना, जिससे आठों प्रहर अहोहोभाव रहे और दिव्य सुख की प्राप्ति हुआ करे। बड़े (सत्पुरुष) के समागम से यह सिद्ध कर लेना है। सारा ब्रह्मांड ब्रह्मरूप हो रहा है, केवल हमारा जीव ही शेष रहा है। तो, अब लग पड़ें। ऐसा जोग दोबारा मिलने वाला नहीं– यह थोड़े में समझ लें।
8. जिसे स्वरूप की पहचान हो जाए, उसे ही वड़ताल 19 के अनुसार 'भक्त' कहा जाता है। फिर, भगवान उसके मनोरथ पूर्ण करके उसे सूझ देते हैं। अतः प्रथम तो स्वरूप की महिमा की बातें तो करनी ही, जिससे ज्ञान की वृद्धि हो। जिस प्रकार अनाज यदि पड़ा रहे तो सड़ जाता है, वैसे ही जितनी समझ हो उसके अनुरूप बातें न करें, तो ज्ञान व्यर्थ हो जाता है। सो, भगवान का स्मरण करके कुछ भी बोलें-बातें करें, जिससे प्रकाश हो और हम में से भगवान स्वयं बोलें।

9. (सत्संग की) मुख्य सड़क पर ही चलना। महाराज ने 'निर्दोषबुद्धि' का राजमार्ग प्रशस्त किया है। यदि इसकी बजाय अमहिमा के उबड़-खाबड़ रस्ते पर भटकने लगेंगे, तो हठ, मान, ईर्ष्या जैसे अंतर के चोर हमें लूट लेंगे। अतः अभाव-अवगुण की बातों में पड़ना ही नहीं।
10. संतों को हरिभक्तों की महिमा समझ कर, उनका समागम करना चाहिए। यह अन्योन्य है। त्यागी-गृही में कोई फर्क नहीं। स्वरूपानंदस्वामी और पर्वतभाई का दृष्टांत विचारणीय है। सो, यह अनिवार्य नहीं कि भगवान त्यागी द्वारा ही बोलते हों, वे हरिभक्त द्वारा भी बोलते हैं। अतः एक-दूजे का समागम करेंगे, तो ज्ञान की वृद्धि होगी।
11. प्रह्लादजी ने दस हज़ार वर्ष तक तप किया, लेकिन नारायण राज़ी नहीं हुए। अंत में भगवान ने कहा– *'नेत्र में मेरी मूर्ति धारो, जीह्वा से मेरा (नाम) रटण और मन में मेरा मनन करो, तो छः मास में तुम्हारे वश में हो जाऊँगा।'* भक्त प्रह्लाद द्वारा वैसा करने पर भगवान उसके वश में हो गए। इसी प्रकार गुणातीतानंदस्वामी की आज्ञा से रामदासभाई (वंथली) गए तो 24 घंटे के भजन से मूर्ति दे दी। आज भी समय ऐसा आया है कि केवल 24 घंटे में महाराज और स्वामी वश हो जाएं। अतः बड़े पुरुष के वचन में अत्यंत विश्वास रख कर समागम कर लें, तो मूर्ति सिद्ध हो जाए और अखंड सुख की अनुभूति हो तथा अन्यों को प्राप्त हो।
12. संतों-हरिभक्तों ने सुबह याचना की – आज ऐसे अच्छे आशीर्वाद दे दो कि महाराज और स्वामी अखंड राज़ी हो जाएं और चैतन्य में अखंड विराजमान रहें। तब हँसते-हँसते आगे को आकर कहा– *'यदि निर्दोषबुद्धि रखेंगे, तो स्वामिश्रीजी अखंड विराजमान रहेंगे और राज़ी रहेंगे। यही चने की दाल और यही चने की रोटी है।'* यही सार का सार है। समागम क्यों करना चाहिए ? इसका उत्तर भी हँसते हुए उन्होंने स्वयं ही दिया– *'निर्दोषबुद्धि दृढ़ हो इस हेतु।'*
13. स्वयं ही बड़े ज्ञानी मुक्तों से प्रश्न पूछा– *सच्चा तप क्या ?*
सभी ने कहा कि आप ही बताएं। तब उन्होंने स्वयं कहा– मन को मारना, उसका (मन का) कहा नहीं करना ही सच्चा तप है। मनमानी करना कनिष्ठ और संत के वचन से करना निर्गुण है। उसमें बंधन नहीं, उसमें अखंड शांति का अनुभव होता है।
14. उत्तम निर्विकल्प निश्चय दृढ़ क्यों नहीं होता ? पू. स्वामिजी ने कहा–पू.

संतस्वामी उत्तर देंगे। पू. संतस्वामी ने कहा–'माहौल अच्छा हो, उत्तम अनुभवी वक्ता हो और उत्कृष्ट श्रद्धावान जीव हो, तो जीतेजी (ही निश्चय दृढ़) हो जाए।' यह सुन कर गुरुजी (पू. योगीजी महाराज) ने कहा–उत्तर यथोचित है, लेकिन उसका रहस्य जो तुमने समझा, वह स्पष्ट करो। फिर स्वयं ही बोले– *गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज जैसे पुरुष मिले और उन्हें जाना, यह तो समझ आया, लेकिन उन्हें मन नहीं सौंपा, इसीलिए बड़ा अंतराय रह गया और कसर रह जाती है।* अतः यदि सम्यक् प्रकार से गुरुचरणों में मन सौंप दें, तो बड़े पुरुष उत्तम निर्विकल्प निश्चय दृढ़ करवाते हैं, इसमें संशय नहीं। फलस्वरूप उसे अखंड मस्ती रहती है, शांति, सुख और आनंद के ही फव्वारे उड़ते हैं और प्रकृति पुरुष तक का कार्य निर्माल्य बन जाता है और वहां नज़र भी न जाए, ऐसा बना देते हैं।

अतः बड़ों का समागम करके यह उत्तम बात सिद्ध कर लेनी है। रोटी तो साधु और भगवान निस्संदेह देंगे और देंगे ही। व्यवहार का मार्ग जटिल नहीं, वह तो सभी संभाल लेते हैं, परंतु ज्ञानमार्ग-यानि, संत के वचन से ही प्रवृत्ति करनी और जाग्रतता से वर्तना कठिन है। तो, सावधान रह कर लग पड़ना।

15. मुक्तों को भी मायिकभाव बाधारूप होता है। अतः वच. मध्य 31 के अनुसार ब्रह्म का मनन द्वारा निरंतर संग करें, तो ही मायिकभाव टल पाता है और लोया 7 के अनुसार, जीव ब्रह्मरूप होकर परब्रह्म की सेवा का साक्षात् अधिकारी बनता है और पार्षद बन जाकर जीतेजी ही भगवान के ही सुख का अनुभव करता है, भोगता है और प्राप्त करता है।

16. स्वयं का स्वरूप 'प्रकाशमान' लगे यानि क्या ? अपने स्वरूप को गुणातीत माने और जीव में उसकी दृढ़ता हो जाए। शोला देखना–वह नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष सत्पुरुष में दिव्यभाव रख कर उनकी महिमा को समझें; अर्थात् सत्पुरुष के प्रति लेशमात्र भी मनुष्यभाव न आए, इसे 'प्रकाशमान' लगा कहा जाए। शोला (प्रकाश) दिखे और बंद हो जाए तब मनुष्यभाव आए-ऐसा नहीं। यह तो 'स्थिति' की बात है। अखंड दिव्यभाव से देखने की दृष्टि बने, तब होता है। 'ब्रह्म के संग से मैं ब्रह्मरूप हूँ', ऐसी जीव में दृढ़ता हो जाए और संकल्प का व्यवहार ही बंद हो जाए। भगवान प्रगटेंगे और अखंड सुख का एहसास होगा।

17. जिस प्रकार महाराज मूल अक्षर में अखंड विद्यमान हैं, उसी प्रकार वच. प्र.

27 के अनुसार, मूल अक्षर के प्रसंग से, भगवान के संग एकता किए संत में महाराज अखंड निवास करके रहते हैं। फर्क केवल इतना ही है कि वे स्वामीसेवक भाव से जीते हैं, अन्यथा वे स्वयं पुरुषोत्तमरूप ही हैं। प्रश्न उठता है कि उनमें कोई तारतम्यता है या नहीं। इस पर पू. बापा ने कहा–स्वामीसेवक भाव रहता ही है। वर्ना, तद्वत्भाव को पाए संत गुणातीत स्वरूप ही होते हैं! महाराज तो परात्पर हैं। उन्हें जैसा जानें, वैसा बना देते हैं। गुणातीत के साथ एकता है, किन्तु महाराज के साथ स्वामीसेवक भाव होता है और वे अनादि महामुक्त पुरुषोत्तमरूप ही वर्तते हैं। उनके प्रति मनुष्यभाव नहीं ही लाना चाहिए। पू. जागास्वामी, पू. भगतजी महाराज अनंत को ब्रह्मरूप बना दें, ऐसे सक्षम थे। वे गुणातीत के प्रसंग से पुरुषोत्तमरूप बने थे और जहां जाते वहां भगवान को ही निहारते और उन्हें प्रगट करके जीवों को ब्रह्मरूप बना कर भगवान में जोड़ देते थे। इसके अतिरिक्त उनका अन्य कोई उद्यम नहीं था। उनके लिए प्रकृति-पुरुष तक सब कुछ तुच्छ था। बड़े संत के जोग से उन्होंने सिर्फ भगवान को ही रखे थे। ऐसा जोग आज भी है। तो, वर्तमान में हमें ब्राह्मीस्थिति प्राप्त कर लेनी है।

18. सुहृद्भाव ही एकांतिकभाव है-जीव का जीवन है। यह (सुहृद्भाव) होगा तो 'अन्य तीन' भी आ जाएंगे। वे क्या? वे हैं–उपासना, आज्ञा तथा एकांतिक से प्राप्ति। अतः, यह एक ही सनातन सिद्धांत यदि बड़े (पुरुष) की कृपा से सिद्ध हो जाए, तो हम संपूर्ण हो जाएंगे। सो, इस बात को जीव में दृढ़ करते रहना।

–प.पू. काकाजी द्वारा संपादित
नवंबर-दिसंबर, 1963

76

ब्रह्मचारीराज की अपूर्णताएँ एवं संत समागम

विभिन्न धर्मों में दर्शनशास्त्रियों-तत्त्वज्ञानियों ने किसी एक या अन्य विशिष्ट गुण को प्रधानता देते हुए, उस गुण को अंतःकरण की शुद्धि का साधन बता कर, कल्याण की रीति निश्चित् की है। उदाहरणार्थ जैन धर्म में 'अहिंसा' को ही परम धर्म और कर्म द्वारा मोक्ष या निर्वाण माना गया। इसी प्रकार, किसी धर्म में 'सत्य' की उपासना, तो कहीं तप-त्याग-भक्ति की महत्ता रही। **श्रीजी महाराज ने** निर्वासनिक होकर, **'ब्रह्मभाव से भगवान की भक्ति'** करने का ही मुख्य आग्रह रखा है। इस हेतु **'भगवान या सत्पुरुष के आश्रय'** को ही अनंत साधनों और गुणों में सर्वोत्कृष्ट साधन बताया, सिद्ध किया और प्रगट (सत्पुरुष) की प्रसन्नता के सभी साधन स्पष्ट किए ताकि तमोगुणी और रजोगुणी मुमुक्षु भी, सिर्फ प्रगट के आश्रय से, आत्यंतिक कल्याण के मार्ग को पार कर लें और जीतेजी अक्षरधाम का सुख भोगें।

ऊपरी आडंबरयुक्त ब्रह्मचर्य या अष्ट प्रकार से स्त्री का संबंध न रखना, **'निष्काम धर्म'** का सही अर्थ नहीं; बल्कि, अंतर की कामनाओं, इच्छाओं और वासनाओं को जीत कर, केवल भगवान का ही प्राधान्य रहे और संत व उनसे प्रीति वाले भक्तों को प्रधानता देते हुए विनम्रभाव से साधुता की प्रॅक्टीस करते हुए सेवक बन कर सेवा करना ही 'निष्काम धर्म' बताया गया है। उसी मुमुक्षु को ब्रह्म का दर्शन होता है, और फिर अभिमान रहित होकर, साधुता सीख कर एकांतिक भक्त बनता है। दूसरी ओर, बाह्य स्वप्रयत्न का बल रखने वाले कई ब्रह्मचारी नरक में निवास करने जैसा दुःख भोगते थे। लेकिन, मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामिजी ने दया करके प्रगट का प्रताप समझा कर, **'निर्दोषबुद्धि'** दृढ़ करा कर भूत योनि में जाने से बचाया है-ऐसा उनकी बातों में ज़िक्र है। शास्त्रों के अनुसार, शिवजी करोड़ गुणा निष्कामी थे, लेकिन महाक्रोधी होने के कारण कल्याण में विघ्न आए। भीष्म जैसे योद्धा को भी, भगवान के भक्त अर्जुन का प्रतिद्वंदी बनने के कारण अज्ञानी और महापापी ठहराया गया। इसी वजह से सुधन्वा का मस्तक स्वयं भगवान श्री कृष्ण ने सुदर्शन चक्र से उड़ा दिया।

फिलहाल भी कई त्यागी और मुक्त, पूज्य ब्रह्मस्वरूप योगीजी महाराज जैसे प्रगट सच्चे संत का जाने-अनजाने में अभाव लेते हैं, वे भी कल्याण के मार्ग से गिरे हुए ही गिने जाएं। 'स्वामी की बातें' में बताया गया है कि ऐसों की संगति में रहने वाले, यदि ऐसे भगवत्स्वरूप संत में मनुष्यभाव लाएं, तो वे आसुरी बुद्धि वाले माने जाएंगे।

सनातन धर्म और भागवत धर्म के मूलभूत तत्त्व तो सिर्फ दो ही हैं –

1. सदा साकार भगवान या उन्हें मिले (यानि प्रगटाए) संत को मानना-उन्हें पहचानना और उनका आश्रित बनना।
2. उनके बल से, कृपा से, अनुग्रह से, अपना ही दोष देख कर, भक्तसहित भगवान के गुण गाना, सेवा करना और सद्भाव बढ़ाना। फलस्वरूप, हमारा जीव शुद्ध होकर वासना टलेगी-हम ब्रह्मरूप हो जाएंगे और तब ही हम परब्रह्म की सेवा के अधिकारी बनेंगे।

सो, (यदि) **'संत का समागम'** समझदारी से किया जाए, तो तत्काल फल मिलेगा ही। यह बात खूब सोच मांग लेती है। सर्वोपरि संत मिलने के बाद भी यदि हममें व्यवहार प्रधान रहे, अभाव-अवगुण आते रहें और मन अशांत रहे, विक्षेप हो और अखंड आनंद प्राप्त न हो, तो फिर अपना ही अंतर टटोल कर स्वयं का पक्का कर लेने की आवश्यकता है। प्रथम स्वयं ही ब्रह्मरूप होने का प्रयत्न करें। महाराज ने उसे ही सयाना, बुद्धिशाली और विवेकी कहा है। अतः ऐसा अमूल्य संत-समागम करना लाज़िमी है।

यूरोप के ग्रीस में **'माऊंट एथोस'** नामक एक टापू है। वहां हज़ारों पादरी, स्त्री का अष्ट प्रकार से त्याग करके, ब्रह्मचारी का जीवन व्यतीत करते हैं। वहां उनका ही राज है। नारी जाति के पशु तक को पुलिस वहाँ घुसने नहीं देती। सभी मौन धारण कर, अपने कामकाज के सारे फर्ज़ पूरे करते हुए, ईश्वरचिंतन करते रहते हैं। किसी मुसाफ़िर को भी स्त्री का चित्र लेकर वहां आने की अनुमति नहीं है। धन का अखूट भंडार है। हज़ारों वर्षों से ऐसा जीवन व्यतीत करते हुए वे वहां रहते हैं। वहां सात मठ हैं। प्रति वर्ष कुछ नए साधक कम होते जाते हैं। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य पालन के नियम कठोर होने के कारण सभी वहाँ टिक नहीं पाते, सो चले जाते हैं। भगवान या प्रगट संत के दर्शन और योग के बिना या प्रगट स्वरूप के बल के बिना, अभी तक उनमें से किसी को भी ब्रह्मदर्शन नहीं हुआ है। बल्कि हठ, मान, ईर्ष्या और एक-दूसरे के प्रति शंका की दृष्टि से देखते हुए, चुपचाप, अंधकार में निराकर भगवान का ध्यान करते रहते हैं।

सो, 'संत समागम' की अपेक्षा अन्य किसी भी प्रकार के बल की कोई हैसियत नहीं है। चौथे प्रकरण की 61वीं स्वामी की बात के अनुसार, भले ही (हम में) कोई भी गुण न हो, पर संतकृपा से निश्चित रूप से प्राप्त होते हैं और कल्याण भी अवश्य होता है। वच. सारंगपुर 18 एवं वड़ताल 3 के अनुसार, गुरुहरि की सेवा और प्रसंग से एकांतिकी भक्ति अवश्य सिद्ध होगी। सो, **'निर्दोषबुद्धि'** दृढ़ करने की लगन रख कर प्रसन्नता प्राप्त कर लें। केवल भगवान की कृपा से ही गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज ने, सभी को अक्षरधाम बख़्शिश में दिया है। प्रगट ब्रह्मस्वरूप योगीजी महाराज उस दिव्य सुख और दिव्यानंद को जीतेजी ही भोगने का सभी को बल दें। वच. अत्यं. 27 के मुताबिक़, निर्मानीभाव और **सहन करना** ही साधुता का प्रधान धर्म और गुणातीत ज्ञान की विशिष्टता है – उसे सरलता से सभी को सिद्ध करवाएं यही नम्र प्रार्थना है।

– फरवरी, 1964

1964 में प.पू. स्वामीबापा की जयंती के प्रसंग पर प.पू. काकाजी के उद्‌बोधन में से –

हम यहां आए हैं, वही महान साधन है। और क्या साधन करने हैं ? सद्‌गुरु नारणदासस्वामी ने कहा था कि तीन शिखर का मंदिर होगा। **शास्त्रीजी महाराज** ने अनेक कठिनाईयाँ - दुःख झेल कर यह सर्वोपरि स्थान खड़ा कर दिया। स्वामिजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) कई बार कहते हैं –

चालीस - चालीस साल तक सेवा करते हुए ये हाथ थक गए हैं, तब जाकर यह गद्‌दी मिली है।

उन्होंने गुरु कृष्णजी अदा और शास्त्रीजी महाराज को राज़ी किया है। उनसे हमें लगाव है, सो हमारा कल्याण होगा। वसो गांव में मैंने और हर्षदभाई ने (प.पू. योगीबापा से) पूछा –

हम आपको निर्दोष मानते हैं, तब भी निर्दोष क्यों नहीं होते ?

तब स्वामीश्री ने हंसते - हंसते उत्तर दिया –

सत्पुरुष यदि ज़रा - सा हमारी मरज़ी के मुताबिक़ न करें और मन को मचेड़ें तब पता चलेगा कि कितना निर्दोष मानते हैं।

देह छोड़ कर जिन्हें पाना था, वे वच. अंत्य. 2 के
अनुसार जीतेजी ही गुरुहरि के रूप में प्राप्त हुए!

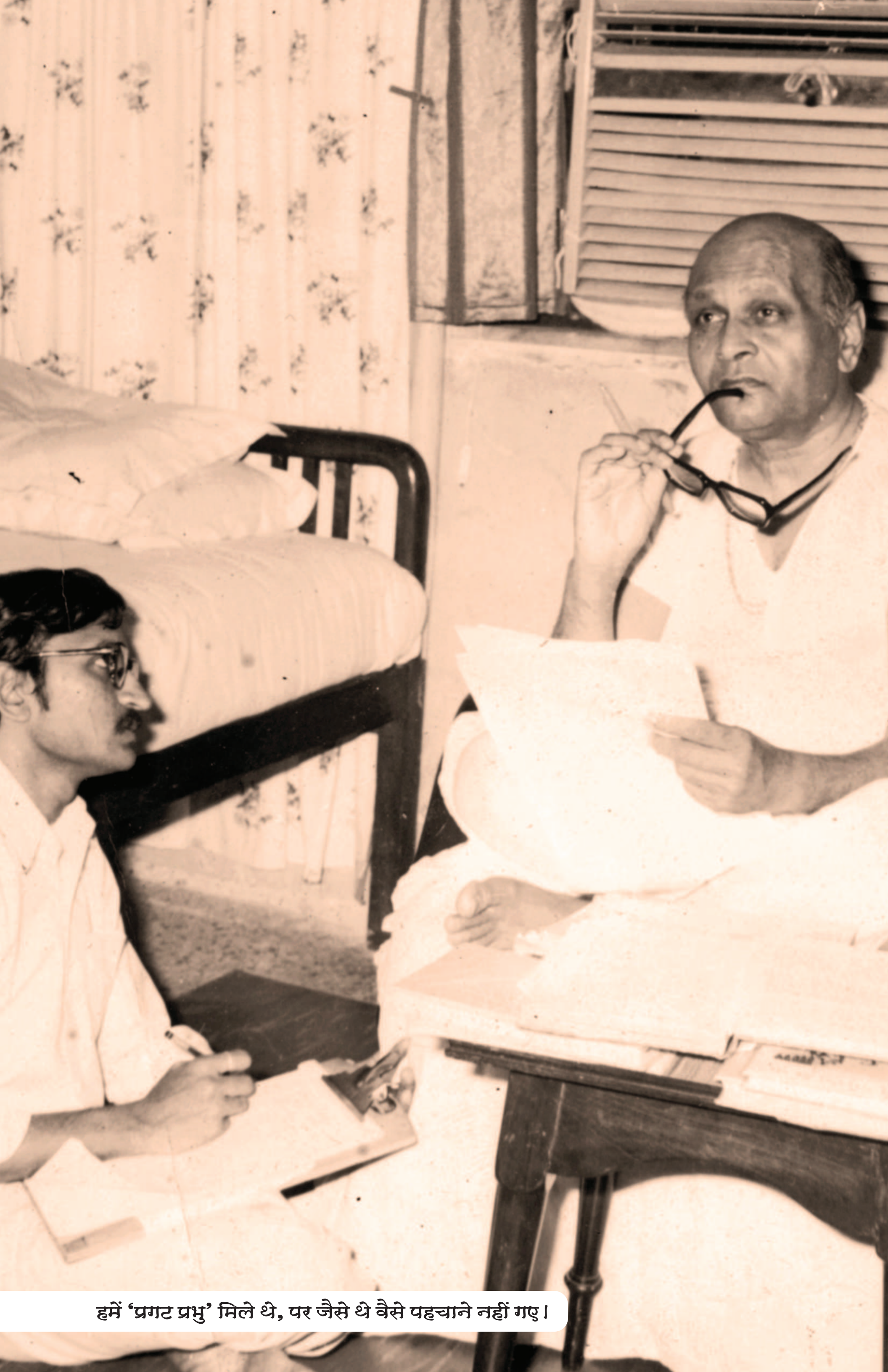

हमें 'प्रगट प्रभु' मिले थे, पर जैसे थे वैसे पहचाने नहीं गए।

77

प्रगट स्वरूप की साधन प्रणाली का रहस्य

श्रीजी महाराज ने सिर्फ कृपा एवं अनुग्रह करके,
अपने अनादि धाम अक्षरब्रह्म और पाँच सौ परमहंसों सहित पृथ्वी पर पधार कर,
मानवजाति के लिए आत्यंतिक कल्याण का मार्ग सदैव खुला रखने हेतु,
इस मार्ग के स्वरूप व रहस्य को प्रगट उपासना में सर्वोत्तम रीति से बता दिया है
और
आत्मा-अनात्मा का स्पष्ट विवेक
मूल अक्षरब्रह्म या उनके तद्वद्भाव को पाए संतपुरुष द्वारा अखंडित रखा है।
सभी मुमुक्षुओं को एकांतिक (भक्त) के प्रसंग से अनिवार्य रूप से समझ लेना चाहिए कि–
यह हम पर उनकी अति कृपा और दया है।
प.पू. गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज ने हमें
'सत्संग' की पहचान कराई अर्थात् 'सत्पुरुष' की पहचान कराई
और
जीव का सत्संग–ब्रह्मरूप होकर भगवान में जीतेजी ही सम्यक् प्रकार से जुड़ जाने का दिव्य मार्ग-सरल बना कर दिया।
यूं, जीतेजी ही साक्षात् अक्षरधाम का दिव्य सुख, शांति और आनंद प्राप्त करने के लिए संगठनभाव व निर्दोषबुद्धि की अनादि रीति दृढ़ कराई।
उनके द्वारा दी गई यह अति अमूल्य विरासत, जीवों पर उनकी केवल कृपा को दर्शाती है।
उनके अंतर के आशीर्वाद प्राप्त करना ही
अनंत साधनों में से एक महान साधन बना रहता है।
तो, सभी को उनकी रुचि और अभिप्राय के मुताबिक़ पराभक्ति कर लेनी चाहिए।
फलस्वरूप जीतेजी ही परमपद की प्राप्ति हुई माना जाएगा
और
अक्षरधाम और भगवान का ही दिव्य सुख,

सर्वत्र अनुभव होता रहेगा, उसे प्राप्त करेंगे और भोग पाएंगे।
इस हेतु, सत्यकाम और आरुणी की भाँति,
दिव्यविग्रह प्रगट ब्रह्मस्वरूप पू. योगीजी महाराज में संपूर्ण विश्वास रख के,
उनकी जन्मजयंती के प्रसंग पर, शुभ संकल्प करके, शुद्धभाव से प्रार्थना करनी है।
प्रथम का 16, अंत्य. 11 और 7, पू. स्वामिजी (योगीबापा) के अतिशय प्रिय वचनामृत हैं।
मुमुक्षु मुक्तों के समक्ष वे इनका बार-बार उल्लेख किया करते ही हैं।
तो, पू. स्वामिजी को राज़ी करने के लिए हम इन्हें अपने जीवन में ढाल सकें,
ऐसा बल दें एवं सभी के प्रति दिव्यभाव दृढ़ हो जाए–
यही ऐसे मंगलकारी व कल्याणकारी शुभ दिन पर मांगना है।
वे (स्थूल रूप से) अधिक से अधिक वर्षों तक हमारे साथ रह कर,
अपनी दिव्य मूर्ति का सुख देते रहें
और
अनेकों को ब्रह्मस्थिति प्राप्त कराएँ, यही अभ्यर्थना है।
प्रगट स्वरूप की साधन प्रणाली का रहस्य–
उनमें संपूर्ण विश्वास रख कर,
उनकी रुचि और अभिप्राय के मुताबिक़, उनके ही वचन से
समग्र सत्संग की, गुणातीत बाग की दिव्यभाव रख कर सेवा कर लेने में समाविष्ट है–
यह सभी को समझ में आ जाए और कभी भी उन्हें विवश न करें,
इस हेतु स्वामी-श्रीजी सभी को सद्‌बुद्धि प्रदान करें, यही प्रार्थना है।

– अगस्त, 1964

78

भगवदी और एकांतिक के लक्षण

भगवान स्वामिनारायण ने सच्चे सत्पुरुष द्वारा अपना साक्षात् प्रकटीकरण अखंड रखा है। जीवों का आत्यंतिक कल्याण एवं एकांतिक धर्म जीतेजी सिद्ध हो, इस हेतु गुणातीत स्वरूप या वड़वानल अग्नि सरीखे परम एकांतिक भगवत्स्वरूप - निर्गुण स्वरूप द्वारा सर्वोपरि प्रकटीकरण पृथ्वी पर रख कर, वचनामृत प्रथम 27 में वैसे स्वरूप की स्पष्ट पहचान दे दी है। मानवजाति के लिए यही उनकी महानतम् बख़्शिश है। ऐसे अद्वितीय गुणातीत स्वरूपी की तत्त्व से – वे जैसे हैं वैसी, यथार्थ पहचान हो और भगवान में सर्वोपरिभाव से, निर्दोषभाव से जुड़ जाने के लिए, हमें ऐसे सत्पुरुष का सेवन करना होगा या फिर उनके एकांतिक भक्त अथवा भगवदी का प्रसंग करके, सदा साकार स्वरूप की प्रगट निष्ठा जीव में दृढ़ करनी होगी। तभी ब्राह्मीस्थिति प्राप्त हो सकती है और जीतेजी अक्षरधाम का निर्गुण सुख मिलता है।

यह रहस्य - अति गहन उच्च कोटि की बात - सद्‌गुरुवर्य **शास्त्रीजी महाराज ने ही सभी के लिए सिद्ध करके बताई**; उन्होंने अक्षर - पुरुषोत्तम के तत्त्वज्ञान को मूर्त स्वरूप दिया और अब गुरुवर्य योगीजी महाराज तथा अन्य संत व्यापक स्वरूप में इसी तत्त्वनिष्ठा को - आत्मा - परमात्मा, ब्रह्म - परब्रह्म के सर्वोपरि प्रकटीकरण के रहस्यज्ञान को - सभी के लिए सुगम, सुलभ बना कर, निर्दोषबुद्धि दृढ़ करवा कर, जीतेजी ही ब्रह्मरूप करके भगवान में जोड़ते हैं। सभी जीव गुणातीतभाव को पाकर आख़िरी जन्म करके दिव्य सुख अखंड प्राप्त करें, यही आदर्श रख कर वे भागवत धर्म की सिद्धि करवाते रहते हैं। यही उनकी अतिशय दया और अनुग्रह है।

प.पू. भगतजी महाराज, प.पू. जागास्वामी, प.पू. कृष्णजी अदा तथा गुणातीत बाग के सभी महान संतों ने गुणातीत स्वरूप के प्रकटीकरण की गुरुपरंपरा स्पष्ट बता दी है। उसी के अनुसार वर्तमान में ऐसे दिव्य निर्गुण स्वरूप, जिनमें महाराज अखंड रहकर जीवों के आत्यंतिक कल्याण के लिए सभी कार्य करते ही रहे हैं। उन्हें यथार्थ में पहचान कर, उनमें सम्यक् प्रकार से अपने जीव को जोड़ कर, निष्कपटभाव से, भगवदी या एकांतिक के प्रसंग और वचन से सेवा करते हुए, उनके प्रति निर्दोषभाव दृढ़ करके, उनका

सेवन करना होता है; तभी ब्राह्मीस्थिति निर्विघ्न सिद्ध होती है। वर्ना, विपरीत संजोग हावी हो जाएं और मनमानी न चलने दें, तो सत्संग में दिलचस्पी नहीं रहेगी और गुणातीतभाव को नहीं पा सकेंगे। अतः इस हेतु भजन करना व प्रथम प्रकरण की पहली और अंतिम बात, 237वीं बात और चौथे प्रकरण की 140वीं बात को सोच-समझ कर जीव में आत्मसात् करना है। यदि स्वरूप में सम्यक् रूप से निर्दोषभाव से-जुड़ जाएं, तो गुरुकृपा से उसे वैसी ब्राह्मीस्थिति प्राप्त होती है। लेकिन, यह मार्ग कठिन लगेगा, क्योंकि विपरीत माहौल से बचना कठिन होता है। स्वामिजी ने बड़े पुरुष के समागम द्वारा ब्राह्मीस्थिति को प्राप्त करना सभी के लिए सुलभ कर दिया है। तभी तो **गुणातीतानंदस्वामी** ने कहा:

'हम जैसे हैं, वैसा हमें पहचानना हो, तो भगतजी और जागास्वामी का समागम करो।'

सो, यथार्थ रहस्य जानने वाला – अभिप्राय समझने वाला मिले, तभी मार्ग सरल होता है, इतना ही कहने का तात्पर्य है। श्रीजी महाराज ने अपने कई वचनामृतों में एकांतिक की पहचान और लक्षण बताए हैं; स्वामी की बातों में भी कई जगह पर एकांतिक के लक्षण स्पष्ट रूप से बताए गए हैं और प्रीति सहित किसका समागम करना, यह भी बताया गया है। ऐसा संग बड़े पुरुष की मरजी समझ कर किया जाए, तो निर्दोषबुद्धि जल्द दृढ़ हो जाएगी और जीतेजी सुखी हो पाएंगे।

निम्न वचनामृतों में **एकांतिक के लक्षण** बताए हैं, जो विचारणीय हैं:

ग.प्र. 11 में मुक्तानंदस्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए महाराज ने कहा है –

*'जिसे भगवान के अलावा अन्य किसी में आसक्ति न हो और स्वयं को ब्रह्मरूप मान कर भगवान की भक्ति करता हो, वह **एकांतिक भक्त** कहा जाएगा।'*

ग.प्र. 15: *'भगवान के स्वरूप को हृदय में धारण करने की निरंतर कोशिश करता रहे और सौ वर्ष के बाद भी कायर होकर भगवान के स्वरूप को धारना न छोड़े; इस हेतु निरंतर प्रयासरत रहे – ऐसा जो वर्ते उसे **एकांतिक भक्त** कहा जाएगा।'*

प्र. 19: *'आत्मनिष्ठा, वैराग्य, प्रीति और स्वधर्म युक्त भगवान की भक्ति करने वाले को **एकांतिक भक्त** जानना।'*

प्र. 21: *'इन चार साधनों को एकांतिक धर्म कहते हैं और ऐसे **एकांतिक धर्म वाले** कई **भक्त** इस समय हमारे सत्संग में मौजूद हैं।'*

प्र. 47: *'जिसमें चारों प्रकार की निष्ठा एक के ही प्रति रहे, उसे **एकांतिक भक्त**- परम भागवत कहा जाता है।'*

प्र. 60: *'वासना से दूर रहे, वह **एकांतिक भक्त** है। निर्वासनिक होकर भगवान का भजन करे, उसी को **एकांतिक भक्त** कहा जाएगा।'*

मध्य 9: *'जिसे भगवत् स्वरूप का बल अधिक हो, वही **एकांतिक भक्त** कहलाएगा और वही पक्का सत्संगी कहलाएगा।'*

यूं, अन्य कई वचनामृतों में भी लक्षण बताए गए हैं, किन्तु उनका सार उपरोक्त में समाविष्ट है। जो एकांतिक हो, वह तो 'स्वरूप' का ही निरूपण करता है और भगवान को ही रख कर संत की सेवा करता है।

प.पू. योगीजी महाराज ने अलग-अलग समय पर निम्न लक्षण बताए हैं–

* *'जो स्वयं किसी के प्रति विपरीत भाव न रखे और अन्य किसी को यदि ऐसा विपरीत भाव आ गया हो तो उसे निकाल दे, वह सच्चा **परम एकांतिक भक्त** है।'*
* *'जो अखंड कसनी सहे और गुणग्राही हो, वह **एकांतिक** है।'*
* *'जो अक्षर-पुरुषोत्तम की निष्ठा प्रवर्ता कर, निर्दोषभाव से सेवा करे और कराए, वही **एकांतिक भक्त** है।'*

इसके अतिरिक्त, **भगवदी** की व्याख्या: **स्वामी की बात – प्रथम प्रकरण 1 की 206** –

*'जिस पर गुण का भाव हावी न हो और सदैव जाग्रत रहे, वह **भगवदी**।'*

प्रकरण 11 व प्रकरण 12 की 101वीं बात –

*'**भगवदी** तो कथावार्ता, ध्यान, भजन अखंड किया करता है और विपरीत माहौल में भी सत्संग से मुँह नहीं मोड़ता व उसकी श्रद्धा डिगती ही नहीं।'*

और... **पू. स्वामीश्री (योगीबापा)** कहते–

*'भगवान और संत के केवल गुण ही गाए और, वच. प्रथम 16 के मुताबिक़, विवेक रखे, वही सच्चा **भगवदी**। वह किसी के अवगुण तो देखता ही नहीं, बस बड़ों के गुण ही गाया करता है।'*

निर्दोषभाव वाले सभी भक्त **भगवदी** हैं। उनके संग ज्ञानयज्ञ किया करो और एकांतिक का प्रसंग रखा करो एवं स्वरूप का सम्यक् प्रकार से सेवन करो, तो जीतेजी ही ब्रह्मरूप होकर भगवान में अखंड जुड़े रह कर दिव्य सुख प्राप्त करते रहोगे। यह रहस्यवार्ता बड़ों की कृपा से समझ में आती है। ऐसी कृपा सभी पर बरसे ऐसी नम्र प्रार्थना है।

– नवंबर, 1965

***

79

गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज एवं उपासना की श्रेष्ठता

गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज श्री यज्ञपुरुषदासजी ने एक व्यक्ति-विशेष बन कर, अपने निजी असाधारण प्रताप, बड़प्पन एवं ऐश्वर्य को दबाए रख कर, सभी के कल्याण हेतु, राधाकृष्ण, लक्ष्मीनारायण, सीताराम की भाँति, अक्षरपुरुषोत्तम की स्वरूपनिष्ठा व भक्त सहित भगवान की युगल उपासना का भगीरथ, अजोड़, अद्भुत और अद्वितीय कार्य, अक्षर और पुरुषोत्तम, महाराज और स्वामी के सनातन युगल स्वरूपों को प्रतिष्ठित करके साकार कर दिया एवं स्वरूपनिष्ठा की श्रेष्ठता प्रमाणित करके प्रसिद्ध किया। उनके द्वारा संपन्न यह अद्भुत कार्य मानवजाति के लिए असाधारण बख़्शिश माना जाएगा।

सनातन धर्म के अनादि युगल कल्याणकारी स्वरूप, आत्मा व परमात्मा, ब्रह्म व परब्रह्म यूं सरलता से मूर्तिमान हुए; इस हेतु शास्त्रीजी महाराज ने अथक् परिश्रम किया और अपरिमित अडिगता व निश्चय रख कर असह्य अपमान सहे। यह इनका असाधारण ऐश्वर्य था। **शास्त्रीजी महाराज द्वारा ही स्वामिनारायण संप्रदाय मूलस्वरूप में स्थापित हुआ है; भविष्य में इस बात के प्रमाण मिलते रहेंगे!** ऐसी स्वरूपनिष्ठा को अब प.पू. प्र.ब्र. स्वरूप योगीजी महाराज व्यापक स्वरूप में ऐसी स्वरूप निष्ठा को सर्वत्र फैला रहे हैं और घर-घर में, सभी को अक्षरधाम का दिव्य सुख सुगमता से प्राप्त हो, यही उनका जीवनमंत्र बना है। नवयुवा संतों को गढडा में दीक्षा दी; तभी से इसी स्वरूपनिष्ठा का व्यापक रूप से प्रचार अधिक होता रहा है। यही स्वरूपनिष्ठा, सर्वोपरि उपासना के रूप में, श्रेष्ठ तथा मूर्तिमान स्वरूप में व्यापक होकर, सभी को आत्यंतिक कल्याण का अधिकारी बनाएगी। गुरुवर्य ने यह महान सिद्धि सभी के लिए सुलभ की – यही हमारा अहोभाग्य। कोटि-कोटि वंदन गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज को एवं उनके दिव्य कार्य को!

– जनवरी, 1966

***

80

'शक्तिपात'

भारत वर्ष की यही विशेषता है कि जीवात्मा को यहाँ 'प्रेय' और 'श्रेय' यानि–प्राप्त करने योग्य अध्यात्म सुख-दोनों मिलते हैं। आत्मा के आनंद के बिना परम शांति नहीं। जब तक अंतःकरण की शांति नहीं मिलती, तब तक जीवन का उद्देश्य पूरा नहीं होता। अंतरात्मा के इस सुख की प्राप्ति के लिए परम सामर्थ्यवान गुरु की आवश्यकता है। गुरु की कृपा होने पर ही पूर्णता प्राप्त होती है।

श्री गुरुकृपा का दूसरा नाम है–**'शक्तिपात'**। सिद्ध गुरुजन ही शक्तिपात कर सकते हैं। वे ही दिव्य जीवन की अनुभूति कराने में, परम समर्थ होते हैं। यह बिल्कुल सच है कि जब तक समर्थ गुरु द्वारा शक्तिपात नहीं किया जाता, तब तक संपूर्ण रूप से हल नहीं मिल सकता और परब्रह्म की व्याप्ति, शुद्धता तथा अद्वितीयता का संपूर्ण ज्ञान भी नहीं होता।

शक्तिपात एक आश्चर्यकारक और रहस्यमय प्रक्रिया है–जिसमें **गुरु शिष्य पर कृपा करके, उसमें अपनी आत्मशक्ति का संक्रमण 'ट्रांस्फर' करता है।** आत्मा पर किए गए इस अनुग्रह को शास्त्र में **'शक्तिपात'** नाम दिया गया है। सिद्धों की कृपा के बिना शक्तिपात हो नहीं सकता।

दरअसल, शक्तिपात एक बड़ा विज्ञान है। शिवागम व शैवतंत्र में, शक्तिपात की महिमा का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। इस विषय पर हिन्दी भाषा में लिखा गया श्री योगानंद ब्रह्मचारीजी का 'महायोग विज्ञान' एवं पुरी के गोवर्धन मठाधीश श्री शंकर पुरुषोत्तमतीर्थ स्वामिजी की 'योगवाणी' पुस्तकें उपलब्ध हैं। अंग्रेजी में सर जॉन वुड्रोफ द्वारा लिखी गई 'सर्पन्ट पावर' और (मराठी में) स्वामिश्री विष्णुतीर्थजी द्वारा लिखी गई 'देवाची शक्ति' पुस्तकें उपलब्ध हैं। ये सभी ग्रंथ, साधक को उसकी साधना में सहायता देते हैं; परंतु, जब तक साधक-मुमुक्षु-जिज्ञासु मनुष्य पर श्री गुरुकृपा जन्य शक्तिपात नहीं किया जाता, तब तक आध्यात्मिक साधना अत्यधिक कष्टकारी होती है। **सिद्धों की कृपा से आत्मा की अनुभूति सरलता से हो पाती है।**

गुरु, शक्तिपात करके, शिष्य की कुंडलिनी शक्ति को जाग्रत करता है। यह कुंडलिनी शक्ति चित्तिशक्ति से भिन्न नहीं है। जो विश्वरूपाकार दिखाई पड़ता है, उसे पारमेश्वरी शक्ति चित्तिशक्ति या कुंडलिनी शक्ति कहते हैं। चित्ति एक स्वतंत्र शक्ति है, जो चित्र–विचित्र जगत को - यद्यपि ये दोनों अभेद हैं – अनेक रूपों में पृथक-पृथक करके बताती है।

वह एक में से अनेक, अनेक में से एक, अद्वैत से द्वैत और द्वैत से अद्वैत करके बताती है। एक होते हुए भी उसके अनेक रूप हैं। अनंत रूपों में भी तात्त्विक रूप से तो वे एक ही हैं। योगी की योगसिद्धि, ज्ञानी की परमानंदसिद्धि, धनवानों की धनसिद्धि, राजाओं की सत्तासिद्धि, योद्धाओं की वीरत्वसिद्धि, तपस्वियों की तपसिद्धि, मुक्तजनों की जीवनमुक्तसिद्धि, बड़े-बड़े शस्त्रों की संहारसिद्धि–यह सब उसी कुंडलिनी अथवा चित्तिशक्ति का अंश है। इसे ही गीता में ऐश्वर्यमयी - महायोगमयी शक्ति कहा गया है। चित्तिशक्ति के आंतरिक व बाहरी-अनेक चमत्कार हैं।

यही शक्ति श्री राम की सीताशक्ति, श्री कृष्ण की राधाशक्ति, परमशिव की शिवशक्ति और वेदांत में वर्णित चैतन्य आत्मशक्ति है। इसका एक नाम है–'शिव' और दूसरा नाम है–'शक्ति'। शिव और शक्ति में सिर्फ नाममात्र का ही भेद है। वास्तव में वे दोनों भेदरहित है।

चिदात्मशक्ति, अनुकूल या प्रतिकूल होकर, अनेक रूपों में विचित्र रूप से दिखती है। नित्यानंदजी के जीवन में इस योगमय चित्तिशक्ति के अनेक चमत्कार घटित हुए हैं। इस शक्ति को नित्यानंदजी 'षोडश कलायुक्त व पुरुषों की अंतरात्मा स्फुरित परमानंदमय निजात्मशक्ति' कहते थे। सिद्धजनों द्वारा शिष्यों में प्रगट होती दिव्य अनुग्रहरूपी कृपाशक्ति यही है। अधिकारी शिष्य पर इस कृपाशक्ति का पात होते ही, वह स्वयं को पहले की अपेक्षा कुछ भिन्न प्रकार के स्वरूप में महसूस करने लगता है।

कुंडलिनी शक्ति हर एक मनुष्य के मूलाधार चक्र में सर्पाकार से साढ़े तीन चक्कर लगा कर सुप्त दशा में स्थित रहती है। इस शक्ति के दो रूप हैं – बहिर्मुखी व अंतर्मुखी ! बहिर्मुखी शक्ति, जगत के सभी व्यवहार यानि प्रवृत्तियों को सुचारू रूप से चलाती है, जबकि अंतर्मुखी शक्ति निवृत्तिमय जीवन द्वारा परमार्थ साधना कराती है।

यह शक्ति, मनुष्य के पूर्व संचित कर्मों के अनुसार, उसकी महिमा बढ़ाती या घटाती है। प्रवृत्ति में–यह नेतागिरी से लेकर अणु-परमाणु वग़ैरह वैज्ञानिक

संशोधनों का सारा ज्ञान देती है। इस शक्ति से ही, मनुष्य जीवन के किसी भी क्षेत्र में महान कार्य कर सकता है। अंतर्मुख कुंडलिनी की शक्ति के प्रभाव से योगियों को सर्वज्ञता, उपदेश देने की शक्ति, प्रतिभा और अनुग्रह-निग्रह करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है।

इस सुप्त कुंडलिनी शक्ति को जाग्रत करने का काम गुरुजनों का है। जब तक यह जाग्रत नहीं होती, तब तक परम आनंद की प्राप्ति भी नहीं हो पाती। कुंडलिनी को मध्य नाड़ी भी कहते हैं। 'प्रत्यभिज्ञाहययम्' में कहा गया है-मध्य नाड़ी के विकास से परमानंद की प्राप्ति होती है।

गुरुकृपा से महामाया द्वारा योगीजन की कुंडलिनी के जाग्रत होते ही, अधिकारी शिष्य में कई विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ होने लगती हैं। पाठकों की जिज्ञासा के समाधान के लिए, उसका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है।

साधक की कुंडलिनी जाग्रत होते ही, उसके सभी अंगों में नवचेतना का प्रसार होने लगता है और तभी अंतरात्मा की संशुद्धि का कार्य शुरु हो जाता है।

पहले नींद जैसी बेहोशी-सी छाने लगती है, अंतर में कंपकंपी जैसी होने का आभास होता है, पसीना आने लगता है, शरीर में बिजली के करंट जैसे झटके लगते हैं, जलन होती है, शरीर लोटने लगता है, विभिन्न प्रकार के आसन करने लगता है। तत्पश्चात् उसे समाधि जैसी तंद्रा लग जाती है। अनेक देवी–देवताओं तथा सिद्ध महात्माओं के दर्शन होने लगते हैं। स्वर्ग और पितृलोक दिखाई देने लगता है। ध्यान में या प्रत्यक्ष में कई प्रकार की ज्योतियाँ दिखाई पड़ती हैं। कान में अनेक प्रकार के नाद सुनाई पड़ते हैं।

सुषुम्णा नाड़ी में मूलाधार से लेकर, मस्तिष्क में सहस्रार तक छः चक्र होते हैं। कुंडलिनी के जाग्रत होते ही, इन षट्चक्रों का शुद्धिकरण होने लगता है। उसके साथ ही सारे रस भी नए जैसे बन जाते हैं और प्राण-अपान दोनों एक समान होकर दीर्घ कुंभक होने लगता है। कुंभक के साथ-साथ हृदयग्रंथि का भेदन होने पर, जीवनभ्रम का नाश हो जाता है और भोगभाव के कर्म क्षीण होने से 'जीवन मुक्ति' प्राप्त होती है।

मानवशरीर में मन और प्राण एक साथ मिल कर काम करते हैं। मन स्थिर होने से, प्राण स्थिर हो जाते हैं। मन और प्राण समरूप हो जाने से, शरीर के सभी कार्य सुचारू रूप से होने लगते हैं। वेदांत का कहना है कि मन और प्राण की तादात्म्य अवस्था में चैतन्य पर आत्मा का प्रतिबिंब पड़ने से, जो चैतन्यदशा प्राप्त होती है, वही कर्ता-भोक्ता

(की) जीवदशा है। सुख-दुःख भोगने के लिए और कर्म-अकर्म करने के लिए, मन और प्राण ये दोनों जीवात्मा के आश्रय व साधन हैं।

पाप कर्मों का फल 'दुःख' और पुण्य कर्म का फल 'सुख' होता है। शरीर का आश्रय लेकर जीवात्मा मन और प्राण की सहायता से भोग भोगता है। जब तक मन प्राण सहित मननशील है, तब तक वह परमानंद प्राप्त नहीं कर सकता। कुंडलिनी जाग्रत होने पर जब प्राण-अपान समान हो जाते हैं, तब मन भी संपूर्णरूप से शुद्ध हो जाता है व चित्त भी एकाग्र हो जाता है। चित्त की एकाग्रता से, समाधि की अनुभूति से तटस्थ लक्षणज्ञान प्राप्त होता है। तत्पश्चात् स्वाभाविक निर्विकल्प स्थिति प्राप्त होती है। निर्विकल्प होते ही अमनस्क गति या उन्मति स्थिति प्राप्त होती है। उसके बाद साधक व्यापक मन से शुद्ध आनंद की अनुभूति करता है। वह तुर्यानंद में समरस होकर धन्य-धन्य हो जाता है। यह कृतकृत्यता ही जीव की मुक्तस्थिति या साक्षात्कार है।

यह सारा कार्य गुरुकृपा द्वारा 'कुंडलिनी जाग्रति' रूपी महाप्रसादी से ही होता है। गुरु की कृपा अपार, अनंत और असीम है। परम अधिकारी शिष्य ही इसका आनंद ले सकता है।

– जुलाई, 1981

81

व्यवहार के, मंदिर के या सत्संग के 'क्रियायोगों का आरंभ' स्वभाव प्रेरित या सत्य (स्वरूप) प्रेरित?

गीताकार ने स्पष्ट कहा है–

हर एक क्रिया का आरंभ ज्ञान और प्रेमसहित करना चाहिए,

अर्थात् –भक्ति रूप क्रिया करना सबसे श्रेष्ठ है।

महाराज ने कहा, **'माहात्म्य सहित भक्ति।'**

गुणातीतानंदस्वामिजी और उनके बाद के चैतन्य स्वरूपों ने संबंध वालों की-स्वरूप से मिले हुए भक्तों की महिमा समझा कर, उन्हें भी दिव्य बता कर, उसका स्वरूप बदल दिया! 'माहात्म्य-ज्ञान सहित भक्ति' में तीन तत्त्व आएः धाम, धामी और मुक्त! भगवान, संत और भगवदी के साथ चौथा–जीवात्मा! अर्थात्–फॉर्म्यूला–गणित-गुणातीत के गणित का क़ायज़ा 33+33+33+1। भगवान, सत्पुरुष और दो भिन्न अंग वाले भगवदी को निर्दोष मानें, तो जीवात्मा तत्काल ब्रह्मरूप हो जाएगी। सुहृद्‌भाव से वर्त सकेंगे। शुरुआत इस प्रकार होती है।

सत्पुरुष-अतिशय बड़े पुरुष के प्रसंग से, पूर्व संस्कार बदल जाकर दिव्य संस्कार होते हैं। फिर आशार्वाद मिलने से सद्‌भाव दृढ़ होता है। सद्‌भाव दृढ़ होने से, मन, बुद्धि और चित्त निर्वासनिक होते हैं। तब निरुत्थान निश्चय पक्का हुआ गिना जाए; जिससे प्रत्यक्ष स्वरूप के प्रति 'अनन्यभाव' और 'अखंड दिव्यभाव' दृढ़ होता है। यहाँ गृही–त्यागी का कोई मेल नहीं है। यूँ, सद्‌भाव ही निर्वासनिकभाव की मूल वजह है। सत्पुरुष के प्रति अखंड सद्‌भाव। इस हेतु, राजा परिक्षित की भाँति सात दिन तीव्र इच्छा, अभीप्सा और संकल्प करना। शुकदेवजी जैसे संत के पास, सात दिन संपूर्ण मौन रख कर, उनके कहे मुताबिक़ वर्त लेना और किसी के दोष-स्वभाव देखना नहीं। मैं, ठाकुर और मेरी क्रिया। ऐसा करने पर, अनुभवों की परंपरा खड़ी हो जाएगी और ऐसा अनुभव-ज्ञान दृढ़

होने पर, तुम ब्रह्मस्वरूप हो, सत्पुरुष का प्रकाश हो और प्रभु के दास हो-ऐसा माना जाएगा। मन संपूर्ण रूप से अमन, निर्विचार और निर्विकार हो जाएगा; फिर, समन करने के लिए यदि दो भगवदी के साथ मित्रभाव रखते हुए रसरूप हो जाओगे, तो सुहृद्भाव दृढ़ होगा। सच में, तुम्हें यह करना है या केवल बहानेबाजी करनी है या ज्ञान की आड़ लेकर ऐसा करने से बचना है? कम से कम चार घंटे इस प्रकार भगवदी की जोड़ में जीने लग जाना। कम से कम दो घंटे भी इसी प्रकार जीना और सुबह-शाम दो बार 'स्वरूपयोग' कर लेना; जिससे तुम्हारे सभी कार्यों का प्रारंभ गुरुमुखी होता रहेगा और उनकी मरज़ी के मुताबिक़ कार्य करने की प्रेरणा मिलती रहेगी। यही 'समझदारीपूर्वक की सच्ची आत्मबुद्धि और प्रीति' है।

किसी को प्रीति से, तो किसी को वैराग्य से, किसी को विश्वास से, तो किसी को समझदारी से, और किसी को सेवकभाव से; लेकिन, संत की कृपा से–उनके 'प्रसंग' से जो आत्मबुद्धि दृढ़ होती है, वह स्वरूपलक्षी होती है। सो, स्वरूपलक्षी होकर प्रत्येक क्रिया करने पर स्वरूप की प्रेरणा मिलती है, उनका अनुसंधान रहता है, उनकी लगन लगती है और उन्हें जो अत्यधिक पसंद होता है, वही प्रेरणा सहज हुआ करती है। जो ऐसा (स्वरूपलक्षी) जीवन जीते हैं, उनका ही संग जँचता है।

भिन्न प्रकृति वाले दो भगवदी-साधु के साथ एकता से, दिव्य कुटुंब की भावना से किसी भी क्रिया का आरंभ करो, तो ब्राह्मीशक्ति काम करेगी ही। छः प्रकार के 'स्व' के भाव उड़ जाकर, स्वरूपभाव दृढ़ रहेगा और स्वरूप की ही प्रेरणा से, स्वरूपप्रेरित जिया जाएगा। इसके लिए मंत्र–शुरूआत में (बालक की भाँति) मंत्र–**'नामी के सहित नाम'** जपना है। इस प्रकार रात की प्रार्थना सहित दो बार 'स्वरूपयोग' करना। सो, 'अमाप शक्ति दे ऐसा मुद्दे का यह दूसरा मंत्र– **सचेतन, सक्रिय, समतापूर्वक साक्षीभाव'!** इस प्रकार जोड़ में काम करोगे, तो स्वरूप की स्थितप्रज्ञता आ जाएगी। तब, सभी शुभ-अशुभ क्रियायोग निर्गुण बन जाएंगे। इसे गुणातीतज्ञान की दृष्टि से, सच्चा **'एकांतिक भक्त'** माना जाता है; जिसकी वृत्ति भगवान में ही अखंड रहती है। चैतन्य का विवेक दृढ़ होता है और फिर मूर्ति में से ही संकल्प, भाव और क्रिया होती है। किसी का अभाव उसके मन में आता नहीं है। शुरुआत में, उसने वचनामृत प्रथम 16 सिद्ध किया होता है, सो, उसे वचनामृत मध्य 26 सहज ही सिद्ध हो जाता है।

अब, प्रश्न यह है कि हमें और दूसरों को एवं अन्य संबंध वालों को–जो घर,

मंदिर, फॅक्टरी, दुकान–जहाँ भी काम-प्रवृत्ति करते हैं, वहाँ कैसे पता चलेगा कि मेरा यह निर्णय-मेरी यह क्रिया **स्वभावप्रेरित है या स्वरूपप्रेरित है।**

प्रभुप्रेरित है, तो उसके लक्षण निम्न हैं–

मुझे जो प्रेरणा हुई, वह स्वरूपप्रेरित है और मेरी क्रिया भी स्वरूप की अनुवृत्ति के मुताबिक़ है, ऐसा किसी एक या दो लक्षणों से साबित होता है और स्वयं को व दूसरों को भी इसका एहसास होता है एवं खुशनुमा माहौल में सर्वत्र आनंद और शांति व 'सरसता' फैल जाती है।

(1) अंतःकरण में केवल शुभ संकल्पों और विचारों के पूर बहते हैं। उसकी हाश स्वयं को तो महसूस होती है और दूसरों को भी उसके उत्साह और उमंग का एहसास हो जाता है।

(2) जिस काम का आरंभ किया हो, भले ही पूर्णाहुति तक उसका बाहर से विरोध होता लगेगा, लेकिन, हर कदम पर उसमें प्रगति होती और कार्य सफल होता दिखाई पड़ेगा। **विरोध होगा, लेकिन कोई विघ्न आड़े नहीं आएगा** और अंत में, विरोध करने वाले भी प्रशंसा करेंगे, 'अच्छा हुआ–हम तो इसलिए ऐसा कह रहे थे, लेकिन भगवान ने अच्छा ही किया।' ऐसे करते हुए, इसी रीति से-मिलजुल कर कार्य करवाने की रीति आ जाती है। यहाँ सभी को सुहृद्भाव का-मित्रभाव का दर्शन होता है और शक्ति पैदा होती दिखाई पड़ती है। दोबारा फिर ऐसे ही काम करने के लिए बिना किसी बुलावे के ही सभी उसकी पुष्टि करते हैं, जिससे उसका आत्मविश्वास खूब बढ़ जाता है।

(3) अपने दोष का दर्शन होने लगता है और स्वरूपलक्षी अनुभवज्ञान वृद्धि को पाता जाता है।

(4) सहज अंतर्दृष्टि ही रहने लगती है और क्रिया होने के बाद के थोड़े ही समय में–पाँच ही मिनिट में मुड़ कर सही ढंग पर लौट आता है और उसकी बुद्धि में प्रकाश हो जाता है व सूझ पड़ जाती है।

(5) पुरानी भूलें, क्षतियाँ बार-बार नहीं होतीं; नई भूलें हो जाएं; लेकिन वे भी धीरे-धीरे कम होती जाएं और अंत में 'स्व' रहित–स्वभावरहित ही वर्तना आ जाएगा।

(6) सभी को हमारे क्रियायोगों से पुष्टि होकर, अंत में जीव ब्रह्म को पाकर मन जो अमन हुआ हो, वह अब सचेतन ही समन होकर स्वरूपलक्षी में से

साक्षात् प्रत्यक्ष की ही, सर्वोपरि निष्ठा में परिवर्तित हो जाता है।

(7) दो भगवदियों के साथ घुलमिल कर रहना आ जाता है। भले ही कभी फिसल जाएं, लेकिन खाई में न गिर जाकर मन का गुबार इधर-उधर न निकाल कर, उसमें से बाहर निकल आता है। मूर्ति में पुनः जुड़ जाकर अखंड ही संकल्परहित वर्तना सीख जाता है। उसकी आत्मबुद्धि और प्रीति दृढ़ हो जाती है।

(8) निर्विकल्प समाधि की शांति अखंड बनी रहेगी और विपरीत माहौल हावी नहीं होगा, बेचैनी नहीं होगी और अभाव में जाएँगे नहीं। महिमा का ही स्रोत जारी रहेगा और अंत में माहात्म्य से भरे रहेंगे। संबंध वालों के संग रह पाएँ, ऐसी माहात्म्यसहित भक्ति दृढ़ हो जाती है।

परम सत्य या स्वरूपप्रेरित ही है, यह तुंरत ही कैसे पता चले?

(1) भीतर में खूब चैन बना रहे और मन का द्वंद्व बाधा न डाले, सहज ही निश्चिंतता रहे और सर्वहितावह लगे। दूसरों को 'नैमिषारण्य क्षेत्र' जैसा आह्लादी, उमंग से भरपूर, आनंदविभोर माहौल लगे।

या

(2) उपशम ऐश्वर्य बरते और दूसरों को भी इस बात का एहसास हो जाए। किसी गरीब की लॉटरी लग जाए या सोचा भी न हो ऐसा बड़ा ओहदा मिल जाए या मिनिस्टर बन जाएँ, इस प्रकार से जीवन हरा भरा-कृतकृत्य हुआ लगेगा।

या

(3) प्रभु की ही सार्वभौम सत्ता चल रही है, ऐसी खातिरी-प्रतीति होने पर उनकी ही लीला दिखाई दे और द्वंद्वों में भी शांति से बरतें–साक्षीभाव रहे फिर भी, प्रेम से प्रभु की ही प्रसन्नता के लिए सेवा करते रहें।

(4) अति बड़े पुरुष को हमारा खूब विश्वास आए और सामने से वे हमें सेवा सौंप कर, हमें निमित्त बनाएं। हठ, मान, ईर्ष्या बिल्कुल ही टल गए हों, जिससे दूसरों को भी उसका प्रसंग या समागम करने की बड़े (पुरुष) आज्ञा करें और वह अभिमान रहित एवं सरल वर्तता रहे।

– मार्च, 1983

***

82

अनुग्रह - 1

मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामिजी ने कहा है कि प्रगट स्वरूप की महिमा भगवदी का समागम करने से समझी जा सकती है; वर्ना प्रगट स्वरूप जैसे हैं, वैसे पहचाने नहीं जा सकते और पल-पल उनका सर्वोपरि कर्ताभाव नहीं माना जाता व उनके संबंध वालों के प्रति दिव्यभाव दृढ़ नहीं होता। मनमानी रीति से की गई सेवा-भक्ति से भीतर में साधन के राग और कर्तव्य का अभिमान रह जाता है और सूक्ष्म स्वभाव दृढ़ हो जाते हैं, जिससे आख़िर बड़े पुरुष को भी विवश करके उनसे अपनी मनमानी करवाते हैं।

ऐसे भ्रम वश अपने गुण, अहं और समझ का अभिनिवेश इतना दृढ़ हो जाता है कि अंततः उन्हें शास्त्र का या किसी का भी वचन मान्य नहीं होता और स्वयं असेवारूपी अभाव-अवगुण की बातों में जाकर, ऐसा मन का व सत्संग का कुसंग अन्यों में भी ज़बरदस्ती-आग्रहपूर्वक भरते हैं। सत्संग की ऐसी ही माया ने अनादि महामुक्त गोपालानंदस्वामी जैसे को त्यागाश्रम छुड़वाने के लिए प्रपंच रचा था। शुद्ध मुमुक्षु न तो स्वयं ऐसी मत्थापच्ची-खटपट में पड़ते हैं और न ही अन्यों को समझाने की कोशिश करते हैं। उन्हें तो केवल अपनी साधना की पूर्णाहुति करा लेने की लगन होती है। हमारा ही मन जब एक घंटा भी गुरुचरणों में स्थिर नहीं रहता, तो अन्यों के पचड़े में क्यों पड़ना?

अतः हमें भगवदी के समागम से भ्रम व अभिनिवेश में झूमते अपने मन को निर्मल बनाना चाहिए और वचनामृत प्रथम 20 तथा मध्य 53 के मुताबिक़ का महामोह हम पर कभी हावी न हो और मन सदैव गुरुचरणों में ही निमग्न रहा करे तथा हम सत्पुरुष की अनुवृत्ति के अनुसार सहज वर्तन किया करें–यही प्रार्थना।

– दिसंबर, 1967

***

83

अनुग्रह - 2

प्रगट स्वरूप की पहचान होने के बाद, ज्ञान या समझ (बुद्धि) के सभी क़ायज़े बिल्कुल बदल जाते हैं। उदाहरणार्थ, भगवान श्री कृष्ण को सभी भगवान मानते और सब अपनी-अपनी रीति से राधाजी, लक्ष्मीजी, अर्जुन, उद्धवजी, राजा जनक, अंबरीष, शुकदेवजी, कुंताजी, जसोदाजी, गोपियाँ इत्यादि भिन्न-भिन्न रूप में – कोई सखाभाव से, तो कोई सखीभाव से, कोई सेवकभाव से, तो कोई वात्सल्यभाव से, कोई कामभाव से, तो कई कंस व शिशुपाल जैसे असुरभाव से जुड़े हुए थे। सो, उनके कल्याण और बुद्धि में काफ़ी अंतर आ गया। इसी प्रकार, वचनामृत सारंगपुर 17 के अनुसार, मच्छर से लेकर गरुड़ की भाँति के मुक्तों में फ़र्क़ पड़ जाता है। वचनामृत कारियाणी 7 में महाराज ने स्पष्ट बताया है कि अखंड जाग्रतता दृढ़ होने के बाद ही मूर्ति की सिद्धदशा प्राप्त होती है। तब तक तो वाच्यार्थज्ञानी को भी प्रकृति-पुरुष तक का जगत बाधारूप होता है। भगवान उसके वश में रहते हैं, तब भी उसके हृदय में अपूर्णता और शून्यता रहती है और कई बार छोटी-छोटी बातों पर आपे से बाहर हो जाते हैं। ऐसे वाच्यार्थज्ञानी का अहम् भयंकर होता है और उससे जिस किसी को लगाव होता है, उसे भी बहुत परेशान करता है।

वड़वानल जैसे पुरुष की पहचान कैसे की जाए? तो, भगवदी के समागम से ऐसे पुरुष की पहचान होती है। ऐसे सत्पुरुषों के सान्निध्य में सद्विचार और सद्भावना प्रगटते हैं और फिर धाम, धामी और मुक्त दिव्य माने जाते हैं। निर्दोषभावना प्रगटने पर ही ज्ञानी का अहम् पिघलता है और मुक्तों की माया टल जाती है, विज्ञान प्राप्त होता है। यूं, अनुभवज्ञान सिद्ध होने पर जीव ब्रह्मरूप होता है और भगवान वश में हो जाते हैं।

प्रगट प्रभु मिलें और उनकी पहचान हो जाना, यह परम कल्याण तो है ही, लेकिन जीव में तत्त्व से उनके स्वरूप का अनुभव और अखंड सुख प्राप्त नहीं होता।

सो, भगवदी के समागम द्वारा ऐसा सम्यक् अनुभव होने पर, जीतेजी ही निर्भयता, निडरता, नम्रता, स्वाधीनता और निर्मत्सरता जैसे गुण दृढ़ करके, स्वतंत्र मुक्त बनकर, किसी के प्रति भी भाव में फ़र्क़ लाए बिना या किसी की झंझट में पड़े बिना, अक्षरधाम का सुख सरलता और मज़े से सभी भोगते रहें – यही अंतर की अभ्यर्थना।

– दिसंबर, 1967

आज्ञा के फ़र्क़ का रहस्य, बिना सोचे समझा नहीं जा सकता,
लेकिन प्रगट संत की अपार महिमा सहित सेवा करें,
तो इस रहस्य को समझ पाएंगे।

विषय के सुख दुःखरूप ही हैं, यह जानने के बावजूद भी
अव्यक्त रागों से हम उनमें खीचें जाते हैं।

84

अनुग्रह - 3

मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामी ने 'स्वामी की बातों' में चार प्रकार के सत्संगियों का ज़िक्र किया है। उनमें ज्ञानी को उत्तम बताया है और उसे महाराज ने अपनी आत्मा कह कर नवाज़ा है। परंतु, गुणातीतज्ञान के इस रहस्य को तब बड़े-बड़े परमहंस भी इसके यथार्थ रूप में समझ नहीं पाए। इसलिए महाराज ने कहा कि उन्हें जगत के प्रति कोई बखेड़ा रह गया और उसी बखेड़े को ही गुणातीत स्वरूप ने सरलता से दूर किया।

स्वामी ने मार्मिक रूप से बताया कि परोक्ष के प्रति जैसी प्रतीति है, वैसी प्रगट महाराज और मुक्तों के प्रति नहीं होती यही अज्ञान है। इससे भी अधिक, महाराज की अपरंपार महिमा जानने के बावजूद भी कई त्यागी गरुड़ पुराण तथा रामायण आदि की कथा पढ़ते-सुनते। ऐसी स्थिति में उनमें सर्वोपरि प्रगटभाव की अत्यधिक कमी दिखती। तप, त्याग, वैराग्य इत्यादि अति कठिन साधन किए होने के बावजूद मनुष्य रूप में विचरण करते प्रभु के स्वरूप की अखंड दिव्यभाव और तत्त्व से पहचान न हो पाने के कारण, उनकी मूल वृत्ति और मूल अज्ञान नहीं टल पाए। इसलिए भले ही महाराज के साथ रहे, उनकी सेवा की, ग़रज़ भी थी, फिर भी वे अक्षरधाम का सुख अखंड नहीं प्राप्त कर सके।

स्वामी तो कहा करते थे कि **वचनामृत के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रंथ में माल माना जाए – वही 'मोह' है। इसी प्रकार, गुणातीत स्वरूप और उसके अभिप्राय को जानने वाले को यदि नहीं पहचान पाए, यह भी 'महामोह' है।** आचार्य महाराज की मोहब्बत को छोड़ कर, अनादि महामुक्त गोपालानंदस्वामिजी की बातें सुनने वाले सर्वनिवासानंदस्वामिजी जैसे विरल कोई ही होते हैं।

यह बात जीव के सत्संग की और प्रकृति-पुरुष से परे के अक्षरधाम का सुख लेने की है। गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज के संकल्प और प.पू. योगीजी महाराज की कृपा से, यदि दृढ़ 'निर्दोषबुद्धि' रखें तो, यह बात सुलभ है।

प.पू. स्वामिजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) ऐसी अनमोल मौज लुटा रहे हैं, तो वह सभी के लिए सुलभ हो, यही अभ्यर्थना।

– फरवरी, 1968

***

85

अनुग्रह - 4

अनंत जन्मों के सत्कर्म का पुण्य उदय होने पर यथार्थ में सच्चे गुणातीत पुरुष का जोग मिलता है और वे सूर्य की भाँति सभी पर कृपा बरसाते हुए, प्रत्येक मुमुक्षु को संसार और जगत के विविध प्रसंगों में संभाल कर सत्संग में टिकाए रखते हैं। इस प्रकार सेवा करते हुए जब जीव सच में बल प्राप्त कर लेता है, तब उस पर सत्पुरुष की कृपादृष्टि होने से, उसे अपने दोष का दर्शन होता है और वह अंतर्दृष्टि करने लगता है। यह अलग प्रकार की प्रसन्नता है, सो बड़े सत्पुरुष उसे रुग्ण भक्तों की सेवा या उसकी प्रकृति के अनुसार अमाप सेवा देकर या ऐसा बुद्धियोग या भगवदी का समागम या जिसे वह सह सके ऐसा रोग देकर या विपरीत हालात खड़े करके भी, उसके अव्यक्त राग और स्वभाव बाहर निकाल देते हैं। वस्तुतः जीव की जिस किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति आसक्ति-मोह हो, किसी व्यक्ति अथवा पदार्थ का उस पर विशेष प्रभाव हो या उसका जीवन अपनी निजी मान्यताओं और ग्रंथियों पर आधारित हो, इन सभी आसक्तियों, ग्रंथियों को सर्वथा नष्ट करके उसकी प्रकृति को दिव्य बना कर-ब्रह्मरूप करके-भगवान या प्रगट स्वरूप में निर्विकल्पभाव से जोड़ देने के लिए समर्थ गुरु उसके संपूर्ण रूपांतर तक उसके पीछे पड़े होते हैं। फलस्वरूप, प्रकृति-पुरुष तक के सभी नाते और मुक्तों की माया तक के सभी भाव समाप्त हो जाते हैं और सदैव के लिए केवल आत्मा व परमात्मा का रिश्ता अखंड बन जाता है। उच्च प्रकार की यह आध्यात्मिक स्थिति जीव को जीतेजी ही प्राप्त होती है। तभी तो पू. सर्वनिवासानंदस्वामी तथा रघुवीरजी महाराज जैसों को बड़प्पन या लगावरूपी सत्संग का जगत आड़े नहीं आया। वचनामृत अंत्य 39 के अनुसार, ऐसे साधक गुणातीतज्ञान का सत्संग सिद्ध होने पर, वचनामृत कारियाणी 7, पंचाला 7 तथा लोया 7 के अनुसार, जीतेजी ही सम्यक् प्रकार की निर्दोषबुद्धि प्राप्त करते हैं और अष्ट प्रहर अखंड अहोहोभाव का अनुभव करके परमानंद प्राप्त करते हैं एवं अन्यों को भी कराते हैं।

प्रगट ब्रह्मस्वरूप गुरुवर्य योगीजी महाराज की कृपा और उनके अंतर की प्रसन्नता से सभी मुमुक्षुओं का मूल अज्ञान टल जा कर, सभी को ऐसा आध्यात्मिक संबंध प्राप्त हो, यही अंतर की अभ्यर्थना।

– मार्च, 1968

***

86

अनुग्रह - 5

स्वामी की बातों में कहा गया है –

जो सच्चे विचार को पाया हो, उसे आत्मा-परमात्मा के सिवा अन्य किसी की प्रतीति या प्रभाव नहीं रहता।

इसी प्रकार, निष्ठावान को भी प्रत्यक्ष स्वरूप और इनके अभिप्राय को जानने वाले के अतिरिक्त अन्य किसी का प्रभाव रहता नहीं। संत की मरज़ी ही उसका प्रारब्ध बन जाता है और काल, कर्म, माया, स्वभाव आदि की हकूमत उस पर से संपूर्णतः हट जाती है। शास्त्र में प्रहलाद् का दृष्टांत है। जो अग्नि प्रकृति और जगत दोनों को भस्म कर देती है, वही अग्नि प्रहलाद् को न जला सकी।

तब अग्नि ने भगवान से कहा- *'यह तो मेरे स्वभाव के विरुद्ध हुआ।'*

प्रत्युत्तर में भगवान ने कहा –

'जगत के जीवों पर प्रकृति का नियम लागू होता है, लेकिन प्रहलाद् तो मेरा है – प्रकृति से परे है; इसलिए मेरे बालक को तुम जला नहीं सकती। उसे दंड देना होगा तो मैं स्वयं दूँगा।'

अतः वचनामृत गढडा प्रथम 16 के अनुसार, यदि किसी के भी (अवगुण) देखे बिना, प्रगट प्रभु और उनके संबंध वालों का गुणगान किया करें, तो सहजता से अक्षरधाम का सुख प्राप्त होता है। गुणातीतभाव में रहते हुए सत्पुरुष की जी हज़ूरी करने से यह संभव होता है और तभी वह भक्त जीवमुक्त बन कर स्वतंत्र होता है। श्रीजी महाराज ने ऐसी अमूल्य प्राप्ति सभी के लिए सुलभ की है।

अपने **आश्रित** के कल्याण हेतु, अंतकाल में उसे लेने आने का अमूल्य वरदान दिया, **आत्मबुद्धि वाले** को निर्विकल्प समाधि का अखंड सुख प्रदान किया, ताकि विपरीत हालात उस पर हावी न हों और **निर्दोषबुद्धि वाले को** जीतेजी ही स्वतंत्रता बख़्शिश में देकर दुर्लभ से दुर्लभ एकांतिकभाव सरलता से सिद्ध करवा कर मौज दी।

इसी प्रकार, गुरुहरि ने, केवल करुणा करके, अलग-अलग स्थलों पर सच्चे भगवदी का संबंध देकर, हमें खूब सरलता से जीतेजी ही अक्षरधाम की ऐसी प्राप्ति करवा कर, जीतेजी ही वासना और स्वभाव का आमूल रुपातंर संभव करके परम सुखी कर दिया।

बस, अब मुमुक्षु जीव खुद दुःख कुरेद कर खड़े न करके, बख़्शिश में मिले प्रगट के जोग और प्राप्ति का आनंद भोगा करें – यही शुभेच्छा।

– अप्रैल, 1968

87

अनुग्रह - 6

गुणातीतज्ञान एक सक्रिय, सनातन और साकार ज्ञान है, जिसे दृढ़ करवाने के लिए जूनागढ़ के अति बड़े संतों ने अनंत कष्ट सहे हैं। उसी 'अक्षरमत' और उपासना को गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज ने, अनादि महामुक्तों के सहकार से मूर्त स्वरूप दिया और अब पू. योगीजी महाराज चैतन्य मंदिर घड़ कर, अक्षरधाम का दिव्य सुख निर्दोषबुद्धि वाले भक्तों को जीतेजी ही घर-घर दे रहे हैं। इस प्रकार, आत्मा और परमात्मा के चैतन्यस्वरूप का यह ज्ञान वृद्धि को पाया और अब भगवदियों के संग से, यह व्यापक रूप में अनेकों के लिए लाभप्रद होकर मंगलकारी भावना प्रगटाती रहे, यही गुरुहरि के अंतर की इच्छा और अभिप्राय है।

अलग-अलग कक्षा के साधक, उनके इस अभिप्राय को जान कर, गुरुहरि उनके देहभाव को टालने के लिए जो कसौटी खड़ी करते हैं, उसमें से उन्हें गुज़रना पड़ता है। आसरे वाले को उसकी रीति से, आत्मबुद्धि वाले को आंतरिक बेचैनी के रूप में और निर्दोषबुद्धि वाले को परम सत्य स्वरूप के प्रगटभाव में सर्वोपरिता और संबंध वालों के प्रति केवल दिव्यभाव रखने, कसौटी से गुज़ार कर उन्हें पक्का करने अत्यंत दया करके, जीव को शुद्ध करके, भगवान ही प्रधान रहें, ऐसे परम सुखी जीतेजी ही बनाते हैं। प्रगट के उपासकों के जीव में स्वरूपज्ञान की सच्ची दृढ़ता होते ही–

(1) स्वरूपनिष्ठा की

(2) मायिक संकल्पों के विराम की

एवं

(3) अत्यंत प्रतिकूल परिस्थिति में भी ब्रह्मभाव और साधुता से निर्मानी रह कर, सावधानी से वर्तने जैसी कसौटियों में से गुज़रना पड़ता है।

हर पल अंतर्दृष्टि रखने वाले और एकांतिक का समागम करने वाले मुमुक्षु को तत्काल ही इसका एहसास हो जाएगा और जीतेजी ही उसे अनुभवज्ञान सिद्ध होता जाएगा। फलस्वरूप उसके देहभाव और जीवभाव बिल्कुल टल जाने से भगवान का सुख प्राप्त करता हो जाएगा।

दृढ़ मति वाले साधक प्रगट के संबंध की महिमा समझ कर सेवा कर रहे हैं। इनके लिए यह अनिवार्य कदम है। तो कसौटी के प्रसंगों को सेवा का फल या प्रसन्नता मान कर, जाने-अनजाने में भी स्वामिनारायण का नाममात्र लेने वाले का भी अभाव में न जाना।

इस दौरान परेशानी या विक्षेप आए, तब केवल स्वामिश्रीजी और पू. बापा को तुरंत पुकार-अंतर्दृष्टि करके प्रार्थना करोगे, तो ब्रह्मशक्ति साकार स्वरूप में जहाँ होंगे, वहीं तुम्हारी रीति से प्रतीति कराएगी ही; यदि अंतर में भगवान और श्रीजी के प्रति अचल मति और दिव्यभाव होगा तो।

चैतन्यभूमिका के इस ज्ञान का अब सभी को खुला अनुभव होता जा रहा है। हमें तो केवल वचनामृत गढडा प्रथम 16 और गढडा मध्य 24 दृढ़ करके भजन और सेवा करते रहना है। प्रगट की निष्ठा वाले साधकों को प्रतिलोमभाव की प्रार्थना से सत्यनिष्ठा का अनुभव होगा और अपने अंतर में शांति, सुख, आनंद और उत्साह महसूस होगा। इसलिए वचनामृत गढडा अंत्य 11 में महाराज ने ऐसे संतों तथा हरिभक्तों का अतिशय प्रीति युक्त समागम करने का आग्रह किया है। अतः भगवान और भगवान के भक्तों के गुण ही गाते रहना व सुनना। लेकिन अमहिमा के मार्ग पर तो चलना ही नहीं; वह तो द्वार ही बंद।

प.पू. स्वामिजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) का यह अति महान व गहन ब्रह्मसूत्र सभी को सुलभता से सिद्ध हो यही गुरुचरणों में प्रार्थना !

– अप्रैल, 1968

88

अनुग्रह - 7

आत्मा वारे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

'धाम, धामी और मुक्त सहित दिव्यभाव की निष्ठा ही उपासना' बता कर ब्रह्मस्वरूप गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज ने इसे तत्त्वनिष्ठा के रूप में प्रगट किया है। ऐसी निष्ठा होगी तभी जीतेजी हमारा जगत झड़ जाएगा।

इसलिए गुरुजयंती के महामंगलकारी अवसर पर श्रीजी महाराज के प्रासादिक और ब्रह्मस्वरूप गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज की कृपा-दृष्टि वाले स्थल पर, हज़ारों हरिभक्तों की उपस्थिति में, अक्षरपुरुषोत्तम मंदिर, संस्कृत पाठशाला और संस्कार केन्द्र के भव्य भवन के उद्‌घाटन का कार्य शांत, सुंदर और दिव्य वातावरण में संपन्न किया गया। यूँ, श्री अक्षरपुरुषोत्तम महाराज, अनादि महामुक्त गोपालानंदस्वामी और गुरुपरंपरा के गुणातीत रूप में विचरण करते स्वरूपों के साथ सांकरदा में विराजमान हो गए और स्वामिश्रीजी की महत् कृपा से सभी कार्य निर्विघ्न संपन्न हो गए। अब अक्षरपुरुषोत्तम की सर्वोपरि व शुद्ध उपासना एवं प्रगट की निष्ठा यहाँ से प्रवर्तित होती रहे ऐसी गुरुचरणों में प्रार्थना है।

ब्रह्मस्वरूप गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज ने ब्रह्म और परब्रह्म के तत्त्व की परमसत्य निष्ठा मूर्तिमान की और गुरुहरि योगीजी महाराज ने आज घर-घर में अक्षरधाम का सुख प्राप्त करने के लिए 'संघनिष्ठा' प्रवर्ताई और निर्दोषबुद्धि को इस हेतु परम साधन बताया है। इस 'निर्दोषबुद्धि' के विधान के अनुसार प्रगट स्वरूप को, परमतत्त्व के रूप में देख-सुन-जान-पहचान कर, उनकी मरज़ी के अनुसार जीवन जीकर, प्रगटमूर्ति का धारक बन कर अखंड सुखी रहें ऐसी जीवनमुक्ति की स्वतंत्रता प्राप्त हो, इस हेतु स्वामिजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) के अत्यधिक परिश्रम को सभी सफल बनाएँ – यही गुरुचरणों में प्रार्थना।

– जून, 1968

***

89

अनुग्रह - 8

महाराज और गुणातीतानंदस्वामिजी ने अक्षरधाम के मुक्तों को पहचानने की कई रीतियाँ बताई हैं। प.पू. प्रगट ब्रह्मस्वरूप योगीजी महाराज ने मुक्तों की पहचान करने की अत्यंत सरल रीति सभी को समझाई और इस हेतु कई स्पष्ट लक्षण भी ज़ाहिर किए हैं– *जिन्हें प्रगट स्वरूप से सहज ही लगाव हो जाए, उन्हें पूर्व के मिले हुए जानें, यूं जिसकी प्रगट स्वरूप और उनके संबंध वाले भक्तों अर्थात् वचनामृत वड़ताल 19, प्रथम 37 के अनुसार*

* *स्वरूप के प्रति अचल मति रहती हो*
* *अभाव-अवगुण के दायरे से बाहर निकलने की चेष्टा करता हो,*
* *अंतर में उसकी जलन होती हो,*
* *सभी की महिमा समझ कर कसनी-कष्ट सहता हो*
* *केवल उनके गुण ही ग्रहण करता हो, उन्हें सच्चे मुक्त समझना।*

इस लोक में विचर रहे धाम, धामी और मुक्तों के स्वरूप को पहचाने और दिव्य माने व संबंध में आने वाले जीवों के प्रकृतिपुरुष तक के जगत को टाल दे, वे अक्षरधाम के मुक्त ही जाने जाएं। वचनामृत सारंगपुर 7, अंत्य 11 के अनुसार, ऐसे मुक्त के सान्निध्य में केवल 'निर्दोषबुद्धि' का ही गुणगान होता है तथा 'नैमिषारण्य' क्षेत्र की भाँति, शांति, सुख और आनंद का अनुभव होता है। इससे भी अधिक, ऐसे मुक्तों की निष्ठा की सबीज बातों से अंतर का समाधान होता है और अन्य सत्संगियों के प्रति उनके दूषितभाव, मलिन संकल्प व मनुष्यभाव आदि निर्मूल होकर निकल जाते हैं तथा जीव प्रगति करता है।

निर्विकल्प समाधि जैसी अखंड शांति से आगे अक्षरधाम का दिव्य सुख प्राप्त करने हेतु 'ज्ञानसमाधि' में ऐसे मुक्तों का प्रवेश हो जाता है और उन्हें अष्ट प्रहर अहोहोभाव, कृतार्थभाव और पूर्णता प्रतीत होती है। उन्होंने समग्र सत्संग को दिव्य माना होने से, उनकी संगत में अन्यों को भी अंततः ज्ञान और प्रगट की अपरंपार महिमा का साक्षात्कार होता है।

फलस्वरूप, वे सभी निर्मानीभाव से सत्संग की सेवा करने के लिए प्रेरित होते हैं और प्रगट स्वरूप एवं उन्हें मिले मुक्तों की यथार्थ रूप में पहचान करके, उन्हें सम्यक् प्रकार से निर्दोबुद्धि दृढ़ होती है।

जीवन का यही अंतिम आदर्श है, यही परमपद या पराभक्ति की परमसिद्धि है। गुरुकृपा से यह सभी के लिए सुलभ है।

तो सभी ऐसे सुखी हों – यही नम्र अभ्यर्थना।

– जुलाई, 1968

90

अनुग्रह - 9

(1) सच्चे भगवदी या एकांतिक के समागम से, पू. बापा के अंतर की प्रसन्नता प्राप्त कर लेना। वचनामृत मध्य 7 के मुताबिक़, उनके वचन से अतिशय सेवा करने से जीव के सभी विकार तत्काल निर्मूल हो जाते हैं। वचनामृत सारंगपुर 7 के अनुसार, उनमें अतिशय श्रद्धा और अतिशय विश्वास रख कर, गुरुहरि की स्मृति सहित सच्चेभाव से सत्संग करने वाले जीव को तुरंत बल मिलता है, उसके मायिक संकल्प टल जाते हैं और उसे मूर्ति का दिव्य सुख प्राप्त होता है। यह सरल और सर्वोत्तम मार्ग है।

(2) सांख्य से इंद्रियों व मन को मिथ्या मान कर, रामदासजी मूर्ति धारते।

(3) जनक और अंबरीष ने ज्ञान का मार्ग अपनाया।

(4) गोविंदराम और गोरधनभाई उपशम में नमक और खांड खा जाते।

(5) प्राणायाम और ध्यान द्वारा अष्टांगयोग से संकल्परहित हो जाते।

(6) मन के साथ वैर करके, उसका निषेध करके, सावधान रह कर संकल्प टालते और मन की वृत्ति यदि अत्यधिक हावी हो जाए, तो अन्य किसी क्रिया में मन पिरो कर उसकी तीव्रता मिटा देते।

(7) सतत माहात्म्य सहित भक्ति और प्रगट के ही गुणगान-कथावार्ता तथा गोष्ठि से मन पर काबू करके, शब्दों पर नियंत्रण द्वारा वाणी का लय करके, केवल परावाणी में ही निमग्न रहते हुए मन को खाली न रखते हुए प्रगट की महिमा गाते व सुनते और अमहिमा की ओर जाते ही नहीं

और

(8) सेवक वर्ग ग़रज़ू होकर संबंध वालों के प्रति दिव्यभाव रख कर, उकाखाचर की भाँति नम्रभाव से सेवा के व्यसनी बनते।

यूँ, किसी अनुभवी के समागम से विभिन्न प्रकार की सत्संग और भजन की रीतियों को समझ कर चल पड़ेंगे, तो बदलाव होता जाएगा और गुरुजी भी अमाप बल देंगे।

– अगस्त, 1968

***

91

अनुग्रह - 10

तीर्थस्थान भादरा में प.भ. गणात्रा साहेब ने पारायण आयोजित की थी। तब प.पू. प्रगट ब्रह्मस्वरूप स्वामीश्री योगीजी महाराज ने स्वामी की बात समझाते हुए बताया था– वैराटनारायण की उपासना श्री कृष्ण की उपासना से बढ़ कर कही जाती है; फिर भी जिन्होंने मानव देह धारण किया हो, उन्हें लक्ष्य में रख कर, उनकी उपासना करी जाए, तो फल प्राप्त होगा। सो, राम और श्री कृष्ण मानव रूप में प्रकट हुए थे, इसलिए उनके मंत्रोच्चारण करने से जीव कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होगा और उसमें संस्कार भी पड़ते हैं। भले ही वैराटनारायण या प्रकृति-पुरुष, जिसमें से सभी अवतारों की उत्पत्ति हुई है, लेकिन उनकी उपासना-भजन व स्मरण करने से, मानवदेहधारी अवतारों की उपासना सदृश फल की प्राप्ति नहीं होती।

सर्वावतारों के अवतारी, सर्वोत्कृष्ट स्वरूपी श्री सहजानंदस्वामी मानव देह में पधारे! इसलिए, प्रगटभाव से भक्तसहित उनकी उपासना करने वाला भक्त जीतेजी ही आत्यांतिक कल्याण और अंतिम जन्म प्राप्त करेगा। इससे भी अधिक, महाराज ने, गुणातीत स्वरूप या अनादि महामुक्त के रूप में भगवान का प्रगटीकरण अखंड रहने की अमूल्य बख़्शिश देकर मानवजाति के लिए कल्याण का मार्ग हमेशा के लिए खोल दिया। तो, जन्माष्टमी के इस मंगलकारी पर्व पर उनके लीलाचरित्र याद करके, साथ ही साथ, प्रगट स्वरूप प.पू. योगीजी महाराज को तत्त्व से जान कर सम्यक् प्रकार की 'निर्दोषबुद्धि' दृढ़ कर लें। तो, जीतेजी ही अक्षरधाम के सुख का अनुभव कर पाएंगे, भोग पाएंगे और प्राप्त होगा।

गुरुहरि की कृपा से, प्रगट के संबंध वाले, ऐसे बोलते-चलते जीवंत भागवत् **'चैतन्यमाध्यमों'** के रूप में तैयार हो रहे हैं। अतः स्वामी की प्रथम प्रकरण की प्रथम बात के मुताबिक़, इनके संग से, अक्षरधाम में विराजमान महाराज, स्वामी व मुक्त धरातल पर आज वैसे के वैसे हैं और रहेंगे, ऐसी ज्ञानदृष्टि प्रगटे और प्रकरण तीसरे की 26वीं बात के अनुसार, प्रकृति-पुरुष से परे के ऐसे साधु का ज्ञान सिद्ध करके, यहीं पर होते हुए अक्षरधाम में ही हैं यह माना जाए–यही प्रार्थना।

– अगस्त, 1968

***

92

अनुग्रह - 11

'अक्षरात् परतः परः' – के अनुसार स्वामिनारायण भगवान ने वच. गढडा मध्य 28 और अंत्य 2 में स्पष्ट किया है कि गुणातीत स्वरूप के प्रति प्रगट की सर्वोपरिता और दिव्यता की निष्ठा दृढ़ करके, ब्रह्मभाव से, परात्पर पुरुषोत्तमनारायण का अखंड धारक बन कर, जीतेजी ही अक्षरधाम के अखंड सुख का अनुभव करना और प्राप्त करना चाहिए। साथ ही, भगवान के भक्त बनने में 'भगवद्‌भाव' दर्शा कर, भगवत्स्वरूप संत को जो पसंद हो वह करते रहना और उनमें दृढ़ निष्ठा वाले भक्त का संग रखना ही 'जीवनडोरी' बताया है।

आत्मबुद्धि वाला भक्त जब स्वरूप का ऐसा रहस्यज्ञान दृढ़ करता है, तब भगवान की माया और महामाया टलने से उनकी 'योगमाया' उसे परम सुखदायी सिद्ध होती है और धाम, धामी तथा मुक्तों का पृथ्वी पर उसे दिव्यरूप में दर्शन होता है।

यह सब सत्पुरुष को जीव सौंपने के बाद, एकांतिक के वचन से, सेवा और निर्दोषबुद्धि युक्त भक्ति करने वाले भक्तों के लिए फ़िलहाल अत्यंत सरल और सुलभ हो गया है। भगवदी की संगत में जड़ प्रकृति से यूं छुटकारा पाकर, भगवान से सच्चा दृढ़ संबंध स्थापित होता है और भगवान से ऐसा अपनापन होने से अंतराय मिट कर, अखंड दिव्यानंद प्राप्त होता है। वचनामृत लोया 10 के अनुसार, इस प्रकार स्वरूप की अनुवृत्ति समझने के बाद, चेतन-प्रकृति रूप में भगवान की ही दिव्यशक्ति प्रगट के उपासकों के लिए जीवन में हर प्रकार से सुखदायी होती है। यूं, अक्षरधाम की अनुभूति करते मुक्त को किसी भी प्रकार का उद्वेग, परेशानी, अभाव या विक्षेप रहता नहीं।

गुरुकृपा से ऐसी परम शांति, सुख, आनंद सभी के लिए सुलभ हो और सभी में ऐसे परम रहस्य के रहस्य को प्राप्त करने की अभीप्सा जागे व सुगमता से सभी दिव्य जीवन जी सकें यही अभ्यर्थना।

– सितंबर, 1968

***

93

अनुग्रह - 12

'जब होवे प्रभु प्राप्ति, संपन्न हुए सभी साधन, पश्चात् साक्षात् श्रीहरि रूप गुरु-संत को भजना।' इसी संदर्भ में, प्रगट के उपासकों को धाम में विराजमान प्रभु ही मुझे संत के द्वारा मिले हैं, यूं मान कर निर्दोषबुद्धि दृढ़ करके, उनके संबंध वालों के प्रति दिव्यभाव रख कर, सत्संग में निर्मानीभाव से सेवा-भक्ति की भावना को दृढ़ कर लेना चाहिए। पू. प्रेमानंदस्वामी मन और चित्त से भगवान में ओतप्रोत हो गए थे, परंतु भीतर में मूर्ति को अखंड रखने के लिए महाराज ने पृथक साधन बताए हैं (स्वामी की बात प्र. 2, 70)। इसी प्रकार, परमहंसों ने साधनभक्ति तो अत्यधिक की, परंतु प्रगट प्रभु के अंतर की प्रसन्नता पाने के साधन अलग हैं, जो प्रगट प्रभु और उनसे मिले संतों-मुक्तों में निर्दोषबुद्धि रखते हुए, किसी का दोष-स्वभाव देखे बिना, सूक्ष्मभक्ति करने के रूप में बताए हैं। यूं, बड़े पुरुष या भगवान के प्रसन्न होने पर सभी साधनों की समाप्ति होती है और जीतेजी मूर्ति का सुख मिलता है तथा वचनामृत मध्य 8 के अनुसार ज्ञानयज्ञ का भी अंत आता है।

उपरोक्त दो प्रकार की प्रसन्नता से भी अधिक, बड़े पुरुष की सैद्धांतिक प्रसन्नता उनकी 'अतिशय सेवा' से ही प्राप्त होती है। ऐसे साधक पर महापुरुष की अलग प्रकार की ही दृष्टि पड़ती है, जिससे बीज रूप स्वभाव और प्रकृति आमूल पूर्णतः निकल जाती है।

संक्षिप्त में कहें तो बड़े पुरुष की प्रसन्नता तीन बातों में है।

पहली – संबंध में आने वाले सभी - धर्मी या अधर्मी - के लिए आत्यंतिक कल्याण की रीति खुली रखती है और प्रभु का प्राकट्य सतत रख कर मुमुक्षुओं को इस मार्ग पर अग्रसर करती है।

दूसरी – प्रगट स्वरूप में दिव्यबुद्धि रख कर, उनकी मरज़ी के अनुसार भजन-भक्ति करने वाले के साधन की समाप्ति होने पर निर्दोषबुद्धि दृढ़ होती है और उसे निर्विकल्प समाधि का सुख मिलता है। लेकिन, प्रतिकूल परिस्थिति में

मूल स्वभाव अच्छे-अच्छों को डगमगा डालते हैं और मुक्तों की माया के रूप में प्रसंग खड़े होने पर बाधारूप होते हैं।

तीसरी – 'अतिशय सेवा' करने वाले पर बड़े पुरुष की दृष्टि पड़ने से उसे सैद्धांतिक प्रसन्नता प्राप्त होती है और तब मूल में बीजरूप विद्यमान वासना और स्वभाव निर्मूल हो जाते हैं और उसे मूर्ति का सुख अखंड मिलता रहता है।

गुरुहरि द्वारा बताई गई 'अतिशय सेवा' की रीति प्रगट के मुक्तों के लिए सुलभ हो, यही गुरुचरणों में प्रार्थना।

– सितंबर, 1968

94

अनुग्रह - 13

बड़े पुरुष की वाक़ई कृपा हो, तभी हम जहाँ अपनी पूर्णता या आत्यंतिक कल्याण मान बैठे हों, उस कक्षा पर बेचैनी शुरू हो जाती है। प.पू. प्रगट ब्रह्मस्वरूप योगीजी महाराज जैसे भगवान को अखंड रखे अति समर्थ पुरुष ही हमारी अपूर्णता बता सकते हैं। अन्यथा अति बड़े सिद्ध पुरुष, पंडित या विद्वान मंडलेश्वर अन्यों को सत्संग कराए भी, लेकिन जीवात्मा जब तक स्वयं ब्रह्मरूप नहीं बनती, तब तक वह परब्रह्म की सेवा का अधिकारी नहीं बन सकता। उसकी मूल वृत्ति टलती नहीं और इसीलिए विपरीत हालात या प्रसंग पर काम और मान अलग-अलग स्वरूप में प्रगट हो जाते हैं।

गुरुहरि प.पू. योगीजी महाराज जैसे सच्चे साधु पुरुष के अंतर की प्रसन्नता मिले, तभी जीवात्मा की यह कसर, त्रुटियाँ या दोष दृष्टिगोचर होते हैं और उसे हुआ अभिनिवेश मिट जाता है। केवल गुरुमुखी होकर, निर्मानीभाव से, ग़रज़मंद बन कर अति बड़े पुरुष की सेवा करने पर ही ऐसे पुरुष कृपादृष्टि करते हैं और जो वासना प्रलयकाल की अग्नि में भी भस्म नहीं होती, वह वासना ऐसे साधु के ज्ञान से-आत्यंतिक प्रलय से टल जाती है। वासना का समुंदर सूख जाता है। यूं, किसी बड़े पुरुष के संग में 'ज्ञानप्रलय का भजन' करने वाले जीव पर प्रगट सत्पुरुष कृपादृष्टि करते हैं और जीव के सनातन दोष या मोह निर्मूल हो जाते हैं।

गुरुहरि योगीजी महाराज, उनकी अनुवृत्ति के अनुसार निरंतर (पल-पल) वर्तने वाले सभी संतों, पार्षदों, हरिभक्तों पर ऐसी कृपा और दृष्टि करें–ऐसी अंतर की प्रार्थना।

– नवंबर, 1968

***

95

अनुग्रह - 14

किसी भी प्रेमी, ध्यानी और ज्ञानी की अपेक्षा मूर्तिधारक अधिक है और साधुतायुक्त एवं ब्रह्मरूप होकर वर्तने वाला अनुभवी उससे भी अधिक है। ऐसा 'चैतन्य माध्यम' बनने के लिए, बड़े (पुरुष) के वचन से जीवन जीते हुए, संकल्परहित भक्ति और निर्मानीभाव से सेवा करनी अनिवार्य है।

चैतन्यमाध्यम मूर्तिधारक हैं ही, परंतु कभी ऐश्वर्य-प्रताप या भयंकर विपरीत माहौल में वे मूर्ति जाएं और अखंड ब्रह्मरूप वर्त नहीं पाएं, असाधारण प्रसंगों में जाग्रतता नहीं रख पाए; क्रिया होने के बाद भले ही ख्याल भी पड़े, लेकिन इस दौरान मूल प्रकृति और स्वभाव झलक ज़रूर उठता है। उदाहरणार्थ अचित्यानंद ब्रह्मचारी और अन्य बड़ों को (मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामिजी) के प्रति निर्दोषभाव था, फिर भी जागास्वामी जैसे अनादि महामुक्त की झंझट में पड़े और स्वामिजी की भी अवहेलना की। यूं स्वभाव या प्रकृति आड़े आते हैं। इसे सम्यक् निर्दोषबुद्धि की कमी कहा जाए।

अनुभवी विभूतियों के समागम और महिमा से ही सम्यक् निर्दोषबुद्धि दृढ़ होती है। तभी किसी भी परिस्थिति में मतिभ्रम उत्पन्न नहीं होता और भूल नहीं होती। 'विभूति पुरुष' सदैव जाग्रत रहते हैं। यदा-कदा अतिरेक हो जाए या भक्तावतार जैसी 'विभूति' को उदासी रहे। परंतु अतंर्दृष्टि करने पर उन्हें तुरंत ही सहजता से ख्याल पड़ जाता है। वे अखंड अक्षरधाम में रह कर ही जीते हैं, इसलिए वृत्ति प्रतिलोम करते हुए अनोखी जीवनदृष्टि अपनेआप ही प्रगट रहती है। वे जो भी सेवा करवाते हैं या जो कुछ भी अंगीकार करते हैं, वह जीव को ब्रह्मरूप करने हेतु ही होता है। और तो और, महिमा समझ कर सेवा करने वाला तुरंत बल को प्राप्त करता है। यह अखंड जाग्रतता का योग (योग ऑफ सीज़लेस कॉन्सियसनेस) है।

सो, हमें तो साधुता दृढ़ करके, ब्रह्मरूप से वर्तने की आदत डाल देनी है। भगवान और भगवान के भक्त का ही गुणगान करना है। पू. बापा काफ़ी बड़ी संख्या में ऐसी विरल विभूतियाँ तैयार कर रहे हैं।

तो, रहस्यज्ञान आत्मसात् करके, प्रगट के अभिप्राय के अनुसार भक्ति करते हुए सभी को समझ में आ जाए यही प्रार्थना।

– दिसंबर, 1968

96

अनुग्रह - 15

महाराज ने वचनामृत में भगवान या भगवान के स्वरूप तथा अनादि मुक्तों के प्रगटीकरण द्वारा पामर, विषयी, मुमुक्षु और मुक्तों के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है। मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंदस्वामिजी ने अपनी बातों में कई बार बताया है कि यह रहस्यज्ञान सच्चे भगवदी के संबंध के बिना समझ नहीं सकते। एक बार दादर मंदिर में सुबह की कथा में प.पू. स्वामीबापा ने भी 12वें प्रकरण की 117वीं स्वामी की बात पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि–

रहस्य को जाने हुए सच्चे साधु के जोग के बिना इस रहस्यज्ञान को जैसा है, वैसा समझ नहीं पाते और सत्संग मिलने के बावजूद सुखी नहीं रहते।

महाराज ने वचनामृत में कृपावाक्य द्वारा राधा-कृष्ण का ध्यान करने के लिए कहा है, लेकिन ब्रह्मस्वरूप गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज ने शब्दार्थ छोड़कर भावार्थ समझाया कि इसमें *'भक्तसहित भगवान की उपासना'* बताई है। इसका भी रहस्य किसी अनुभवी द्वारा समझना पड़े कि *भक्त सहित भगवान की भावना प्रगट गुरुहरि शास्त्रीजी महाराज तथा योगीजी महाराज से जोड़ कर, उनके प्रति दिव्यभाव रखते हुए, उनकी मरज़ी में जीवन जीना है और उन्हें तनिक भी विवश नहीं करना।*

प्रगट का यह रहस्य और तात्पर्य प्रगट के अनुभवी जान सकते हैं और उन्हें शुद्ध मुमुक्षु ही पहचान सकते हैं या फिर श्रेयार्थी साधक यदि तीव्र प्रार्थना करे, तो गुरुकृपा से वह समझ सकता है।

मूल अक्षरब्रह्म ने 11वें प्रकरण की 167वीं बात में, पतिव्रता धर्म का उलटा अर्थ करने वाले को बैल के बराबर जता कर खूब डाँटा है और गुणातीतज्ञान को सिद्ध किए हुए सभी महामुक्तों को तो मानने, पूजने और उनका सेवन करने के लिए स्पष्ट कहा है। सभी जानते हैं कि इस प्रकार अनादि महामुक्त जागास्वामी तथा अनादि महामुक्त भगतजी महाराज व पू. अदाश्री जैसे सत्पुरुषों के संबंध में आए छोटे-छोटे संत पार्षद भी ब्रह्मरूप हो गए।

तो, गुरुकृपा से प्रगट और संबंध वालों में दिव्यता रख कर, जगत सहजता से ही छूट जाए और जीतेजी अक्षरधाम का सुख लेने का रहस्यज्ञान सभी के लिए सरल बने यही अभ्यर्थना।

– दिसंबर, 1968

***

97

अनुग्रह - 16

'अर्थं साधयामि वा देहं पातयामि' – के मुताबिक़ गुरुकृपा से कोई मरजीवा बने, तभी भगवान के प्रगट स्वरूप में मन अखंड निमग्न रहता है और निर्दोषबुद्धिरूपी 'अखंड वृत्ति' टिकती है।

आध्यात्मिकवाद एवं दुनिया के सभी तत्त्वज्ञान का दिव्य प्रतीक 'गुणातीतभावना' है। श्रीजी महाराज ने परमहंसों द्वारा 'अक्षरमत' का गूढ़ रहस्य प्रवर्ता कर, आत्यंतिक कल्याण हेतु पृथ्वी पर गुणातीत स्वरूप और एकांतिक मुक्तों द्वारा प्रगट रखा। यूं आत्यंतिक कल्याण सदैव के लिए खुला रखा, जिसका मूर्तिमान स्वरूप वर्तमान काल में प.पू. प्र.ब्र.स्व. योगीजी महाराज हैं।

सभी द्वंद्वों एवं मान्यताओं से परे, ऐसा निर्वासनिक - ब्रह्मरूप होकर परब्रह्म में जुड़ने का यह सिद्धांत सभी धर्मों का निचोड़ रूप है और इसीलिए अक्षरपुरुषोत्तम की उपासना ही सच में 'विश्व धर्म' बनने योग्य है।

तो, गुरु गुणातीत के इस दीक्षा दिन पर प्रगट की ऐसी निष्ठा प्रवर्तन करने का अभिप्राय, गुरुहरि के लिए युवक, पार्षद, हरिभक्त और व्रतधारी उठा लेते हैं, सो महाराज, स्वामी, अनादि महामुक्त गोपाळानंदस्वामी, पांच सौ परमहंस और गुरुपरंपरा के सभी गुणातीत स्वरूप के प्रतीक रूप प.पू. योगीजी महाराज अमाप आशीर्वाद देते रहेंगे। ऐसी एकांतिकी भक्ति सिद्ध करके, अन्य को भी करवाने वाले मुमुक्षु वर्ग तथा श्रेयार्थी साधक प्रतिज्ञा ले रहे हैं, इसलिए गुणातीतज्ञान के ऐसे वाक़ई सच्चे वारिसदारों को लाखों वंदन हैं।

संत, पार्षद, बहनें और गृहस्थ पार्षद तथा स्वामिनारायण का समग्र सत्संग समाज गुणातीतज्ञान के निर्दोषबुद्धि के इस सिद्धांत पर एक मत होकर, सभी अपनी-अपनी कक्षा में रह कर प्रगट के संबंधवाला संजीवनी महामंत्र – 'सर्व जीव हितावह' सिद्ध करवा कर इस भगीरथ कार्य को संपन्न करने की सद्भावना प्रगटाएं यही गुरुहरि से प्रार्थना।

ब्रह्मस्वरूप गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज तथा गुणातीत बाग के अनादि महामुक्त के आशीर्वाद से ऐसे सभी सत्यसंकल्प अवश्य फलीभूत होंगे – इस बारे भरोसा है। समग्र सत्संग में और देश-परदेश में ऐसी निर्दोषबुद्धि दृढ़ होती जाए और जीतेजी ही सभी अक्षरधाम का दिव्य सुख लेते हो जाएँ यही अभ्यर्थना।

– जनवरी, 1969

98

अनुग्रह - 17

गुरु गुणातीत की दूसरे प्रकरण की बात में कहा गया है कि सत्संग करने में और संग करने में बहुत फ़र्क़ है। इसीलिए समझ के भी अनंत प्रकार पड़ जाता है। इसी तरह समागम करना और साथ रहने में भी बहुत फ़र्क़ पड़ जाता है; जैसे चिचड़ी गाय की आंव में रहती है और बछड़ा दूर रहता है, फिर भी बछड़े को दूध का स्वाद आता है।

इसी प्रकार, सच्चे भगवदी की पहचान होने के बाद सत्संग करने वाला जीतेजी ही उत्तम प्रकार की समझ सरलता से दृढ़ करता है। अनादि महामुक्त जागास्वामी ने भी कहा है कि शुरुआत में संस्कार पड़ते हैं, फिर सेवा करते हुए बड़े पुरुष की कसनी में आने से आशीर्वाद मिलते हैं और तभी शुद्धभाव उत्पन्न होता है। मुमुक्षु भी उसे ही कहा है जो सच्चे साधु, संत या भगवदी को पहचान कर सेवा-भक्ति करता है। सो, भले ही (सत्पुरुष के) साथ में रहता हो, लेकिन गुण नहीं आते और यूं उन्हें पहचान कर सत्संग करने वाले को शांति, सुख, आनंद का अनुभव होता है। वचनामृत सारंगपुर 9 में महाराज ने कहा है कि 'अति सच्चे भाव' से अर्थात् अतिशय श्रद्धापूर्वक प्रमाणिकता से यदि सत्संग किया जाए, तो जीतेजी ही जीव ब्रह्मरूप हो जाता है।

प्रगट स्वरूप को वे जैसे हैं, वैसे तत्त्व से पहचानने वाले को सरलता से ऐसा दिव्य दर्शन और संबंध प्राप्त होता है। इसी प्रकार, वच. कारियाणी 11 और मध्य 28 के अनुसार, भगवदी के संग से, शुद्धभाव व सच्चे भाव से सत्संग करने वाला निकट हो या दूर, फिर भी भगवान के साथ उसका अखंड दिव्य संबंध बना रहता है और वह जीतेजी ही अक्षरधाम का सुख लेता हो जाता है।

गुरुहरि योगीजी महाराज के संबंध से ऐसी अद्भुत प्राप्ति वर्तमान समय में सभी के लिए सुलभ है। तो, उनके अभिप्राय को जानने वाले भगवदी के संग से केवल मौज रूप में अक्षरधाम की बख़्शिश का लाभ सभी जल्द से जल्द ले लें और परम शांति, सुख और आनंद पाए यही अभ्यर्थना।

– जनवरी, 1969

***

99

अनुग्रह - 18

'हीरा दिया हाथ में, समझाया सौ बार'

हीरे को पहचाने बिना उसे पत्थर समझ लिया जाता है और उसकी क़ीमत का एहसास नहीं होता। ठीक इसी प्रकार, जिसे सच्चे एकांतिक की परख नहीं होती, उसे भगवान या संत का सुख मिलता नहीं। सो, चिंतामणि समान सत्संग को छोड़ कर यदि मंदिर की क्रियाएँ, संस्थाएँ, आचार्य के ओहदे, बाड़ी-पाठशालाएँ बनाने-करने में यदि मन पिरो कर स्वभाव बढ़ाते जाते हैं, तो प्रगट मूर्ति का सुख नहीं ले सकते। फलस्वरूप, संकल्प और मनमानी क्रियाएं करने की बीमारी टलेगी नहीं। यह सैद्धांतिक बात अब प.पू. स्वामिजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) ने अनुभवज्ञान के रूप में साबित करा दी है और इसकी आत्मप्रतीति भी सभी को हो गई है।

अतः ऐसा दिव्य सुख प्राप्त करने के लिए सभी संबंध वालों को स्वरूप के सजाति बनना पड़ता है। इस हेतु भगवदी के गुरुचरणों में मन को सौंप कर, निर्दोषभाव से भजन और सेवा की लगन लगानी होती है। तब निश्चित परिणाम अवश्य आएगा।

मन का निरोध कर सकते हैं, लेकिन वह नष्ट नहीं होता। गुणातीतज्ञान में मन अमन होकर, निर्गुणभाव से चैतन्यमय वर्तता है और तब ब्राह्मीशक्ति अमाप रीति से कार्य करते हुए अहोहोभाव, विशालता, निर्भयता, स्वतंत्रता का सामर्थ्य प्रदान करके, जीव को सुखी कर देती है।

अतः बड़े पुरुष के वचन से मन के साथ सीधा ही झगड़ा मोल लेने वाला सच्चा शूरवीर कहलाता है और तब बड़े पुरुष तो उसकी सहायता के लिए प्रति पल उसके आगे-पीछे खड़े रहते ही हैं। मन की यह लड़ाई जीतने के बाद भगवान वश में हो जाते हैं और तब वह जीव अक्षरधाम का सुख भोगने लगता है।

यूं, सभी-त्यागी या गृहस्थ-गुरुदेव की ओर दृष्टि रख कर अंतर्दृष्टि करेंगे, तो खाते-पीते, चलते-फिरते, बोलते-चलते, सोते-बैठते या सेवा और क्रिया में तथा

व्यवहार व समूह में भजन-भक्ति करते हुए मन का रूप दिख जाएगा। ऐसे प्रसंग पर समता और सुहृद्भाव रख कर वर्तने वाला-सह लेने वाला प्रगति कर लेगा और तब उसे अंतर में आनंद और शांति का अनुभव होगा। जीव बलिष्ठ होकर, मूर्ति का धारक बन कर परम आनंद और शांति प्राप्त करेगा। गुरुकृपा से ऐसी महान प्राप्ति सभी को हो, यही प्रार्थना।

अतः प्राप्त हुई चिंतामणि खो न जाए, उसे कोई लूट न ले या अज्ञानता से या नासमझी में हम उसका उपयोग न करें, इस हेतु सच्चे एकांतिक को पहचान कर स्वरूप में जुड़ जाएं, तो 'भजे उनके भगवान हैं' - इस न्याय से अक्षरधाम का सुख प्राप्त करेंगे ही – यह 'गुणातीतज्ञान' खुला ज़ाहिर करता है।

– फरवरी, 1969

100

अनुग्रह - 19

गुणातीत बाग सभी शास्त्रों, सिद्धांतों, दुनिया के विभिन्न धर्मों तथा आचार्यों के सिद्धांतों तथा अनुभवज्ञान का निचोड़ है-नवनीत है। मूल सनातन तत्त्वों के रूप में, आत्मबुद्धि, साधुता और सुहृद्‌भाव जैसे दिव्य गुण प्रगटा कर, महाराज ने पाँच सौ परमहंसों तथा गुणातीतस्वरूप द्वारा 'युगल उपासना' रख कर, सदैव के लिए स्थापित किए। ब्रह्मस्वरूप शास्त्रीजी महाराज ने इसी गुणातीत भावना को अक्षरपुरुषोत्तम का साक्षात् स्वरूप गिना कर, त्यागी-गृही (गृहस्थ), भाई, बहन, सभी को जीवन में 'निर्दोषबुद्धि' के रूप में जीतेजी ही सिद्ध करवा कर अक्षरधाम का सुख लेता कर दिया।

यूं, सच्ची आध्यात्मिकता की शुरुआत, 'प्रगट भगवान' की वे जैसे हैं, वैसी पहचान से 'भक्त' की संज्ञा देकर, प्रथम सोपान के रूप में 'समता' द्वारा महाराज ने जीव का निर्गुणभाव में प्रवेश कराया। तत्पश्चात् ब्रह्मरूप होकर भगवान का अखंड धारक बनने के लिए और प्रगट स्वरूप की अपरंपार महिमा का साक्षात्कार करने के लिए, ऐसे अनुभवी भगवदियों के समागम की अनिवार्यता बताई।

देहभाव और जीवभाव बिल्कुल टाल कर गुणातीतभाव में रहने वाले ऐसे एकांतिक, प्रत्यक्ष गुरुरूप हरि के साथ स्वामीसेवकभाव से जुड़े ही होंगे और प्रगट के अल्प संबंध वालों को भी केवल 'ब्रह्म की ही मूर्तियाँ' मानते होंगे। स्वामी की बात प्र. 5 की 4, प्र. 10 की 113 तथा प्र. 12 की 42 के मुताबिक़ यदि प्रगट भगवान और उनके एकांतिकों को तत्त्व से पहचानेंगे नहीं, तो सद्‌गुण, ज्ञान, मान्यताएँ और साधन बिल्कुल अभद्र बन जाएंगे – ऐसा इस स्वरूपज्ञान के अनुभवियों और प.पू. स्वामिजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) अब स्पष्ट समझा रहे हैं।

इस प्रकार, देवकोटि, ईश्वरकोटि, अवतारकोटि, पुरुष और प्रकृति से परे की इस ज्ञानसमाधि-अखंड जाग्रतता का योग, अब प.पू. स्वामीबापा महाराज की अपरंपार महिमा का साक्षात्कार करवा कर, उनके संतों व मुक्तों द्वारा विरासत के रूप में सिद्ध करवाते जा रहे हैं।

ऐसे सनातन सिद्धांत पर काल, कर्म, माया, प्रकृति या गुण का कोई बंधन नहीं होता। जिस प्रकार, संप्रदाय का स्थूल स्वरूप छोड़ कर, उसके आध्यात्मिक स्वरूप में रह कर, ब्रह्मस्वरूप गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज ने अक्षरपुरुषोत्तम की मूलभूत नींव स्थापित की, उसी प्रकार, प.पू. स्वामिजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) के कहे अनुसार उनके इस समूह में भी उनकी स्मृति करते हुए उनसे दूर रहे या पास, परंतु गुणातीतज्ञान का यह नवनीत जो ग्रहण करेगा, उसे वो जहाँ भी होगा, वहाँ यह भावना सिद्ध होगी ही।

आध्यात्मिक विरल दिव्य विग्रह विभूति प.पू. योगीजी महाराज का हम पर यह परम अनुग्रह ही है और उसके लिए उन्हें अंतर से लाखों वंदन हैं।

स्वामिनारायण का नाम लेने वाले का दोष हमें दिखाई ही नहीं दे, ऐसी ज्ञानदृष्टि-दिव्यदृष्टि हमें उपलब्ध हो और सुहृद्भाव के सिद्धांत पर चल कर, सभी मिलजुल कर, महाराज का गुणातीतभावना का- आत्यंतिकज्ञान का संदेशा हम व्यापक रूप में सर्वत्र फैलाते रहें यही अभ्यर्थना।

– फरवरी, 1969

अनुक्रम-वर्णमालानुसार

विषय	पृष्ठ सं.
अंतर का कुरुक्षेत्र एवं सुलगते घर	84
अति बड़े पुरुष का अभिप्राय जानने की शर्तें	157
अनमोल मौका चला जाए, उससे पहले	178
‘अनाहत चक्र’ की धड़कनें	71
अनुग्रह-1	259
अनुग्रह-2	260
अनुग्रह-3	263
अनुग्रह-4	264
अनुग्रह-5	265
अनुग्रह-6	266
अनुग्रह-7	268
अनुग्रह-8	269
अनुग्रह-9	271
अनुग्रह-10	272
अनुग्रह-11	273
अनुग्रह-12	274
अनुग्रह-13	276
अनुग्रह-14	277
अनुग्रह-15	278
अनुग्रह-16	279
अनुग्रह-17	280
अनुग्रह-18	281
अनुग्रह-19	283
अफ्रीका से मुक्तराज श्री दादुभाई का पत्र	173
अभिनिवेश (यानि-भ्रमित दृढ़ कॉन्सियसनेस)	169
अमृत सरीखे सत्संग समुंदर में ज्वार-भाटा	209
अर्जुन और सुधन्वा	200

विषय	पृष्ठ सं.
अवगुण लेने का अधिकार	231
अक्षरधाम की चाबी और सम्पूर्ण सफलता	31
आत्मा, अक्षर और पुरुषोत्तम का सुख	40
आध्यात्मिक जड़ता	139
आवरण एवं विक्षेप	96
आज्ञा का फ़र्क़ एवं रहस्य	73
एकांतिक का गणित	59
कर्मयोगी के लिए माया	115
कर्मयोग और स्वरूपज्ञान युक्त कर्मयोग	161
कृपा और दृष्टि	43
कसनी सहना–देना	191
गुरुवर्य शास्त्रीजी महाराज एवं उपासना की श्रेष्ठता	250
गुरुहरि साक्षात् मूल अक्षरब्रह्म पू. योगीजी महाराज की पवित्र सेवा में	24
चमत्कार और दिव्य चेतना का अनुभव	127
जीवन, यात्रा या संग्राम ? –लौकिक और अलौकिक दृष्टि से–	55
जीव के रोग	108
डाह (असूया)	193
तत्त्वनिष्ठा और स्वरूपनिष्ठा	38
तत्त्वज्ञान, कल्याण के साधन और सत्पुरुष	142
दिव्यता का स्वानुभव एवं अक्षरमत की सर्वोपरिता	213
दिव्यता का अनुभव एवं अक्षरमत (1)	215
दिव्यता का अनुभव एवं अक्षरमत (2)	217
दैवीय और आसुरी बुद्धि	91
दृष्टिभेद	28
ध्यान की समझ	86
निर्मानीभाव का मान	223
पहचान-अफसोस-आश्वासन	15

विषय	पृष्ठ सं.
पहचाना हो जिसने स्वामिजी (गुरुहरि योगीजी महाराज) को!	181
पुराने-नए, नए-पुराने और बड़े-छोटे, छोटे-बड़े	144
प्रगटपन का भाव और बुद्धि की जड़ता	155
प्रगट स्वरूप की साधन प्रणाली का रहस्य	245
प्र.ब्र.स्व. पू. योगीजी महाराज की ज्ञानवार्ता	235
बड़े पुरुष का अभिप्राय	220
ब्रह्मचारीराज की अपूर्णताएँ एवं संत समागम	240
ब्रह्मविद्या का अधिकार	226
ब्रह्मस्वरूप भगतजी महाराज एवं असंख्य मुमुक्षुओं के लिए कल्याण रीति	117
भगवदी और एकांतिक के लक्षण	247
मन का अमन व संकल्प के स्वरूप	152
मन-मनुहार और आत्मवंचना	164
मनमानी क्रिया	229
मुक्त की माया	68
युगधर्म, स्वधर्म और ब्राह्मणत्व	196
Life and Teachings of Lord Swãminãrãyan	63
वचन की कसनी	171
व्यवहार के, मंदिर के या सत्संग के 'क्रियायोगों का आरंभ'	
स्वभाव प्रेरित या सत्य (स्वरूप) प्रेरित?	255
वासनारहित होने के उपाय– भक्ति और मुक्ति	77
विकास बहुत हुआ	175
वृत्तियों के वेग और गढपुर का उत्सव	189
वृत्तियों का गठन	113
वृत्तियों का निरोध एवं संयम	133
विपरीत माहौल और प्रारब्ध	184
'शक्तिपात'	251
श्री दादुभाई पटेल ने प्रवचन करते हुए कहा–	205

विषय	पृष्ठ सं.
श्रीजी महाराज द्वारा परमहंसों से की गई अति रहस्य की बात	147
श्रुति व स्मृति	99
संपत्ति-विपत्ति	123
सचमुच बुद्धिशाली	150
सत्संग का बॅरोमीटर	80
सत्संगी का पुरुषार्थ एवं जल में लकीरें	135
सद्‌गुरु सत्संगी	206
समता और सुहृद्‌भाव	131
सम्यक् स्वरूपदर्शन	19
स्वधर्म और सर्वोपरिता	101
स्वधर्म और स्वभाव	104
सर्वोपरि ज्ञानप्रलय – तूर्या और साम्यावस्थारूप माया –	49
सर्वोत्कृष्ट स्थान और साक्षात्कार की स्थिति	34
साकाररूप की अनुभूति	46
साधु का ज्ञान	94
सिद्धदशा के प्रकार	106
सीमा	52
क्षेत्र संन्यास	137
ज्ञानगोष्ठी का निष्कर्ष	167
ज्ञान और व्यवहार	203

श्री अक्षरपुरुषोत्तम स्वामिनारायण मंदिर

'ताड़देव', काकाजी लेन, स्वामिनारायण मार्ग, अशोकविहार फेज़-III,

दिल्ली-110 052 (भारत)   दूरभाषः 4709 1281

ई-मेईल : taaddev@ydsd.org

YouTube Channel

GET IT ON Google Play

Mobile App.

APSM

Available on the App Store